हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना

(प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध)



लेखक

डॉ० सुरेश सिनहा

एम० ए०, डी० फिल०

प्रकाशक

अशोक प्रकाशन

नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक
अशोक प्रकाशन
नई सड़क, दिल्ली—६

प्रथम संस्करण : १९६४
मूल्य : १२.५०

मुद्रक :
अशोक मुद्रण कला
दिल्ली

जिनके सपने इन पृष्ठों में साकार हुए है

उन्हीं

पूज्य पिताजी डॉ० अजयबरलाल श्रीवास्तव

एवं

श्रद्धामयी माताजी श्रीमती सन्दल देवी श्रीवास्तव

को

करुणा के समक्ष मेरा यह

शिशु विद्रोह

यह शोध-प्रबन्ध

○ ○

डॉक्टर सुरेश सिनहा, एम० ए०, डी० फिल्० का शोध प्रबन्ध 'हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना'—देखने में चाहे सीधा विषय लगता हो, परन्तु है बहुत गूढ़। डाक्टर सिनहा ने बहुत विचार और पांडित्य के साथ इस विषय का विवेचन किया है। १८५७ से १९४७ तक की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थितियों का ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से पूरा पर्यवेक्षण किया है। नारियों की स्थिति पर पूरा ध्यान रखते हुए उन्होंने विशद विवेचन किया है। इनके शोध ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में यह सब आया है। इसी में 'नई नारी' के विकास पर भी प्रकाश डाला है। दूसरे अध्याय में युग जीवन और उपन्यास, उपन्यास क्या है, मध्यवर्ग का उदय और उपन्यासों की लोकप्रियता, उपन्यास के रचना तत्व और उनमें पात्र योजना, पात्रों के चरित्र चित्रण का विकास—नारी पात्र और नारी पात्रों में नायिका की समीक्षा विस्तार के साथ की गई है। तीसरे अध्याय में नायिका की परिकल्पना के प्रमुख स्रोत एवं उद्देश्यों की चर्चा मनोवैज्ञानिक, छानबीन के साथ की गई है।

चौथे अध्याय में नायिकाओं के वर्गीकरण पर विचार किया गया है। इनमें दो वर्ग प्रमुख हैं—एक वासनात्मक, दूसरा अवासनात्मक। प्रेमिकायें, गृहस्थ नायिकायें, कृपक बालायें, वेश्यायें, नर्तकियाँ इत्यादि आई हैं। स्वाभाविक ही है। एक युग था जब वेश्याओं और नर्तकियों का ऊँचे समाज में भी बोलबाला था। पाँचवें, छठे और सातवें अध्याय में क्रमशः प्रेमिकायें, गृहस्थ नायिकायें इत्यादि पहले वर्ग में वर्णित नारियों का विवेचनपूर्ण वर्णन है। आठवें अध्याय में नायिकाओं और कुछ प्रधान नारी पात्रों के आधार पर उपन्यासकारों का नारी चित्रण सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट करने का पांडित्यपूर्ण प्रयत्न किया गया है। पूर्व प्रेमचन्द काल, प्रेमचन्द काल तथा उत्तर प्रेमचन्द काल में नायिकाओं की परिकल्पना से सम्बन्ध रखने वाले दृष्टिकोण के विकास क्रम का सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण नवें अध्याय में किया गया है। फिर उपसंहार है। डाक्टर सिनहा ने इस निबन्ध को लिखने में बहुत परिश्रम किया है। उनकी सफलता के लिए मेरी हार्दिक बधाई।

झाँसी
११-१०-६३

—वृन्दावन लाल वर्मा

भूमिका

यूरोपीय ज्ञान विज्ञान और प्राचीन भारतीय साहित्य तथा पुरातत्व विभाग की खोजों के फलस्वरूप ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जीवन को जो नव स्पंदन प्राप्त हुआ उसमें, अन्य अनेक बातों के अतिरिक्त, नारी को उच्च और आदरणीय स्थान फिर से मिला। 'फिर से' इसलिए, क्योंकि प्राचीन भारत में नारी को जो गौरवपूर्ण स्थान था वह कई कारणों से, भारतीय इतिहास के मध्ययुग से च्युत हो गया था और उन्नीसवीं शताब्दी तक आते आते नारी अनेकानेक अंध-परम्पराओं और कुरीतियों तथा अशिक्षा से सवेष्टित पशुवत जीवन व्यतीत करने लगी। उसे पुरुष की व्यक्तिगत सम्पत्ति और यौनेच्छाओं की पूर्ति के साधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझा जाने लगा था। उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रह गया था। ऐसी ही नारी पति के मृत शरीर के साथ बलपूर्वक भस्मीभूत कर दी जाती थी। इससे अधिक नारी की हीनावस्था का क्या प्रमाण हो सकता है? ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जीवन में जो नवस्फूर्ति और नवचेतना (जिसे पुनरुत्थान के नाम से अभिहित किया जाता है) उत्पन्न हुई। उसके फलस्वरूप एशिया के अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष में भी नारी को उच्च स्थान प्राप्त होना अनिवार्य था। ऐसा हुआ भी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता, बाबू गोपालचन्द्र, ने अपनी कन्याएं मिशनरी स्कूलों तक में शिक्षा प्राप्त करने भेजीं और स्वयं भारतेन्दु ने 'नीलदेवी' का आदर्श समाज के सम्मुख रखा। तत्पश्चात्, नीलदेवी' से 'ध्रुवस्वामिनी' तथा उसके बाद तक का इतिहास नारी के व्यक्तित्व के विविध पक्षों के विकास का ही इतिहास नहीं, मनोवैज्ञानिक धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि कोणों से वह उसके व्यक्तित्व को पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वस्थ प्रतिष्ठा का इतिहास है। आज अपने देश में, 'जहाँ नारी का आदर होता है वहाँ देवता निवास करते हैं' वाली उक्ति पूर्णतः तो नहीं अधिकांशतः चरितार्थ होते दिखाई देने लगी है। अब उसका मन और मस्तिष्क पराया या पति का नहीं, उसका अपना है।

उपन्यासों में पात्रों की कल्पना एक निश्चित उद्देश्य से की जाती है और इस उद्देश्य की सफलता पर ही समूचे उपन्यास की सफलता अधिकांश रूप में निर्भर करती है। अनावश्यक पात्रों की कल्पना एवं उनके असफल चरित्र चित्रण से न तो उपन्यासकार की कलात्मक कुशलता की सार्थकता ही प्रतिपादित होती है, और न उसका उद्देश्य ही पूर्ण हो पाता है। अतः पात्रों के स्वरूप निश्चित करने और उनके

चरित्र चित्रण मे पर्याप्त कुशलता अपेक्षित होती है। उपन्यासो मे पात्रो की संख्या क्या होनी चाहिए—इस पर काफी विवाद खडा किया है। चूंकि उपन्यासो का उद्देश्य मानव जीवन का पूर्ण एवं सत्य चित्रांकन करना माना गया है, अतः एक वर्ग का कहना है कि उपन्यासो मे पात्रो की संख्या कम से कम इतनी तो होनी चाहिए कि समूचे मानव जीवन का उपन्यास में यथार्थ चित्रण किया जा सके। पूर्व-प्रेमचन्द काल के कुछ सामाजिक उपन्यासो और प्रेमचन्द काल के प्राय. सभी उपन्यासो में इसीलिए पात्रो का बाहुल्य प्राप्त होता है और वे अधिकांश रूप में वर्गगत पात्र हैं, जिनकी कल्पना की पृष्ठभूमि में यह उद्देश्य निहित था कि सभी वर्गो का पूर्ण प्रतिनिधित्व हो सके और उपन्यास मे चित्रित किए जाने वाले जीवन की पूर्णता तथा यथार्थ मानव जीवन की पूर्णता मे कोई विशेष अन्तर न प्रतीत हो। पर एक दूसरा वर्ग इससे सहमत नही हुआ। उसने यह स्वीकार किया कि कुछ एक पात्रो के माध्यम से जीवन की किसी एक समस्या को लेकर उपन्यासो का सृजन करना ही अधिक उपयोगी है, साथ ही वह कलात्मकता की चरम अभिव्यक्ति भी है। इस विवाद से हट कर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यासो मे पात्रो की संख्या कथानक की आवश्यकता पर निर्भर करती है। यहां एक दूसरा प्रश्न उठता है। पात्रो की संख्या मे नारी पात्रो और पुरुष पात्रो के मध्य परस्पर अनुपात क्या हो? कहा जा सकता है कि यह अनुपात भी कथानक की आवश्यकतानुसार ही निश्चित किया जाता है। हां यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि बिना नारी पात्रो के हिन्दी मे अभी उपन्यास नही लिखे गए हैं। इसके लिए फिर वही बात दुहराई जा सकती है कि उपन्यास और मानव जीवन मे निकट सम्बन्ध होने के कारण ही उपन्यासकार यह उपेक्षा नही कर पाता। एक उपन्यासकार जब पात्रो की कल्पना करता है तो नारी का उसमे आ जाना अनिवार्य है, क्योकि नारी की अवहेलना करना जीवन की अवहेलना करना है। हिन्दी उपन्यास साहित्य नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास की क्रमिक स्थापना का ज्वलन्त प्रमाण प्रस्तुत करता है। उपन्यास साहित्य में यही विकास प्रस्तुत करना प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य है।

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के नारी-जीवन के अवांछनीय नियन्त्रणों यन्त्रणों एवं कठोर, अस्वस्थ अनुशासन के नीचे दबे हुए बोझिल और घुटन तथा आत्मव्यथा से पूर्ण वातावरण मे पुनरुत्थानकालीन वातावरण में उपन्यास साहित्य का सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर अवतरित होना आवश्यक था। उसने विभिन्न नारी समस्याओ को सशक्त रूप में प्रस्तुत कर समाज की आँखें खोलने और नारियो के दुःखमय एवं नैराश्य से परिपूर्ण जीवन मे प्रेरणा देने एवं नवीन आशाज्योति जागरित करने का अनुपम दोहरा कार्य सम्पन्न किया। आगे चल कर प्रेमचन्द काल और उत्तर-प्रेमचन्द काल में तो मात्र नारी की ही प्रेम, गृहस्थ, आर्थिक, सामाजिक एवं काम समस्याओ को लेकर स्वतन्त्र उपन्यासों की रचना की गई।

उपन्यासो में इन नारी समस्याओ को प्रधान नारी पात्रो एवं नायिकाओ के

माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। कुछ लोग प्रधान नारी पात्रो और नायिकाओं म कोई अंतर स्थापित करना नही चाहते और दोनों को एक ही मानना चाहते है। पर यह धारणा ठीक नही है। वास्तव मे प्रधान नारी पात्रो और नायिकाओ मे अन्तर है। उपन्यास मे प्रधान नारी पात्र कई हो सकते है और यह आवश्यक नही है कि कथा के सारे सूत्र उन्हीं के हाथों मे हो और फलागम की स्थिति भी उन्हे ही प्राप्त हो। पर नायिका की स्थिति इससे भिन्न होती है। "उपन्यास म नायिका एक ही होती है, कथा के सारे सूत्र उसी के हाथ मे होते हैं और फलागम की स्थिति भी उसे ही प्राप्त होती है। इस दृष्टि से उपन्यास म नायिका की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। वह समकालीन समाज म नारियो की स्थिति, उनके जीवन और समस्याओं का प्रतिनिधित्व करती है और उन्हीं के प्रतीक स्वरूप प्रस्तुत की जाती है। इन नायिकाओ की परिकल्पना पृष्ठभूमि म अनेक तत्व क्रियाशील रहते है और उपन्यासकार अपने किसी विशेष दृष्टिकोण को प्रतिफलित करने के लिए ही इन नायिकाओ का चित्रण करता है। समाज म नारियो के जितने रूप प्राप्त होते हैं पुष्ट उपन्यास साहित्य म नायिकाओ के भी उतने ही रूप प्राप्त होते है। समकालीन समाज म नारी की स्थिति का इस वर्गीकरण पर यथेष्ट प्रभाव पडता है।

इस शोध प्रबन्ध के लिखे जाने से पूर्व अभी तक हिन्दी साहित्य मे नायिकाओं का अलग से कोई अध्ययन नही प्रस्तुत किया गया था। जो कुछ अध्ययन हुआ भी था वह स्फुट रूप मे था या सभी नारी पात्रो का था, और वह भी केवल चरित्र चित्रण की दृष्टि से। नायिका किसे कहते हैं, नायिका की परिभाषा क्या होनी चाहिए नायिका की परिकल्पना क्या की जाती है, उसका स्वरूप किस प्रकार निर्धारित होता है और उनका वर्गीकरण किन आधारो पर किया जाता है आदि कुछ ऐसे मौलिक प्रश्न थे, जिन पर इन स्फुट अध्ययनो म कोई ध्यान नही दिया गया था। वास्तव म ये स्फुट अध्ययन किसी उपन्यासकार के अध्ययन या किसी विशेष उपन्यास की आलोचना के रूप म विद्यार्थियो के उपयोग की दृष्टि से किए जाते थे। जिनम मात्र नारी पात्रो का अन्य पात्रो की भाँति चरित्र चित्रण कर दिया जाता था और जो भी नारी पात्र थोडा महत्वपूर्ण प्रतीत होता था, उसे ही नायिका स्वीकार कर लिया जाता था। इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा के कारण 'गोदान' मे धनिया और मालती दोनो को ही नायिका मान लिया जाता है। अन्य उपन्यासो मे भी नायक की पत्नी या प्रेयसी होने मात्र से ही उन्हें नायिका मान लिया जाता है, चाहे कथानक के सगठन मे उनका कोई महत्वपूर्ण स्थान हो या न हो, फलागम की स्थिति उन्हे प्राप्त हो या न हो। इस प्रकार अभी तक एक अवैज्ञानिक अध्ययन पर ही सारी मान्यताए निश्चित की जाती रही हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध हिन्दी उपन्यास साहित्य के एक महत्वपूर्ण अंग का प्रथम मौलिक एव वैज्ञानिक अध्ययन है।

अनेक वर्षो से मैं उपन्यास साहित्य मे इस महत्वपूर्ण अध्ययन के अभाव को अनुभव कर रहा था, और चाहता था कि इस पर कोई विद्यार्थी शोध कार्य सम्पन्न

कर सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित सामग्री प्रस्तुत करे। सुरेश सिनहा प्रारम्भ से ही मेरे प्रिय छात्र रहे हैं और प्रारम्भ से ही कथा साहित्य की ओर उनकी विशेष रुचि थी। शोध-कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व ही उनकी अनेक कहानियाँ और उपन्यास प्रकाशित होकर काफी लोकप्रियता भी प्राप्त कर चुके थे। मैं उनके यथार्थवादी चित्रण, जीवन के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण एवं मानव मूल्यों को प्रतिष्ठित करने की उनकी प्रयत्नशीलता तथा उनके सृजनात्मक कार्यों से अत्यन्त प्रभावित था। अतः जब उन्होंने मुझसे इस महत्वपूर्ण विषय पर शोध कार्य करने की अनुमति माँगी, तो मुझे कोई संकोच नहीं हुआ और मैंने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ उन्हें सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी। श्री सुरेश सिनहा अत्यन्त अध्यवसायी लेखक हैं और साहित्य में उनका गहन अध्ययन है। दो वर्षों के अल्पकाल में ही उन्होंने यह सारा शोध-कार्य इतने सुव्यवस्थित ढंग से कर लिया है, जो स्तुत्य है। मुझे उन पर गर्व है उनका यह अध्ययन नितान्त मौलिक एवं वैज्ञानिक है, जो हिन्दी साहित्य के एक बहुत बडे अभाव की पूर्ति करता है। मुझे हार्दिक प्रसन्नता, साथ ही संतोष भी, कि मेरे अत्यन्त प्रिय छात्र द्वारा यह कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय ढंग से सम्भव हो सका है। श्री सुरेश सिनहा ने कथा साहित्य में नए हस्ताक्षर जोडने वालों में अपना महत्वपूर्ण स्थान पहले ही बना लिया है। मुझे आशा है अपनी इस प्रवृति से वे वैज्ञानिक शोध समीक्षा के क्षेत्र में भी अपना उल्लेखनीय स्थान बना लेंगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी जगत में इस महत्वपूर्ण कृति का समुचित स्वागत होगा। प्रियवर सुरेश सिनहा मेरे बधाई के पात्र हैं।

हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी,
इलाहाबाद।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

आत्म-कथन

आधुनिक काल मे भारतीय नारियो ने जितनी प्रगति की है, अपने सामाजिक एव राजनीतिक अधिकारो के लिए उन्होने जो महान सघर्ष किया है, वह मानवीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। वास्तव मे नारियो से ही मानव जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है। बिना नारी के पुरुष अधूरा है उसका जीवन अपूर्ण है। १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे जब हिन्दी उपन्यास साहित्य का आविर्भाव हुआ तब भारत मे नारियो की स्थिति बहुत अच्छी न थी और पाश्चात्य देशो की नारियो की अपेक्षा वे अत्यधिक पिछडी हुई थी। भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही धीरे धीरे भारतवासियो मे नवीन चेतना का उदय हुआ पुनरुत्थान की भावना का जन्म हुआ, और नारियो की शोचनीय स्थिति की ओर लोगो का ध्यान जाने लगा। स्वय नारिया ही अपनी हीनावस्था और अपने अधिकारो के प्रति सजग होने लगी। उपन्यासकार इस स्थिति से प्रभावित हुए बिना नही रह पाए, और उन्होने उपन्यासो मे नारियो की स्थिति का चित्रण कर उनके सुधार की दिशा मे उपन्यासो के माध्यम से कार्य करना प्रारम्भ किया। इसी के परिणामस्वरूप अनेक नारी पात्रो के साथ उपन्यासो मे नायिकाओ की परिकल्पना की जाने लगी।

समाज मे, फलत साहित्य मे नारी की स्थिति का उपन्यास के माध्यम द्वारा अध्ययन करना प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का उद्देश्य है। अभी तक हिन्दी मे इस प्रकार का कोई अध्ययन प्रस्तुत नही किया गया है। जो प्रयत्न इस दिशा मे हुए भी है वे केवल स्फुट रूप मे ही हैं, और वह भी नारी पात्रो के अध्ययन के रूप मे। किन्तु सामान्य नारी पात्र और नायिका मे अन्तर होता है। नारी पात्र समस्या को तीव्र रूप प्रदान करने और नायिका के चरित्र को प्रकाशित करने के लिए ही होते हैं। कथानक मे उनका गौण स्थान होता है कभी कभी प्रमुख भी होता है, पर नायिका के हाथो मे कथानक के सारे सूत्र होते हैं और वह कथानक का सचालन करती है।

इसलिए नारी की परिवर्तित परिस्थिति का जितना अच्छा परिचय हम नायिका के अध्ययन द्वारा प्राप्त कर सकते हैं उतना सामान्य नारी पात्रो के अध्ययन द्वारा नहीं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इस दिशा की ओर किसी भी भारतीय अथवा विदेशी भाषा मे सर्वप्रथम शृखलाबद्ध एव मौलिक प्रयास है जिसमे नायिकाओ की परिकल्पना सम्बन्धी तत्वो के वैज्ञानिक विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है।

यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि यहाँ नायिका का वही अर्थ ग्रहण किया गया है, जो अंग्रेजी भाषा में (Heroine) शब्द का है। वैसे नायक की पत्नी या प्रेमिका को भी नायिका की संज्ञा दी जाती है। उदाहरणस्वरूप "गोदान" में धनिया, "कर्मभूमि" में सुखदा, "वरदान" में विरजन, "कंकाल" में तारा, "गिरती दीवारें" में चन्दा, "स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी" में रमा तथा लक्ष्मी, "चन्द हसीनों के खुतूत" में नर्गिस, 'गढ़कुंडार' में तारा तथा "विराटा की पद्मिनी" में कुमुद ऐसी ही नारी पात्र हैं, जो सामान्यतः नायिकाएं मानी जा सकती हैं, पर नायिका की जो परिभाषा ऊपर दी गई है, उसके अनुसार यदि इन नारी पात्रों का अध्ययन किया जाए, तो यह स्पष्ट होगा कि न तो उन्हें कथानक की अन्तिम परिणति ही प्राप्त होती है, और न कथानक के समस्त सूत्र ही उनके हाथों में रहते हैं। वे केवल नारी पात्र हैं, नायिकाएं नहीं। इसीलिए इस शोध-प्रबन्ध में उन पर विचार नहीं किया गया है।

जहाँ तक सामान्य नारी पात्रों की परिकल्पना के स्रोत का सम्बन्ध है, यह अवश्य है कि उनकी कल्पना उन्हीं भावनाओं से की गई है, जिस रूप में नायिका की, और नारियों के एक वर्ग का प्रतिनिधित्व ही करती प्रतीत होती हैं, पर उनका चित्रण नायिका रूप में नहीं किया गया है, यह निर्विवाद है। नायिका सम्बन्धी कल्पना का वास्तविक रूप सुनीता, कल्याणी, चित्रलेखा तथा जालपा आदि में प्राप्त होता है। "गबन" (१६३०) में प्रारम्भ के कुछ अंशों में अधिक महत्त्व नहीं रहता, जब रमानाथ कलकत्ता भाग जाता है, तो सारा उपन्यास जैसे जालपा में ही सिमट आता है, और जैसे अकेली ही सारे कथानक का नेतृत्व करती है। वह सारे कथानक पर एक प्रकार से छाई रहती है, इसीलिए उसे नायिका मान लिया गया है।

इस शोध-प्रबन्ध में प्रारम्भ से १६४७ तक का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ठाकुर जगमोहनसिंह के उपन्यास "श्यामा-स्वप्न" (१८८८ ई०) की नायिका श्यामा और श्री वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास "कचनार" (१६४७ ई०) की नायिका कचनार इस अध्ययन के दो छोर हैं। १६४७ में ही देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, और भारतीय इतिहास का महत्वपूर्ण काल—ब्रिटिश-काल समाप्त हो जाता है। इस दृष्टि से भी प्रस्तुत अध्ययन को १६४७ तक सीमित रखना उचित जान पड़ा। शोध-प्रबन्ध के प्रारम्भ में पृष्ठभूमि के रूप में १८५७ से १६४७ तक की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के विस्तृत सिंहावलोकन के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार पुनरुत्थान काल में नारियों की स्थिति में परिवर्तन हुआ है, और वे आलोच्य काल के उपन्यासों की नायिका बनी। इसके पश्चात् उपन्यासों की पात्र योजना में नारी पात्र और नारी पात्रों में नायिका तथा उसकी परिभाषा पर विचार किया गया है। नायिकाओं की परिकल्पना के प्रमुख स्रोत तथा उनके वर्गीकरण पर आगे के दो अध्यायों में विवेचन किया गया है। उन हिन्दी उपन्यासों की नायिकाओं का, जो ऊपर दी गई परिभाषा के अनुरूप हैं, उन

पर तीन अध्यायों—प्रेमिकाएं, गृहस्थ नायिकाएं तथा अन्य नायिकाओं में विचार किया गया है। इससे उपन्यासों का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण यद्यपि काफी स्पष्ट हो जाता है, फिर भी कुछ ऐसे प्रधान नारी पात्रों का अध्ययन करना समीचीन जान पड़ा, जिनके द्वारा उपन्यासकारों के नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण को समझने में यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए आठवें अध्याय में नायिकाओं तथा अन्य प्रधान नारी पात्रों के आधार पर हिन्दी उपन्यासकारों के नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण का स्पष्ट कर अध्ययन को पूर्ण करने का प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय में अध्ययन को और भी व्यापक बनाने की चेष्टा की गई है और उन्हें निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया गया है—सुधारवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण, आदर्शवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण, रोमांटिक परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण, आदर्शों मुख यथार्थवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण, समाजवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण व्यक्तिवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण, तथा मनोविश्लेषणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण। अतः इस आठवें अध्याय में १९४७ तक के उन सभी पूर्व प्रेमचन्द, प्रेमचन्द और उत्तर प्रेमचन्द कालों के प्रमुख उपन्यासों की चर्चा की गई है, जिनके प्रधान नारी-पात्रों में उपन्यासकारों का नारी चित्रण सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है। पर एक बात अवश्य ही स्पष्ट रूप से कहनी है कि आठवें अध्याय में वर्णित नारी पात्र नायिकाएं नहीं वरन् प्रधान नारी पात्र ही हैं।

एक बात और रह जाती है। हिन्दी के कुछ तथाकथित आलोचक (या संग्रहों का सम्पादन करने वाले तथा नोटस बुक लिखने वाले गुट्टबाज?) नायिकाओं और प्रधान नारी पात्रों में कोई अन्तर नहीं मानते। उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा यह मानती है कि उपन्यासों के सभी नारी पात्र समान होते हैं, चाहे वह "कायाकल्प" की लौंगी हो, या 'त्यागपत्र" की मृणाल। आज हिन्दी में आलोचना के नाम पर जो घास भूसा वाला साहित्य भरा जा रहा है, उस पर इन साहित्यिक पंडों का अभिमान है मैं घृणा और असंतोष से उनका अभिवादन करता हूं (!) उनकी बुद्धि पर तरस आता हूँ।

इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में श्रद्धेय आचार्य डा० लक्ष्मीसागर जी वार्ष्णेय का पांडित्य निर्देशन और पुत्रोचित प्रोत्साहन ही विशेष रूप से क्रियाशील रहा है। पग पग पर राह में आने वाली कठिनाइयों का समाधान कर, अपने स्वयं के पुस्तकालय से पुस्तकें देकर, अन्यत्र स्थानों से दिलाकर, उन्होंने अपनी व्यस्तता के बहुमूल्य क्षणों में भी समय निकालकर इस शोध प्रबन्ध का एक एक शब्द पढ़ा है, और कुशल शिल्पी की भांति इस प्रस्तर प्रतिमा को मूर्तिमान करने में अपनी कला प्रदर्शित की है। इस प्रबन्ध की अच्छाइयाँ उनकी हैं, बुराइयाँ मेरी हैं, जिन्हें मैं अपनी धृष्टता के कारण स्वीकार नहीं कर सका। मैं पूज्यनीया मम्मी श्रीमती राज वार्ष्णेय द्वारा पिलाये गये गरम-गरम काफी के प्यालों को कभी नहीं भूल सकूंगा,

जिनकी मीठी-मीठी चुस्कियाँ लेते-लेते इस प्रबन्ध का मैटर मैंने अपने निर्देशक डॉ० वार्ष्णेय जी से 'डिस्कस' किया था। आज की हिन्दी आलोचना जिनके कन्धे पर टिकी हुई है, और जिन्हें अपने निर्देशक के रूप में पाकर कोई भी छात्र थिसिस लिखने की वैज्ञानिक पद्धति ही नहीं अपितु विषय के गहन् विश्लेषण एवं चिन्तन मनन की प्रेरणा प्राप्त कर सकता है, उन्हीं डा० वार्ष्णेय जी को अपने थीसिस के ही नहीं, जीवन निर्देशक के रूप में पाकर मैं गर्व का अनुभव करता हूँ। हाँ, मम्मी जी से जरूर चाहूँगा, जब-जब इलाहाबाद आता रहूं, मुझे कॉफी के वही प्याले मिलने चाहिए, जिनसे सोंधी-सोंधी महक वातावरण में घुलती रहे।

प्रसिद्ध उपन्यासकार डॉ० वृन्दावन जी वर्मा का मैं हृदय से कृतज्ञ हूं, जिन्होंने अनेक अमूल्य सुझाव देकर तथा समय-समय पर प्रेरणा देकर मुझे संकट के क्षणों से उबारा है। डॉ० श्री कृष्ण लाल (हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी) तथा डॉ० इन्द्रनाथ मदान (पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़) का उनके अमूल्य सुझावों के लिए अनुगृहित हूँ।

प्रो० रामजी लाल श्रीवास्तव, श्रीमती ललिता श्रीवास्तवा, श्रीमती स्नेह सिनहा, श्री मानिकचन्द जायसवाल और भाई अमरीक सिंह कलसी एम० ए० (शोध-छात्र, हिन्दी, प्रयाग विश्वविद्यालय) का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस प्रबन्ध के लिखे जाने एवं टाइप कराने में मुझे अनेक सहायता दी है। अपने प्रकाशक श्री जगदीश जी का भी आभारी हूँ, जिन्होंने बड़े उत्साह के साथ पुस्तक अल्प समय में ही इसे सुन्दर ढंग से प्रकाशित की है। उन सभी लेखकों, जिनकी पुस्तकों तथा पुस्तकालयों से सहायता ली गई है, मैं कृतज्ञ हूँ।

—सुरेश सिनहा

कल्पना
१६ पुरुषोत्तम नगर
हिम्मत गंज, इलाहाबाद-३
रविवार १८ अगस्त, १९६३।

अध्याय १

पूर्व-पीठिका

(१८५७–१९४७)

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना[1]

ईसा की १८वीं और १९वीं शताब्दियों में किस प्रकार उत्तर-मुगलकालीन अराजकतापूर्ण परिस्थितियों में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने व्यापारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर क्रमशः अपनी दूरदर्शिता, कुशल नीति एवं परस्पर वैमनस्य का लाभ उठा कर अपना शासन स्थापित कर लिया, यह भारतीय इतिहास की एक ऐसी महत्वपूर्ण, साथ ही सामान्यतः सर्वविदित घटना है, कि उसका यहाँ विस्तृत विवरण करना न केवल पिष्टपेषण होगा, वरन प्रस्तुत शोध प्रबंध के विषय की दृष्टि से अनावश्यक भी। जो बात हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, वह यह है कि ईसा की १८वीं-१९वीं शताब्दियों में मुगलों, सिक्खों, जाटों, मराठों आदि की भारतीय राजनीतिक शक्तियाँ आपस में एकता स्थापित कर विदेशियों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने में असमर्थ रहीं, और देश में एक ऐसी जाति का शासन स्थापित हुआ, जो अपने यहाँ की औद्योगिक क्रांति से प्रेरित आर्थिक एवं साम्राज्यवादी नीति से प्रेरित थी। पिछले शासकों की भाँति उसने भारतवर्ष को अपना घर नहीं बनाया था। फलतः देश राजनीतिक दृष्टि से ही पराधीन नहीं हुआ वरन् आर्थिक दृष्टि से भी उसकी दशा दिन-पर-दिन शोचनीय होती गई। भारतवासियों का १८५७ ई० का प्रयास विफल हो जाने के पश्चात् अंग्रेजों की राजनीति और आर्थिक नीति खूब फली फूली। उनके पैर अच्छी तरह जम गये और देश में एक ऐसी शासन प्रणाली का जन्म हुआ जो अनेक अंशों में पिछली शासन प्रणाली या परम्परागत भारतीय शासन प्रणाली से नितांत भिन्न थी।

---

१ देखिये—

(क) जे० एन० सरकार—लेटर मुगल्स, (१९/१), कलकत्ता

(ख) थॉम्पसन और गरेट—राइज एंड फुलफिलमेंट ऑव ब्रिटिश रूल इन इंडिया, (१९ ५), लन्दन।

(ग) सर पी० ग्रिफिथ—द ब्रिटिश इम्पैक्ट ऑन इंडिया (१९५२), लंदन।

एक शासन व्यवस्था को समाप्त कर उसके स्थान पर दूसरी शासन व्यवस्था की स्थापना के पश्चात् प्रत्येक दिशा मे परिवर्तन होना स्वाभाविक है। भारत मे भी ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ ही भिन्न दिशाओं मे परिवर्तन एवं नवीन व्यवस्था लक्षित हुई। यहाँ की विशृंखल शिक्षा-व्यवस्था मे परिवर्तन, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रचलन, समाचार-पत्रो का प्रकाशन, नवीन आर्थिक संगठन आदि इसी शासन व्यवस्था मे परिवर्तन के परिणाम थे। पर इस परिवर्तन की पृष्ठभूमि में भारत की स्थिति सुदृढ करने अथवा भारत का निर्माण कर एक कल्याणकारी राष्ट्र का रूप प्रदान करने की भावना नही, वरन् स्वय अपनी शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ता प्रदान करने एवं अपने निजी स्वार्थो को पूर्ण करने की भावना क्रियाशील थी। ब्रिटिश अधिकारियो पर शासन का जो महती उत्तरदायित्व था, उसके सफल निर्वाह के लिए ही उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र मे परिवर्तन करने की योजना बनाई थी।

नवीन शिक्षा

परिवर्तन की दिशा में प्रथम चरण शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन था। मुगल शासन के पतन के पश्चात् देश में कोई केन्द्रीय शासन सत्ता न थी। कम्पनी का शासन स्थापित होने और उसकी व्यवस्था सुदृढ होने मे अनेक वर्ष लग गये। इस बीच शिक्षा व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान नही दिया जा सका, और प्रारम्भ में कम्पनी के अधिकारियो की भी इस दशा मे विशेष रुचि न थी। शिक्षा प्रसार के फलस्वरूप चेतना के प्रसारण से अमरीका मे ब्रिटिश शासन समाप्त हो चुका था। कम्पनी के अधिकारियों को भारत में भी इस घटना की पुनरावृत्ति की आशंका थी, अत. शिक्षा प्रसार के प्रति उदासीन रहना ही उन्हे श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। कम्पनी ने १७९१ मे कलकत्ता मे एक फारसी मदरसा तथा काशी मे एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना कर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझा। बाद मे ब्रिटिश पार्लियामेंट ने

१—पिछले पृ० से आगे का—

(घ) आर० सी० मजूमदार एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑव इंडिया, (१९५३), लंदन।

(ङ) जे० रैम्जे म्योर मेकिंग ऑव ब्रिटिश इण्डिया, (१७५६ से १८५८ तक), मैनचेस्टर, १९०४।

(च) डब्लू० ए० जे० आर्चबोल्ड. आउट लाइन्स ऑव इण्डियन कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री, (१९२६), लन्दन।

(छ) ए० यूसुफ अली. द मेकिंग ऑव इन्डिया, (१९२५), लन्दन।

(ज) ए० यूसुफ अली. ए कल्चरल हिस्ट्री ऑव इन्डिया, (१९४०), लन्दन।

(झ) प० जवाहरलाल नेहरू—हिन्दुस्तान की कहानी, (१९४७), इलाहाबाद।

(ट) पट्टाभिसीतारमैया: कांग्रेस का इतिहास, (१९४६), दिल्ली।

(ठ) मोहनदास कर्मचन्द गांधी: आत्मकथा, (१९५२), दिल्ली।

१८३१ मे प्रथम बार भारत मे शिक्षा के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित करते हुए शिक्षा प्रणाली के पुनर्गठन के लिए एक लाख रुपया स्वीकृत किया। स्पष्ट है कि भारत जैसे बड़े देश के लिए इतनी कम राशि सन्तोष प्रद न थी। परिणामस्वरूप शिक्षा-प्रसार के सम्बन्ध मे शासन द्वारा अपनी चिन्ता प्रकट करने के अतिरिक्त कुछ भी प्रगति न हो सकी, पर यह स्थिति शीघ्र ही परिवर्तित हुई। सन् १८३५ ई० मे लार्ड मैकाले ने एक योजना प्रस्तुत कर भारतीय स्कूल और कालेजो मे शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी कर देने का सुझाव दिया, जिसे सरकार ने तुरन्त ही स्वीकार कर लिया। इससे अंग्रेजी के महत्व मे वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त उस समय सरकारी नौकरियों मे अंग्रेजी शिक्षित व्यक्तियों का ही प्रवेश सम्भव था, जिसके कारण भी अंग्रेजी के पठन-पाठन के प्रति भारतवासियों की रुचि विकसित हुई। परिणामस्वरूप अंग्रेजी स्कूलों की संख्या मे शीघ्र ही वृद्धि हुई। १८५४ तक भारत मे १५४ अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना हो चुकी थी। अंग्रेजी शिक्षा प्रसार को राजा राम मोहनराय (१७७४-१८३३ ई०) से भी बल प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने एक मित्र डविड हेयर के साथ कलकत्ता मे एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की, जिसमे अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हुए अंग्रेजी शिक्षित लोगो को तैयार किया गया। यह क्रम धीरे धीरे सारे देश मे फैलता गया[1]। इस प्रकार यद्यपि भारत मे नवीन शिक्षा प्राय १८वी शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गई थी, पर उसकी प्रगति वास्तव मे १९वी शताब्दी मे ही प्रारम्भ हुई।

ब्रिटिश अधिकारियों की शिक्षा प्रसार की यह भावना शासन व्यवस्था मे अधिकाधिक शिक्षित व्यक्तियों को स्थान देकर अपनी स्थिति सुदृढ करने की चिन्ता पर ही आधारित थी। ज्यो ज्यो उनके प्रशासन का क्षेत्र बढता जा रहा था, इगलैड से शिक्षित व्यक्तियों को लाकर उन्हे शासन-व्यवस्था का भार सौपना सम्भव न रह गया था। उच्च पदो पर और अन्य उत्तरदायी पदो पर तो उन्होने अंग्रेजो को स्थान प्रदान किया था, पर उन्हें अधिक संख्या मे शिक्षित क्लर्क चाहिए थे[2]। इसलिए भारतीयो को शिक्षित कर अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने की योजना बनाई और अंग्रेजी शिक्षा प्रसार के प्रति अपनी अत्यधिक रुचि प्रदर्शित की। अत यह स्पष्ट है कि इस रुचि मे सदभावना नही, वरन् स्वार्थ पूर्ति की इच्छा थी। १८५४ ई० मे चार्ल्सवुड ने सरकार के सम्मुख एक योजना प्रस्तुत कर प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। अभी तक प्राथमिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नही दिया जाता था, और कॉलेजो मे ही अंग्रेजी शिक्षा के प्रचलन पर जोर दिया जाता था। १८८२ ई० मे हटर कमीशन ने भी प्राथमिक शिक्षा पर बल देते हुये प्राइवेट स्कूलो

---

१ सर जॉन कमिंग द्वारा सम्पादित माडर्न इंडिया ए कोओपरेटिव सर्वे, (लन्दन १९३१), पृ० १२२

२ मेह्यू, ऐजूकेशन ऑव इंडिया, (१९२६ ई०), लन्दन, पृ० २०-२१

की आर्थिक स्थिति सुधारने एवं उन्हें अधिक राजकीय अनुदान देने की सिफारिश की। इन दो महत्वपूर्ण सुझावो से भारत मे शिक्षा प्रसार कार्य को सहायता मिली। सरकार द्वारा यथेष्ट सख्या मे स्कूल और कॉलेजो की स्थापना तो सम्भव न थी, हाँ प्राइवेट स्कूलो को अधिक आर्थिक अनुदान प्रदान किये जाने के परिणामस्वरूप प्राइवेट स्कूलो की स्थापना अधिक संख्या मे होने लगी।

सन् १६१६ ई० मे प्रथम बार गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी मे एक शिक्षा-सदस्य की नियुक्ति की गई, जिसके ऊपर विभिन्न प्रान्तों की शिक्षा सम्बन्धी नीति के समन्वय का उत्तरदायित्व था। इसी वर्ष प्रातो मे अलग-अलग शिक्षा विभागो की स्थापना की गई और उनका सचालन-भार पृथक शिक्षा-मन्त्रियों के ऊपर सौंपा गया[1]। इस नवीन व्यवस्था से शिक्षा का प्रसार और भी उचित ढग से होने लगा तथा स्कूल, कॉलेजो मे विद्यार्थियो की संख्या बढने लगी। सन् १६२६ ई० मे विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो की सख्या बढकर ६०, ००० हो गई थी। १६२६-३० ई० मे लगभग २००० भारतीय विद्यार्थी इगलैंड मे विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, तथा अन्य पश्चिमी देशो मे भारतीय विद्यार्थियो की सख्या लगभग ३०० थी, जिनमें केवल सयुक्त राज्य अमरीका मे २०० भारतीय विद्यार्थी थे[2]।

शिक्षा-प्रसार मे ब्रिटिश अधिकारियों की उदासीनता के अतिरिक्त स्वयं कट्टर भारतवासियो द्वारा शिक्षा प्रसार का विरोध भी भारत में शिक्षा सम्बन्धी प्रगति में बाधा स्वरूप उपस्थित हो रहा था। इसके कारण स्पष्ट थे। भारतीय समाज मे व्याप्त रूढियो को छिन्न-भिन्न करना एवं शताब्दियो से चली आ रही परम्पराओ को मिटाना सरल न था। इसमे प्रमुख कठिनाई यह भी थी कि यह कार्य उन विदेशियो द्वारा प्रारम्भ किया गया था, जिन्हे भारतीय कट्टरता अत्यन्त घृणित समझती थी और उनके प्रत्येक कार्य सन्देह एवं अनिष्ट की आशंकापूर्ण दृष्टि से देखे जाते थे। पर जब इस महत्वपूर्ण अनुष्ठान में भारतीय नेताओं ने भी अपना सहयोग

१—ए० युसुफ अली. ए कल्चरल हिस्ट्री ऑव इंडिया (१६४० लंदन, पृ० ०१६।

२—सर जॉन कमिंग द्वारा सम्पादित–मॉडर्न इंडिया : ए कोआपरेटिव सर्वे (१६३१), लंदन, पृ० १३४।

—"पर भारत की जनसंख्या के अनुपात मे विद्यार्थियो की यह संख्या फिर भी बहुत कम थी, और शिक्षित व्यक्तियो की संख्या विशेष संतोषप्रद न थी। सन् १६४१ मे भारत मे विश्वविद्यालयों की सख्या १८, डिग्री कॉलेज २३०, इन्टर कॉलेज १८८, हाई स्कूल ३,६३७, मिडिल स्कूल ४७८६, तथा प्राइमरी स्कूलों की संख्या १, ३४००० ही थी, जो बहुत कम थी, तथापि तत्कालीन परिस्थिति, शिक्षा प्रसार के प्रति उदासीनता एवं क्लर्क मात्र उत्पन्न करने की दिशा मे शिक्षा प्रणाली के संगठन के अनुसार यह संख्या भी यथेष्ट थी। (देखिये—मेह्यू. ऐजूकेशन ऑव इंडिया, (१६२६), लन्दन, पृ० ४०-६०)।"

प्रदान करना प्रारम्भ किया एवं सर्वत्र घूम घूम कर शिक्षा की उपयोगिता जनता को समझाने की चेष्टा की, तो शिक्षा प्रसारण का कार्य अत्यन्त सुगम हो गया और धीरे धीरे चेतना की नई लहर भारतवासियों में प्रसारित होने लगी।[1] पश्चिमी विचारधारा से सम्पर्क स्थापित होने पर उन्होंने देखा कि विदेशों में लोग किस प्रकार दमन एवं अत्याचार का विरोध कर साहसपूर्ण संघर्ष से अपनी दासता की शृंखलाएं छिन्न भिन्न कर अपने अपने देशों का नवनिर्माण कर रहे हैं। स्वाधीनता की आवश्यकता पर पाश्चात्य विचारकों चिन्तकों एवं राजनीतिज्ञों की बातें जब भारतीय युवकों तक पहुँची तो उनमें एक प्रकार से नव जागृति हुई और वे अपने अधिकारों के प्रति सजग हुए। शिक्षा के इस प्रसार से तर्क शक्ति का भी विकास हुआ और भारतीयों के मन में विदेशियों द्वारा शासन किए जाने के अधिकार की बात भी उत्पन्न होने लगी।[2] उनमें यह विचार शीघ्र ही पनपने लगा कि इतने विशाल देश पर मुट्ठी भर विदेशियों को शासन करने का कोई अधिकार नहीं है। तब उन्हें अपने अतीत के गौरव जीवन की गरिमा और अपने जन्म सिद्ध अधिकारों का स्मरण हुआ और वे तन मन से स्वाधीनता आन्दोलन को अग्रसर करने में लग गए। इस प्रकार नवीन शिक्षा प्रसार भारतीय दृष्टि से सौभाग्यशाली ही सिद्ध हुआ और ब्रिटिश दृष्टिकोण से दुर्भाग्यपूर्ण, क्योंकि जिस भय की आशंका से वे आक्रान्त थे, अन्ततोगत्वा वह आग चलकर घटित होना प्रारम्भ ही हुआ।

नवीन वैज्ञानिक आविष्कार

नवीन शिक्षा के प्रसार द्वारा देश में जिस नवीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना का उदय हो रहा था उसमें नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। उत्तर-मुगलकाल में विज्ञान अथवा यान्त्रिक आविष्कारों का भारत में कोई महत्व न रह गया था, और सामान्य लोग इनसे सर्वथा अपरिचित ही थे। पर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचलन भी हुआ। अठारहवीं शताब्दी में सम्पूर्ण विश्व में विज्ञान ने आशातीत सफलता प्राप्त की। वाष्प एवं विद्युत शक्तियों के आविष्कार से नित नए यन्त्रों का निर्माण होने लगा। रेल, मोटर, ट्राम, पनडुब्बियां, हवाई जहाज और तार आदि के आविष्कार विश्व के लिए सर्वथा नवीन थे और शीघ्र ही विश्व में वैज्ञानिक आविष्कारों का जाल सा बिछ गया। विदेशों में मानवीय

१ "In the first place, the influence of the caste system interposed an effective barrier between the classes traditionally concerned with learning and the masses of the population so that until political developments within very recent years convinced the intelligentsia of the necessity of educating the masses to take part in politics they passed on them nothing of the new learning." एल० एफ० रशब्रुक विलियम्स: व्हाट एबाउट इंडिया, (१९३९) लन्दन पृ० ९२।

२ ए० युसुफ अली: ए कल्चरल हिस्ट्री ऑव इंडिया, (१९४०), लन्दन पृ० २२१।

जीवन विज्ञान पर पूर्णतया अवलम्बित हो चुका था, पर तब भी भारत इससे वंचित था। ब्रिटिश अधिकारियों ने भारत में नित नए होने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचलन न होने देने के लिए भरसक प्रयत्न किया, क्योंकि उन्हें भय था कि भारत में इससे नव-चेतना अत्यन्त शीघ्रता से प्रसारित होगी, और उस परिस्थिति में उन्हें भारत में अपना शासन बनाए रखना प्राय: असम्भव सा होगा। अत: उन्होंने भारत में वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रचलित न होने देने की भरसक चेष्टा की[1] पर प्रकाश की रश्मियों को रोक पाना सम्भव नहीं है।

इस दिशा में भारत में प्रेसों का आगमन एक महत्वपूर्ण घटना थी। यद्यपि प्रारम्भ में व्यक्तिगत रूप से प्रेसों की स्थापना को प्रोत्साहित नहीं किया गया, किन्तु स्वयं सरकार का ही प्रशासन कार्य इतना अधिक विकसित हो गया था, कि बिना प्रेस की सहायता से उसका कार्य सरलता से चल पाना कठिन सा हो गया था। अत: विवश हो अधिकारियों ने कलकत्ता, मद्रास एवं अन्य स्थानों पर प्रेसों की स्थापना की। प्रथम व्यक्तिगत प्रेस बप्टिस्ट पादरियों ने श्रीरामपुर में स्थापित किया था। भारतीय भाषाओं में मुद्रण करने वाला सबसे पहला प्रेस डा० केरी ने १७९८ ई० में स्थापित किया, पर प्रकाशन के क्षेत्र में वास्तविक प्रगति १८४० ई० के पूर्व न हो सकी। सन् १८४० ई० तक सम्पूर्ण भारत में यथेष्ट मात्रा में व्यक्तिगत प्रेसों की स्थापना हो चुकी थी। प्रेसों द्वारा साहित्य की प्रगति हुई और अच्छी पुस्तकों का प्रकाशन अब भारत में भी सुलभ हो गया। अभी तक इन पुस्तकों का प्रकाशन न हो पाने के कारण भारतवासी केवल उन्हीं पुस्तकों को पढ़ पाते थे, जो अंग्रेजों की कृपा से भारत में आ पाती थी। किन्तु शीघ्र ही विदेशों के महान् साहित्यकारों, चिंतकों एवं विचारकों की श्रेष्ठ पुस्तकों का अनुवाद भारत में होने लगा और प्रकाशित होकर उनकी बिक्री में भी वृद्धि हुई। इससे लोगों में पठन-पाठन की रुचि का प्रसार हुआ और चेतना के विकास के साथ ही भारतीय साहित्य की भी प्रगति हुई।

शिक्षा के प्रसार एवं नव-जागरण में पत्रों का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा।

---

१. पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "हिन्दुस्तान की कहानी", (१९४७), इलाहाबाद, के पृ० २८३ पर एक ऐसी ही मनोरंजक घटना का उल्लेख किया है। एक बार हैदराबाद के निजाम ने एक विलायती मशीन देखने की अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट की। उस पर वहाँ के तत्कालीन रेजीडेंट ने उसके लिए एक मुद्रण-यंत्र और एक वायु पम्प की व्यवस्था कर दी। निजाम की क्षणिक उत्सुकता शान्त हो जाने पर ये चीजें एक ओर कर दी गई, पर जब कलकत्ते की सरकार ने यह सुना तो उसने रेजीडेंट के प्रति अपना क्रोध प्रकट किया और एक भारतीय रियासत में मुद्रण-यंत्र चलाने पर तो विशेष रूप से फटकारा। इस पर रेजीडेंट ने सरकार की इच्छा पर उन चीजों को तुड़वा देने का विचार भी प्रकट किया था।

प्रारम्भ में समाचार पत्र यद्यपि केवल अंग्रेजों की प्रशंसा, उनके उठने-बैठने, उत्सवों एवं अन्य कार्यक्रमों की सूचना तक ही सीमित थे, पर शीघ्र ही उनका तानाबाना परिवर्तित हुआ, और उन्होंने जनता के समक्ष विदेशों की क्रांति के महत्वपूर्ण तथ्य एवं पश्चिमी विचारकों के उबलते विचार प्रस्तुत किए जिससे अन्धकार में भटकती जनता को नवीन दिशा प्राप्त हुई और वह शिक्षा के प्रति उदासीन न रह शिक्षा के अधिकाधिक प्रसार में अपना उत्तरदायित्व समझने लगी।[1]

इनमें अनेक समाचार पत्रों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था।[2] इन सभी

१ ए० युसुफ अली ए कल्चरल हिस्ट्री आव इंडिया, (१०६०), लंदन, पृ० २१८।

२ राजा राम मोहन राय और महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर, दोनों ही अपने विचारों के प्रचार के लिए समाचार पत्र निकालते थे। १८३० के लगभग 'द रिफॉर्मर" भारतीयों द्वारा संचालित प्रथम अंग्रेजी समाचार पत्र था, जो राजाराममोहन राय के सम्प्रदाय में प्रकाशित होता था। १८४६ में काशी प्रसाद घोष (१८०६-१८७३) ने "द हिंदू इन्टेलीजेन्सर" नामक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया तथा १८४६ में एंग्लो-बंगाली पत्रकारिता के प्रमुख सूत्रधार गिरीशचन्द्र घोष ने "द बंगाल रिकॉर्डर" नामक समाचार-पत्र निकाला। १८८२ में डा० शम्भू चन्द्र मुकर्जी ने कलकत्ता से एक अत्यन्त प्रभावशाली पत्र "रईस और रैयत" प्रकाशित किया। इसी बीच वह लखनऊ के ताल्लुकेदार संघ के सहायक सचिव नियुक्त कर लिए गये और वहाँ से एक नए समाचार पत्र "समाचार हिन्दुस्तानी" का सम्पादन किया। महात्मा शिशिर कुमार घोष (१८६२-१९११) और उनके भ्राता मोतीलाल घोष (१८४५-१९२२) ने १८३८ में मुफस्सल से सर्वाधिक प्रमुख और बहु-प्रचारित पत्र 'अमृत बाजार पत्रिका" निकाला, जो बाद में १८७२ में कलकत्ते से प्रकाशित होने लगा। यह पत्र पहले प्रान्तीय भाषा में प्रकाशित होता था, पर बाद में जब सरकार ने प्रान्तीय भाषाओं में प्रकाशित समाचार पत्र सम्बन्धी अधिनियम अत्यन्त कठोर कर दिए, तो १८७८ से अंग्रेजी में प्रकाशित होने लगा। १८७८ में ही मद्रास से दो उत्साही युवकों मि० सुब्रामनियम ऐयर और मि० एम० वी राघवाचार्य ने एक साप्ताहिक पत्र "द हिन्दू" निकाला, जो १८८३ से सप्ताह में तीन बार और १८८६ से दैनिक रूप में प्रकाशित होने लगा। श्री बाल गंगाधर तिलक ने १८८० में पूना से "द मराठा केसरी" निकाला। १८३८ में बम्बई से "द बॉम्बे टाइम्स" का प्रकाशन प्रारम्भ हो चुका था जो १८६१ से 'द टाइम्स ऑव-इंडिया' के नाम से प्रकाशित हो रहा था। इसके अतिरिक्त देश के प्रायः सभी भाषाओं में अनेक संख्या में समाचार पत्र प्रकाशित हो रहे थे और उनकी संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी।

ए० युसुफ अली ए कल्चरल हिस्ट्री ऑव इंडिया, (१९४०), लन्दन, पृ० २२१।

समाचार-पत्रो से शिक्षा के प्रसार एव राष्ट्रीयता के विकास में बड़ी सहायता प्राप्त हुई। इनके माध्यम से राजनीतिक नेता विश्व के अन्य देशों में स्वाधीनता प्राप्ति के होने वाले संघर्ष, क्रान्ति, आर्थिक प्रगति, नवनिर्माण एवं अपने जीवन को सुखी एवं समृद्धशाली बनाने के उपायो से परिचित होते रहते थे, तथा राजनीतिक क्षेत्र मे अपनी कार्य-प्रणाली उसी के अनुरूप निर्मित करते थे। इन समाचार पत्रो ने भारत-वासियो को उनके वास्तविक अधिकारो के प्रति सचेत करते हुए भारत पर अंग्रेजो द्वारा अनाधिकार रूप से शासन करने का विरोध किया। धीरे-धीरे जब शिक्षित युवकों की संख्या बढने लगी तो उनमें तीव्र चेतना उत्पन्न हुई, और अपनी वास्तविक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति को सोचने-समझने की शक्ति भी आई।

प्रेसो की स्थापना की भाँति भारत मे रेलो का आगमन भी कम महत्त्वपूर्ण न था।[1] १९वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे यातायात के साधनो की भाँति डाक-तार की भी व्यवस्था पूर्णतया असतोषजनक थी। डाक वितरित होने की देशी प्रणाली पिछडी हुई थी। डाक वितरण करने वालो को पैदल ही कार्य करना होता था। जहाँ ऐसा सम्भव न था, वहाँ घोडा गाड़ियों से काम लिया जाता था, तथा निश्चित दूरी के पश्चात् उनकी सवारी बदल दी जाती थी। इससे एक पत्र के बंटने मे एक सप्ताह से भी अधिक लग जाता था। १८३६ ई० मे भारत में कुल २७६ डाकखाने ही थे, पर धीरे-धीरे अंग्रेजो ने डाक-व्यवस्था मे सुधार किया, जिससे देशी जीवन एकता के सूत्र मे बधा और देश के सुदूरवस्थित स्थानों से समाचार प्राप्त करने में सुविधा प्राप्त हुई। तार की व्यवस्था सन् १८५४ ई० मे प्रथम बार स्थापित की गई। कलकत्ते से आगरे तक उसी वर्ष पहली तार लाइन स्थापित की गई। इसी के कुछ समय पश्चात् टेलीफोन की व्यवस्था भी भारत मे की गई। बिजली, मोटर, रेडियो आदि अन्य दैनिक जीवन में उपयोग आने वाली वस्तुएं भी समय-समय पर भारत मे प्रचलित होती गई।

१. सन् १८५३ ई० मे जी० आई० पी० रेलवे ने थाना और बम्बई के मध्य अपनी प्रथम शाखा की स्थापना की थी और १८५४ ई० मे ईस्ट इण्डियन रेलवे ने कलकत्ते से ३७ मील तक रेलवे लाइन खोली थी। १८५७ ई० मे मद्रास से अर्काट तक रेलवे लाइन खोली गई। १९४७ ई० में धीरे-धीरे भारत मे रेल पथ की कुल लम्बाई ४२,००० मील थी। भारत मे रेलों के आगमन से जन-जीवन मे अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। यद्यपि प्रारम्भ मे सरकार ने रेलो को अपने कठोर नियंत्रण मे रखा, और उसका एकमात्र उद्देश्य अपने माल तथा अपनी सेना को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजना था। इसमे उनका व्यक्तिगत स्वार्थ निहित था, पर आगे चलकर इससे भारत के औद्योगीकरण, सुधारवादी आन्दोलनों और राष्ट्रीयता के प्रसार एवं एकीकरण मे विशेष सहायता प्राप्त हुई।

इस प्रकार भारत में यद्यपि वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचलन बहुत बाद में हुआ, तथापि एक बार प्रारम्भ होने पर उसमें निरन्तर प्रगति ही होती गयी। जिस समय भारत में वैज्ञानिक आविष्कारों का आगमन हुआ, उस समय वह कदाचित् विश्व का सर्वाधिक पिछड़ा देश था। उस समय तक विश्व के अन्य देश अत्यन्त प्रगतिशील हो चुके थे और विज्ञान उनके लिए दुर्गम न रह गया था। इन नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रचलित हो जाने से भारतीय जीवन की अनेक कठिनाइयाँ स्वतः समाप्त हो गई। रेलों के आगमन से लोगों को अपने देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाने का अवसर प्राप्त हुआ, और वे विभिन्न प्रकार के लोगों तथा विचारों के सम्पर्क में आए। इससे एक प्रकार से सारा देश एक दूसरे के विचारों से सम्बद्ध हो गया और भावनात्मक एकता का विकास हुआ। यातायात के साधनों में सुधार हो जाने एवं डाक-तार व्यवस्था के प्रचलन से लोगों को तुरन्त अपने देश के प्रत्येक भाग में होने वाली घटनाओं की सूचना प्राप्त होती रहती थी और देश एकता के सूत्र में आबद्ध हो गया था। विभिन्न भागों की सांस्कृतिक परम्पराओं विचारों एवं विभिन्न लोगों के सम्पर्क में आने से विचारों का आदान प्रदान प्रारम्भ हुआ और संस्कृतियों में भी आदान प्रदान हुआ। इससे नव-जागरण आन्दोलन को बड़ा बल मिला, और साथ ही साहित्य एवं कला की आशातीत प्रगति हुई। भारतीय साहित्यकारों ने उच्चकोटि के प्रगतिशील विदेशी साहित्यकारों से प्रेरणा ग्रहण कर भारत में प्रगतिशील जन साहित्य की रचना प्रारम्भ की। साहित्य के क्षेत्र में जो अनेक धाराएं और प्रवृत्तियाँ बाद में प्रचलित हुईं वे विदेशी साहित्य की ही प्रेरणा स्वरूप ग्रहण की गयी हैं। इस प्रकार इन वैज्ञानिक आविष्कारों का भारत में प्रचलन हो जाने से भारतवासियों को चतुर्दिक लाभ हुआ और उनमें नवीन प्रगतिशील भावनाएं स्वतः विकसित होने लगीं। दैनिक जीवन में परिवर्तन होने और नए विचारों तथा लोगों के सम्पर्क में आने से लोगों की कट्टरता समाप्त होकर परम्परागत रूढ़ियाँ समाप्त होने लगीं। उदाहरण के तौर पर वैज्ञानिक आविष्कारों के पूर्व विलायत का जाना भारतवासियों के लिए एक अप्रत्याशित बात थी और वे इसे धर्म विरुद्ध मानते थे। पर धीरे धीरे यह भावना समाप्त होती गयी और लोग विदेशों में जाकर वहाँ की राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन कर उनके स्वाधीनता आन्दोलन की मुख्य बातों से परिचित हो स्वदेश लौटे, और उन्होंने उन नवीन विचारों से भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को नवीन दिशा प्रदान की।

नवीन आर्थिक संगठन

यद्यपि भारत में कम्पनी का आगमन व्यापारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के पश्चात् हुआ था, तथापि आगे चल कर यहाँ की शासन व्यवस्था का सूत्र जब कम्पनी के अधिकारियों के हाथों में आ गया तो उन्होंने यहाँ की अधिकाधिक सम्पदा लूट कर अपने देश में ले जाने की एकमात्र योजना का अवलम्बन किया। वास्तव में यहाँ

का धन-धान्य देख उनके मन मे इस सीमा तक लोभ व्याप्त हो गया कि साधारण सी नैतिकता भी वे प्रदर्शित न कर सके। थॉम्पसन और गैरेट ने अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ मे भारत की सजा एक ऐसे पेगोडा वृक्ष से दी है, जो उस समय तक बार-बार हिलाया गया, जब तक कि वह पूर्णतया नष्ट नही हो गया। अंग्रेजो के मस्तिष्क मे धन के प्रति इतना लोभ उत्पन्न हो गया था कि क्लाईव और पिजारो युग के स्पेनवासियो के समय से आज तक कदाचित् उसकी पुनरावृत्ति नही हुई। भारत मे प्रारम्भ के कुछ वर्षो तक ब्रिटिश शासन का इतिहास विश्व मे राजनीतिक छल का सबसे बड़ा उदाहरण है।[१] परिणाम-स्वरूप भारत की आर्थिक परिस्थिति दिन-प्रतिदिन अत्यन्त शोचनीय होती गयी। इंगलैण्ड मे औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् अधिक संख्या मे मिले स्थापित हो गयी थी, तथा उनकी कच्चे माल के प्रति माँग निरन्तर बढ़ती जा रही थी। इगलैण्ड स्वय उस माँग की पूर्ति करने में असमर्थ था, अत. ब्रिटिश अधिकारियो ने भारत एव अन्य अपने शासनाधीन देशों से अधिकाधिक कच्चा माल इगलैण्ड की मिलों को भेजना प्रारम्भ किया। इसका भारत की आर्थिक अवस्था पर गहरा प्रभाव पडा और आर्थिक सुदृढ़ता की रही सही आशा भी खंडित हो गयी। स्वार्थपरक दृष्टिकोण यही समाप्त नही हुआ, ब्रिटिश अधिकारियों ने ऐसी नीति का अवलम्बन किया, जिसके अनुसार इगलैण्ड से जो चीज भारत आती थी वह कर-मुक्त रहती थी, अत. उसके मूल्य भी कम रहते थे। इसके विपरीत भारत से जो चीजें अभी तक विदेशों को भेजी जाती थी, उन पर इतना अधिक कर लगाया कि इनका मूल्य बढ जाना स्वाभाविक ही था, अतः इनकी माँग भी समाप्त हो गयी। इससे भारतीय व्यापार पूर्णतया नष्ट तो हो ही गये, विदेशी मालों की अधिकाधिक खपत भारत मे होने लगी, जिससे राष्ट्रीय आय का वह भाग, जो भारत मे ही रह सकता था, विदेशों को जाने लगा। कम्पनी अधिकारियों ने भारत के लघु-उद्योगो, कृषि व्यवस्था को भी प्रोत्साहन नही दिया। कृषि का ढग अंग्रेजों के 'प्रगतिशील' राज्य मे वही प्राचीन था, जिससे प्रतिदिन उपज मे कमी होती जा रही थी। फसलो की रक्षा की वैज्ञानिक एव आधुनिक प्रक्रियाएं भारतीय कृषकों को नही बताई जाती थी। खेतो मे विभाजन होता जा रहा था, और आपसी वैमनस्य एवं संयुक्त परिवारो के टूटने के कारण उनकी सीमाएं लघुतर होती जा रही थी। कृषि के विकास के लिए कोई उपाय नही किए जाते थे। सरकार केवल लगान वसूली तक ही अपने को सम्बन्धित रखना चाहती थी। कृषकों के ऊपर उनके दमन एवं अत्याचारो में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। इसका परिणाम भयंकर हुआ। कृषकों के ऊपर

१. थॉम्पसन और गैरेट: राइज एण्ड फुलफिलमेंन्ट ऑव ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, (१९३५), लन्दन, पृ० २३२।

ऋण का भार बढ़ता गया। देश में भीषण निर्धनता व्यापक रूप से फैल गई¹ और भारतीयों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई।

१८५८ ई० में जब भारत में कम्पनी का शासन समाप्त हुआ, और भारत ब्रिटिश पार्लियामेंट के शासन के अन्तर्गत आया तो स्थिति में नाम मात्र को परिवर्तन हुआ। सरकार ने आर्थिक सुधारों की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया, और भारतीयों द्वारा स्थापित किये जाने वाले बड़े बड़े उद्योगों पर अपनी आपत्ति एवं नियन्त्रण में ढील दी, जिससे भारतीयों में कुछ उद्योग-धन्धे अपने प्रयत्नों से स्थापित कर भारत की आर्थिक व्यवस्था को कुछ सीमा तक सुदृढ़ बनाने की भावना को बल मिला। इसी काल में जे० एन० टाटा ने भारत में अनेक मिलें स्थापित कर भारत के औद्योगीकरण करने का प्रयत्न किया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही यातायात की स्थिति में अपेक्षाकृत सुधार होने से खानों की खुदाई का कार्य भी प्रारम्भ हुआ। १८५५ ई० में एक अंग्रेज उद्योगपति ने हुगली के किनारे सर्वप्रथम एक जूट मिल की स्थापना की। १८६० ई० में मशीनों के आयात पर जो चुंगी लगाई गयी थी, हटा ली गयी। इसके परिणामस्वरूप औद्योगीकरण के मार्ग की एक प्रमुख बाधा का स्वतः निराकरण हो गया और बम्बई तथा अहमदाबाद में भारतीय पूंजी और नियन्त्रण में कपड़े की अनेक मिलों की स्थापना हुई। यद्यपि भारतीय उद्योगपतियों को उचित रूप से प्रोत्साहन अभी भी प्राप्त नहीं हो रहा था, पर औद्योगीकरण की दिशा में प्रयास जब प्रारम्भ हो गए थे तो उन्हें रोक सकना सहज सम्भव न था। भारतीयों द्वारा उद्योग-धन्धों का अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी स्थापित किए जाने की पृष्ठभूमि में दो शक्तियाँ प्रमुख रूप से क्रियाशील थीं। प्रथम, उनके सम्मुख आर्थिक लाभ का प्रश्न तो था ही, पर सबसे महत्वपूर्ण चीज थी, कि वे अपने देश की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने की भावना से भी प्रेरित थे। दूसरे, इंगलैण्ड की नियन्त्रण की नीति समाप्त हो चुकी थी, जिसका कारण था, कि व्यापार में इंगलैण्ड को इतना अधिक लाभ हो चुका था कि उसे अब वहाँ के औद्योगीकरण विकास में लगाने से विशेष लाभ न दृष्टिगोचर हुआ, और उन्होंने यह शामाद भारत के आर्थिक सुधार में लगाने का निश्चय किया। इस नीति परिवर्तन में इंगलैण्ड का चाहे जो भी स्वार्थ निहित रहा हो, भारत को इससे लाभ ही हुआ। १९१८-१९ में सरकार ने भारत की औद्योगिक स्थिति की जाँच करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की जिसकी मुख्य सिफारिश थी कि भारतीय उद्योग धन्धों

1 "It must be stated frankly that the widespread poverty of the Indian people impresses all observer. The great majority of Indians live in a way which would be quite impossible in a more rigorous climate, and their appearance strikes the observer as pitiable poor, depressed and melancholy."—एस० एफ० राश्रुक विलियम ह्वाट एबाउट इण्डिया?, (१९३९), लन्दन, पृ० १५९।

की रक्षा के लिये भारत मे बनने वाले मालों को कर-मुक्त कर बाहर से आने वाले माल पर कर लगाना चाहिये, तथा विदेशी पू जी का भारत मे अनियमित प्रवेश होना चाहिए। आर्थिक कमीशन की सिफारिशो के अनुसार भारत सरकार ने 'टैरिफ बोर्ड' की स्थापना की, जिसमें भारतीय सदस्यों को भी स्थान प्राप्त हुआ। इसके सिफारिशों के अनुसार लोहे और फौलाद के उद्योग-धन्धो को सहायता प्रदान कर उन्हें संरक्षण भी प्रदान किया गया, जिससे औद्योगीकरण की दिशा मे यथेष्ट प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

१९३७ में प्रान्तीय स्वाधीनता प्राप्त होने पर लोकप्रिय सरकारो ने भी इस दिशा मे गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने प० जवाहर लाल नेहरु की अध्यक्षता मे एक राष्ट्रीय योजना समिति की स्थापना की, पर दुर्भाग्यवश कोई विशेष कार्य करने के पूर्व ही द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध की आवश्यकताओ से भी भारत के औद्योगिक विकास को बहुत बल प्राप्त हुआ। अस्त्र-शस्त्र गोला-बारूद, बिजली के तार तथा युद्ध की अन्य आवश्यक सामग्रियों के लिए सरकार ने विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे स्थापित किए। द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के पश्चात् ६ अप्रैल १९४५ को सरकार ने अपनी नवीन आर्थिक नीति घोषित की, और यह स्पष्ट किया कि बडे-बडे उद्योग धन्धो, जैसे इंजन निर्माण के कारखानों, लोहा, कोयले की खानो, रासायनिक पदार्थो का उत्पादन करने के कारखानों तथा मशीन-पुर्जे रेडियो तथा जहाज निर्माण करने वाले कारखानों पर सरकारी नियंत्रण होगा। अन्य उद्योग धन्धो को स्वतन्त्र रूप से प्रारम्भ किए जाने की अनुमति प्रदान की गई। इस महत्वपूर्ण घोषणा का प्रभाव हितकर सिद्ध हुआ। इससे छोटे-मोटे उद्योग-धन्धो को प्रारम्भ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। उद्योगधन्धो के अतिरिक्त आगे चल कर कृषि की स्थिति मे भी पर्याप्त सुधार करने का प्रयत्न किया गया। भारत मे वर्षा की अनिश्चित स्थिति के कारण प्राय. दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी, और कृषको की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो रही थी। सरकार ने कृषकों की स्थिति मे सुधार लाने के लिए कृषि-कमीशन की नियुक्ति १९२६ ई० मे की और अनेक नहरो का निर्माण किया। १९३१ ई० तक भारत में नहरो की लम्बाई कुल मिलाकर ७५००० मील थी, जो उस समय विश्व मे सबसे बड़ी नहर व्यवस्था थी, और उससे ३३ लाख एकड खेतो की सिंचाई होती थी।[1] पर भारत जैसे विशाल देश को यह स्थिति भी विशेष सतोषप्रद नहीं थी, वह विश्व में भले ही अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती हो। एक विचित्र बात यह थी कि जहाँ तो एक ओर कृषि-व्यवस्था मे सुधार लाने के प्रयत्न किए जा रहे थे, दूसरी ओर जमींदारी प्रथा को भी प्रोत्साहन प्रदान किया जा रहा था। पहले उन्होंने जिन लोगो को माल-

---

१ एल० एफ० रश्ब्रुक विलियम : व्हाट एबाउट इन्डिया ?, (१९३१), लन्दन, पृ० १२२।

गुजारी वसूल करने का उत्तरदायित्व सौंपा, वस्तुत उनकी कोई अलग सत्ता न थी, और वे एक प्रकार से अंग्रेजों की सी ही मनोवृत्ति के लोग थे। उन्हें इतने प्रचुर मात्रा में अधिकार प्रदान किए गए थे कि थोड़े ही दिनों में वे जमींदार हो गए। जमीन और उपज पर से लोगों का अधिकार समाप्त हो गया था। अब तक उस समूची जाति के लिए जो विशेष हित या विशेष स्वार्थ था, अब वह इस नए जमीन के स्वामी की निजी सम्पत्ति हो गई। इससे ग्राम जीवन के परस्पर सहयोग की व्यवस्था टूट गई और धीरे धीरे सहयोगपूर्ण काम और सेवा की व्यवस्था भी गायब होने लगी।[1] भारतीय कृषि की स्थिति में सुधार लाने के लिए सबसे आवश्यक था कि कृषि की वैज्ञानिक प्रणाली का प्रचलन किया जाय और कृषि-शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार किया जाय। वैज्ञानिक प्रणाली पर कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न लॉर्ड कर्जन के समय में हुआ। सन् १९०४ ई० में पूसा में कृषि अनुसंधानशाला (इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑव ऐग्रीकल्चर) की स्थापना की गई। लॉर्ड कर्जन ने ही १९०५ ई० में प्रथम बार उचित रूप से कृषि विभाग का पुनर्गठन किया तथा कृषि विज्ञान की शिक्षा के लिए अनेक स्कूल खोले। इन सब सीमित सुधारों का लाभ यह हुआ कि नवीन वैज्ञानिक प्रणाली का उपयोग करने में धीरे-धीरे लोगों की हिचक समाप्त होती जा रही थी, और लोग कृषि की अवस्था सुधारने के लिए सजग हो रहे थे।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि गत ८० वर्षों में भारत में आर्थिक व्यवस्था में जो थोड़ा बहुत सुधार हुआ है, वह ब्रिटिश अधिकारियों के प्रोत्साहन देने के फलस्वरूप ही हुआ है।[2] वे ही देश के शासक थे और सारा नियन्त्रण भी उन्हीं के हाथ में था। उन्होंने जरा भी नियन्त्रण कम किया तो भारतवासियों ने औद्योगिक विकास का पूर्ण प्रयत्न किया। परिणाम स्वरूप उस प्रगति की गति कितनी भी मंद क्यों न रही हो, धीरे धीरे देश में आर्थिक क्रान्ति की लहरें उमड़ रही थीं और

१ प० जवाहरलाल नेहरू हिन्दुस्तान की कहानी, (१९४७) इलाहाबाद, पृष्ठ ३७४।

२ "The story of trade and industry of India in the last eighty years—the period of its close association with the British crown has been one of almost uninterrupted advance, marked primarily by the attainment of a world wide trade and in the present century by a determined effort to develop industry on modern lines In both stages the British connexion has been vital It rendered the first possible by the pacification opening and development of the country It rendered the second possi- ... the force of example, and ... कर्मिंग द्वारा सम्पादित मॉडर्न ... दन, पृष्ठ २८५।

भारतीय आर्थिक विकास एवं नवीन आर्थिक संगठन के प्रति प्रयत्नशील हो रहे थे, जिससे भारत का आर्थिक ढाचे के इस परिवर्तन से एक ऐसे मध्यम वर्ग का जन्म हुआ, जिस पर अंग्रेजी शिक्षा का सर्वाधिक प्रभाव था, और भारत की दासता की शृंखलाओं को छिन्न-भिन्न करने के लिए जो सर्वाधिक कटिबद्ध था।

परम्परा के प्रति असंतोष

ऊपर जिन नवीन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है, उनसे भारतीय जीवन का प्रभावित होना अवश्यभावी था.जीवन जहाँ था,वहीं न रह सकता था भारतवासियों के विचारादर्शो, फलतः उनके व्यक्तित्व मे परिवर्तन हुआ। वैसे तो ब्रिटिश अधिकारियों ने कभी भारत के वास्तविक कल्याण की बात नही सोची। वे जो कुछ भी परिवर्तन करते थे, उनमे उनका अपना निजी स्वार्थ निहित रहता था। कम्पनी यहाँ शासन करने नहीं, व्यापार करने आई थी। पर परिस्थितियों के चक्र ऐसे निर्मित होने गए, कि यहाँ उसका पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। जब कम्पनी को यहाँ शासन भी करना पड़ा, तो उसकी नोच-खसोटों और लूटमार की प्रवृत्ति में और भी वृद्धि हो गई। इससे भारत की स्थिति और भी संकटपूर्ण हो गई, क्योंकि लूट-मार की जिस नीति का कम्पनी के अधिकारी अवलम्बन कर रहे थे, वह भारत के लिए नितान्त रूप से भी हित-प्रद न थी। एडम स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "वेल्थ ऑव नेशन्स" (१७७६) में कदाचित् इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर कहा था कि एकमात्र व्यापारियों की कम्पनी का शासन कदाचित् किसी देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य होता है, और भारत को इस दुर्भाग्य से निकलने में वर्षों लग गए। कम्पनी के अधिकारियों के दमन एवं अत्याचार तथा देश का निर्माण करने के बजाय ध्वंस कर देने के कुचक्र की स्वाभाविक प्रतिक्रिया भारतीय जनता पर हुई, पर इस प्रतिक्रिया को क्रियात्मक रूप ग्रहण करने मे वर्षों लग गए। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही जैसे भारतवासियों की नींद टूटी और उनमें अपने देश को इन विदेशियों के दमन और अत्याचार से मुक्त करने की भावना पनपने लगी। इसमे पश्चिम की प्रगतिशील भावना का भी यथेष्ठ-प्रभाव पड़ा।[१] इसके अतिरिक्त जापान सदृश छोटे से राष्ट्र द्वारा शक्तिशाली रूस को पराजित करके अपने यहाँ वैधानिक राज्य-प्रणाली स्थापित करना, तथा टर्की के क्रान्तिकारी नेता मुस्तफा कमालपाशा द्वारा अपने यहाँ धार्मिक तथा सामाजिक रूढियों को समाप्त कर प्रगति की ओर निरन्तर बढते रहने का प्रयास आदि ने भारतवासियों मे पर्याप्त उत्तेजना उत्पन्न कर दिया था, और उन्होंने अपनी परम्पराओं को तोड स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया।

सन् १७७६ ई० मे अमरीका की स्वाधीनता प्राप्ति भी उसी सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण घटना थी वहाँ अंग्रेजों ने अपने धर्म, अपनी शिक्षा को जबर्दस्ती लादने,लोगों को उनके अधिकारों से पूर्णतया वंचित करने, तथा निर्दयतापूर्ण अमानुषिक व्यवहार

१ जे० रेम्जे मैकडोनाल्ड- द अवेकेनिंग ऑव इंडिया, (लंदन), पृष्ठ १०५।

करने की परम्परा को बनाए रखना।[1] पर यह स्थिति स्थायी न रह सकी, और वहाँ शीघ्र ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। भारत ने धीरे धीरे जो करवट बदली, उस पर इन घटनाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा। वास्तव में भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना मात्र इस कारण हुई कि वे बड़ी बड़ी मशीनों और औद्योगिक संस्कृति के अग्रणी थे।[2] वे एक ऐसी ऐतिहासिक शक्ति के प्रतिनिधि थे, जो शीघ्र ही संसार में आमूल-चूल परिवर्तन लाने वाली थी। स्वयं अंग्रेज इससे अपरिचित थे कि वे परिवर्तन एवं क्रान्ति का नेतृत्व करने जा रहे हैं, और आने वाली नवीन संस्कृति और वातावरण की भूमिका निर्मित कर रहे हैं। वे तो केवल स्वार्थवश भारत में परिवर्तन करते जा रहे थे, पर उसी के साथ जाने अनजाने उनके परिवर्तनों से भारत में नवीन चेतना का उदय हो रहा था, और रूढ़िवादी परम्पराओं के प्रति असंतोष उत्पन्न होता जा रहा था। उन्होंने शिक्षा प्रणाली में जो सुधार किए, भारत का जो नवीन आर्थिक संगठन किया, एवं वैज्ञानिक आविष्कारों का जो प्रचलन किया, उससे भारतवासियों को लाभ भी हुआ।[3] इससे उनके विश्वासों को बल प्राप्त हुआ और अत्याचारों से संघर्ष करने की प्रेरणा तथा अपने को स्वाधीन करने की भावना को शक्ति प्राप्त हुई।

इसके परिणाम-स्वरूप जिस नयी चेतना का उदय हुआ उससे भारतवासियों को नवीन प्रकाश प्राप्त हुआ, और तब उन्होंने अपने को जिस स्थान एवं स्थिति में पाया, उन्हें खेद ही नहीं घोर आश्चर्य भी हुआ कि विश्व उन्हें कितना पीछे छोड़ आगे बढ़ गया है, और १६वीं शताब्दी में रहकर भी वे १५वीं शताब्दी का पिछड़ा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारतवासियों की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा उनकी अपनी जातीय धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराएं थी, जो शताब्दियों से बिना किसी परिवर्तन के अपने मूल रूप में चली आती रहने के कारण अत्यन्त दृढ़ हो गई थी। उन परम्पराओं का वैदिक काल अथवा पुराणों के काल में भले ही अत्यधिक महत्व रहा हो पर आधुनिक युग में उनका कोई महत्व न रह गया था, तथा उनकी उपयोगिता समाप्त हो गई थी। उनमें पूर्णतया परिवर्तन अपेक्षित था क्योंकि वे जिस रूप में वर्तमान थी, उसके सम्मुख नवीन विचारों और प्रगतिशील भावनाओं के लिए

१ चार्ल्स ऐंड मेरी बेयर्ड : द राइज़ ऑव अमरीकन सिविलिजेशन, (१६२८) प्रथम भाग, पृष्ठ २६२।

२ पं० जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, (१६४७ इलाहाबाद), पृ० ३८५।

३ "British rule alone among the many dominions India has known in its tragic history, has placed the country on the road which leads alike to national integration and to national self government."—एल० एफ० रश ब्रुक विलियम्स : व्हाट एबाउट इन्डिया?, (१६३८), लन्दन, पृ० १६८।

कोई स्थान न था। यद्यपि शिक्षा के प्रसार से यह कल्पना की गई थी कि पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव ग्रहण करने के पश्चात् लोगों में प्रगतिशील भावनाएं घर कर जाएगी,[१] पर बहुत दिनों तक यह विचार सम्भव न दृष्टिगोचर हुआ, उस प्रक्रिया को पूर्ण होने में पर्याप्त समय लगा।

विश्व के इतिहास के अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि किसी भी पराधीन देश में जब शिक्षा का पुनर्गठन हुआ है, आर्थिक व्यवस्था में उन्नति हुई है, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचलन हुआ है, तथा नवीन जागृति का प्रसार हुआ है, तो इनके परिणाम-स्वरूप वहाँ के जन-जीवन पर गहन प्रतिक्रिया हुई है, और उन देशों में भीषण क्रान्ति हुई है, जिसने उन देशों का रूप-विधान ही एक सिरे से परिवर्तित कर दिया। फ्रान्स की क्रान्ति, अमरीकी क्रान्ति, रूस की क्रान्ति, और स्वयं अंग्रेजों की ही औद्योगिक क्रान्ति, सभी इस कथन की पुष्टि करते हैं। पर भारत में अंग्रेजों की हठधर्मी, और कठोर नीति से ये परिवर्तन शीघ्र सम्भव न हो सके। इसका यह तात्पर्य न था कि जनता ब्रिटिश शासन से पूर्णतया सन्तुष्ट थी, अथवा वह कोई प्रगति नहीं चाहती थी, और अपने देश को विकासोन्मुख एवं अपने को सुखी तथा समृद्धिशाली नहीं बनाना चाहती थी। बात तो इससे भिन्न थी। जापान की रूस पर विजय तथा अमरीकी क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेज पूर्णतया भयभीत हो गये थे। स्वयं भारत में ही १८५७ ई० की क्रान्ति से यह स्पष्ट हो चुका था कि जनता में असन्तोष की ज्वाला सुलगने लगी है, और अवसर प्राप्त होते ही वह अपना प्रचण्ड रूप प्रदर्शित करेगी। अतः ब्रिटिश सरकार ने पूर्ण शक्ति से जन-भावना को कुचलने और उसे आधुनिक युग से पूर्णतया वंचित रखने का प्रयास किया, जिससे भारत में उनकी स्थिति सुदृढ रह सके और जनता के समक्ष उन्हें असफल न होना पड़े। पर उन्हें अपने इस दुराग्रह में अधिक दिनों तक सफलता प्राप्त न हो सकी, और जनता में चेतना के विकास के साथ ही परम्परा के प्रति असन्तोष बढ़ता गया। वे सब उन परम्पराओं को समूल नष्ट कर समाज का रूप-विधान ही परिवर्तित कर देना चाहते थे, जिसके कारण वे पतन के इस गर्त तक पहुँच गये थे, और प्रगति की दौड़ में शताब्दियों पीछे हो गए थे। अतः आगे चलकर अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ, जो इसी असन्तोष की प्रतिक्रिया स्वरूप थे और जिनसे भारतीयों में पूर्ण चेतना का विकास हुआ। भारतवासियों की यह चेतना ही पुनरुत्थान के नाम से अभिहित की जाती है। इस पुनरुत्थान आन्दोलन

१. "It was assumed that when once the literate classes has been educated in Enlish, Western learning, of which the English was medium, would gradually 'filter down' to the masses—"
एल० एफ० रशब्रुक विलियम्स- व्हाट एबाउट इण्डिया ?, (१९३९), लन्दन, पृष्ठ ९२।

वे अनेक पक्ष थे, किन्तु अन्य देशों की भाँति, भारतवर्ष में भी इस आन्दोलन के अन्तर्गत नारी की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हुए बिना न रह सका।

सुधारवादी आन्दोलन और नारी की स्थिति

नवीन शिक्षा तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप भारत में जिस चौमुखी जागृति और नवीन चेतना का विकास हो रहा था, धार्मिक रूढ़ियाँ उसके प्रति क्रमशः विषम बाधा उपस्थित कर रही थीं। भारत में समाज और धर्म के मध्य वस्तुतः कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। यहाँ समाज का आधार धर्म ही है। परम्पराओं में लोगों का इतना मोह था, कि धार्मिक आडम्बरों में विश्वास न रखते हुए भी वे उनका पालन करते आ रहे थे। अतः इस कारण भी इस युग में अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, और धीरे धीरे धार्मिक रूढ़ियों में लोगों की आस्था कम होती गई। इसके पीछे कई तत्त्व क्रियाशील थे। पहली थी, पश्चिम की वह चुनौती जो औद्योगिक क्रान्ति की भावना लेकर आई थी इसमें भौतिकता का अंश अधिक था। भारतवासियों का अपना एक जीवन था, और *भौतिकता के बाहर भी वे अपने अन्दर आध्यात्मिकता का जो भाव सन्निहित रखते* थे, वह अन्य देशों में न था। अतः पश्चिम की इस चुनौती को स्वीकार कर लेने में उन्हें अपनी आत्मा की हत्या का भाव लक्षित हुआ। इससे पश्चिम के प्रति एक जबरदस्त प्रतिक्रिया का भाव उत्पन्न हुआ, जिसे पूर्व और पश्चिम का संघर्ष भी कहा गया। यह वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्र का संघर्ष था। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि भारत की तत्कालीन क्षीण शीर्ण सामाजिक अवस्था में आध्यात्मिकता का भाव कहाँ से उत्पन्न हुआ? भारत के शिक्षित वर्ग ने एक ओर तो पश्चिम के बढ़ते हुए प्रभाव को देखा, तथा दूसरी ओर अपने देश में सर्वत्र निबिड अन्धकार की छाया व्याप्त देखी। नैराश्य एवं दैन्य की उस विषम परिस्थिति में उन्हें भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के लुप्त हो जाने की पूर्ण सम्भावना लक्षित हुई और इसकी कल्पना मात्र से ही वे चिंतित हो उठे। अतः इस अन्धकार को मिटाने के लिए उन्होंने एक ऐसे भारतीय शास्त्र का स्वरूप निश्चित किया, जो भारतीय शिक्षित वर्ग का तो मान्य हो ही, पश्चिमी जगत भी उसे मान्यता प्रदान करे। अर्थात् धर्म का ऐसा रूप प्रतिष्ठित हो, जो रूढ़ पौराणिकता और आडम्बर विहीन हो। वह धर्म का स्वरूप उपनिषदों के धर्म में खोजा गया, जो आज भी प्रचलित है। यह वही धर्म था जिसे शंकराचार्य ने बौद्धों को परास्त करने के लिए प्रयोग किया था। अतः उस युग में जो धार्मिक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उनका एकमात्र उद्देश्य परम्परागत रूढ़ियों को समाप्त कर धर्म का एक सर्वसम्मत स्वरूप उपस्थित करने का था, जो शिक्षित वर्ग के आडम्बर मुक्त, परम्परागत एवं अनावश्यक रूप से कठिन ज्ञान के आरोपों से मुक्त हो।

उन्नीसवीं शताब्दी का सर्वप्रथम धार्मिक सुधार आन्दोलन ब्रह्म समाज (१८२८) के नाम से विख्यात है। इसके प्रवर्तक राजा राम मोहन राय (१७७४-

१८३३ ई. जिनमें अद्वितीय प्रतिभा थी और जो स्वयं संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान थे। उन्होंने बहु-विवाह, छुआ-छूत तथा मूर्ति-पूजा आदि का प्रबल विरोध किया, क्योंकि प्राचीन हिन्दू धर्म तथा उपनिषदादि ग्रन्थ इसका अनुमोदन नहीं करते। उन्होंने वैदिक हिन्दू धर्म को अत्यन्त सरल, सम्पूर्ण और युक्ति संगत बताया। उस समय भारतीय जनता पर ईसाई धर्म का प्रभाव गहरा पड़ता जा रहा था। राजा राम मोहन राय इसका विरोध कर हिन्दू जनता को उसके धर्म और उत्तरदायित्व के प्रति सचेत किया। उन्होंने सबसे बड़ी क्रान्तिकारी[2] बात विधवा विवाह पर जोर देकर किया। उस समय भारतीय समाज में विधवाओं की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। समाज उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। उनका कोई आर्थिक आधार न था, और पति की मृत्यु के पश्चात् या तो उन्हें सती होने के लिए बाध्य किया जाता था, अथवा उन्हें दासी सदृश जीवन व्यतीत करना पड़ता था। कभी-कभी उनके साथ सामाजिक दुर्व्यवहार इतना बढ़ जाता था कि उनमें से अधिकांश आत्महत्याएं कर लेती थीं अथवा वेश्या-वृत्ति अपना लेती थीं। राजा राम मोहन राय ने इसकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया और विधवा विवाह की आवश्यकता पर बल देते हुए उनका जीवन सुधारने का प्रयास किया। यह उन्हीं के आन्दोलन का परिणाम था कि लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। नारी की स्थिति की शोचनीयता से राजा राम मोहन राय बहुत असन्तुष्ट थे और वे अपने समाचार पत्रों के माध्यम से बराबर लोगों को नारियों की स्थिति सुधारने की आवश्यकता पर बल देते रहते थे। दुर्भाग्यवश ब्रह्म समाज की स्थापना के कुछ ही वर्ष पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई, और इनके देहान्त के साथ ही ब्रह्म समाज में दरार उत्पन्न हो गई। वह दो वर्गों में विभाजित हो गया। एक वर्ग के संचालक श्री देवेन्द्र नाथ टैगोर (१८१७-१९०५) थे, जो कट्टर हिन्दू थे और जाति-प्रथा के तोड़ने में अधिक विश्वास न रखते थे। दूसरे वर्ग का नेतृत्व श्री केशव चन्द्र सेन (१८३८-१८८४) कर रहे थे, जो ईसाई धर्म के अत्यन्त प्रशंसक थे।

इसी समय एक दूसरे शक्तिशाली आन्दोलन का सूत्रपात १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) के नेतृत्व में हुआ। यह आन्दोलन आर्य समाज आन्दोलन था, जिसका हिन्दी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। स्वामी दयानन्द गुजरात के थे, और उन्होंने जाति भेद, विधवा विवाह के प्रचलन और सम्मिलित खान-पान पर बल प्रदान किया। आर्य समाज आन्दोलन धार्मिक शुद्धि पर अधिक बल देता था और लोगों में स्वदेश प्रेम, आत्म-गौरव, जातीय धर्म शिक्षा और परम्परागत

---

१ सर जॉन कमिंग द्वारा सम्पादित : मॉडर्न इण्डिया ए कोआपरेटिव सर्वे (१९३१), लन्दन, पृष्ठ १२२।

२ यहां क्रान्तिकारी का अर्थ साधारण रूप में ही ग्रहण किया गया है।

रूढ़ियों को समाप्त करने की भावना का संचार कर रहा था[1]। वेदों के समय के पश्चात अन्य जो बातें आर्य धर्म पर आरोपित की गईं थीं, और जिनके परिणाम-स्वरूप वह आडम्बरयुक्त, कठिन और लोकप्रिय (शिक्षित वर्ग में) हो रहा था आर्य समाज आन्दोलन उनका निराकरण कर आर्य धर्म को ऐसा स्वरूप प्रदान करना चाहता था जिससे वह हर दृष्टिकोण से प्रगतिशील, सरल एवं आडम्बरहीन धर्म के रूप में सभी वर्गों में लोकप्रिय हो सके। उन्होंने वेदों की नये ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की, तथा सत्य को ग्रहण करने और असत्य का त्याग करने, अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि पर जोर दिया। आर्य समाज आन्दोलन ने नारियों के कल्याण के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। भारत में नारियों की स्थिति गिरती जा रही थी। ऋग्वेद काल में विवाह संस्था वर्तमान थी। उस काल में नारियाँ पश्चिम की भांति उपेक्षणीय नहीं, वरन अपने पति की अर्द्धांगिनी और गृहस्वामिनी होती थीं। उनका पति के धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में समान अधिकार था, और दोनों के एक दूसरे के प्रति अनेक कर्तव्य थे, जिससे "दम्पति" शब्द की सार्थकता सिद्ध होती थी। नारियों को वेदों के अध्ययन का भी अधिकार प्राप्त था, और वे स्वतन्त्र उपासना भी कर सकती थीं। शिक्षा के संबंध में उन पर कोई नियन्त्रण न था। वे अपनी इच्छानुसार या तो विवाह तक या विवाहोपरान्त जीवन पर्यन्त अध्ययन कार्य में व्यस्त रह सकती थीं। यद्यपि पुत्र-जन्म पर माता पिता को अपार प्रसन्नता होती थी, पर इस बात का उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि पुत्री जन्म पर उन्हें दारुण दुख हो, या वे उनके साथ अमानुषिक व्यवहार करते हों।

पर वैदिक काल के पश्चात यह स्थिति न रह सकी, और वह गिरती गई। धर्म सूत्रों और स्मृतियों ने बाल विवाह की अनुमति दे दी और नारियों की शिक्षा केवल साधारण रूप से पढ़ लिख लेने तक ही सीमित रह गई। उन्हें धार्मिक संस्कारों में भाग लेने के अधिकार से भी वंचित होना पड़ा। उन्हें पढ़ने लिखने का अवसर प्राप्त ही न होता था जिससे वे वेदादि का अध्ययन न कर पाती थीं, इसलिए उन्हें अज्ञान में परिपूर्ण शूद्रों के समान स्वीकार कर लिया गया। बाल विवाह के कारण नारियों को अपने पति चुनने का अवसर ही न मिलता था, जिससे दोनों में पारिवारिक स्तर पर परस्पर सामंजस्य न स्थापित हो पाता था। उसका दुष्परिणाम हुआ, नारियाँ केवल अपनी पति की आज्ञा का पालन करने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगीं और उनमें स्वतः ही पति की दासता का भाव जड़ पकड़ने लगा। मध्यकाल में (६०० ई० से १८०० ई० तक) नारियों की स्थिति में और भी पतन हुआ। इस काल में धार्मिक भावनाओं और विश्वासों की ओर नारियाँ अधिक प्रवृत्त हुईं। शिक्षा की कमी के कारण उनकी चेतना शक्ति और ज्ञान मार्ग का भी

[1] सर पी० जी० ग्रिफिथ : द ब्रिटिश इम्पैक्ट ऑन इण्डिया, (१९५२), लंदन, पृष्ठ २४२-२४३।

बराबर ह्रास होता गया और वे केवल धार्मिक परम्पराओं में अपनी आस्था प्रकट करने लगी। व्रतों का प्रचलन बढ़ गया और मुस्लिम शासन स्थापित होने से ऊँची श्रेणियों में भी नारी शिक्षा लगभग समाप्त हो गई, तथा १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक शिक्षा केवल वेश्याओं तक ही सीमित रह गई थी[1]। नारियों के स्वतन्त्र जीविकोपार्जन के कोई साधन न थे, और उन्हें न यह अधिकार ही प्राप्त था। बाल विवाह के कारण अल्पायु से परिवार सम्भालना ही उनका मुख्य कार्य हो गया। विधवा-विवाह अमान्य थे और वे समाप्त हो गये थे। मुसलमानों का आतंक उस सीमा तक छा गया था कि कन्या का जन्म आक्रांत हिन्दू परिवारों में अमंगल सूचक समझा जाने लगा, तथा शिशु हत्या की प्रथा प्रचलित हो गई। इसका प्रमुख कारण देश में निरन्तर होने वाले युद्ध, विदेशी शासकों की नीति-रिवाजों को पूर्ण रूप में न समझ पाने और नारियों में स्वयं बढ़ती हुई हीनता की भावना (Inferiority Complex) थी[2]। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में नारियों की स्थिति शोचनीय थी। उन्हें सामाजिक और राजनीतिक सम्मान न प्राप्त थे, शिक्षा से वे वंचित थीं, उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता भी न प्राप्त थी, और न उनकी स्थिति में सुधार हेतु प्रयत्न की दिशा में उत्साह ही था। स्वामी दयानन्द से पहले यद्यपि राजा राम मोहन राय नारी उत्थान के प्रति अपनी आवाज उठा चुके थे, और उन्हीं की प्रेरणा स्वरूप लार्ड विलियम बेंटिक ने सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, तथापि वह केवल एक महान् अनुष्ठान का प्रारम्भ-मात्र था, उस अन्यतम लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में यथेष्ट कार्य करना अभी शेष था। स्वामी दयानन्द ने पुनः पूर्ण शक्ति से नारियों की स्थिति में सुधार लाने और नारी शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया।[3] आर्य समाज आन्दोलन ने नारियों के कल्याण के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। विधवा विवाह का प्रचलन तो उसने किया ही, विधवा आश्रमों की स्थापना का भी प्रयत्न किया। उस समय नारी शिक्षा की ओर किंचित् मात्र भी ध्यान नहीं दिया जाता था और लड़कियों की उच्च शिक्षा तो हिन्दू जाति में एक अप्रत्याशित बात समझी जाती थी। आर्य समाज आन्दोलन ने ही हिन्दू समाज की इस भ्रांति का निराकरण कर नारी शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार किया और इसी का परिणाम था कि धीरे-धीरे नारी शिक्षा का प्रसारण होने लगा, और लड़कियाँ ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के लिये कालेजों और विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने लगीं।

बंगाल में स्वामी रामकृष्ण परमहंस (१८३६-१८८६) भी इसी प्रकार के धार्मिक पुनरुत्थान कार्य में संलग्न थे। उन्होंने हिन्दू धर्म और दर्शन के विभिन्न

१ मार्ग्रेट ई० कजिन्स-इण्डियन वूमनहुड टुडे, (१६४१), इलाहाबाद, पृ० ११।

२ वही, पृ० १५-१६।

३. आर० सी० मजूमदार : एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑव इंडिया, (१६५३), लन्दन पृ० ८८३।

धाराओं का समन्वय कर धर्म का वह रूप प्रस्तुत किया जो सरल था, आडम्बरहीन था और सभी को मान्य था। साम्प्रदायिक तत्वों के वे प्रबल विरोधी थे और उन्होंने कभी भी धार्मिक कट्टरता पर बल नहीं दिया। उन्होंने अछूतों से घृणा न करने पर बल दिया और उनके पतित समझे जाने वाले जीवन में भी गरिमा की स्थापना की।

एक अन्य धार्मिक एवं सामाजिक आंदोलन थियोसॉफिकल सोसाइटी ने चलाया, जिसकी स्थापना कर्नल अल्काट और ब्लैवट्स्की ने ७ दिसम्बर १८७५ को न्यूयार्क में की थी। भारत में उनका पहला केन्द्र (१८७९) मद्रास में खोला गया था। थियोसॉफिकल सोसायटी ने सभी धर्मों की मौलिक सत्यता में अपनी आस्था प्रकट की। उसमें बौद्ध तथा हिन्दू धर्म को सत्य का सर्वाधिक उत्तम रूप मान उन्हें विशेष गरिमा प्रदान की। इसने जाति-भेद, ऊँच नीच भेद भाव आदि को मिटाकर समाज में प्रगतिशीलता लाने का प्रयत्न किया। इस सोसाइटी में श्रीमती ऐनी बेसेंट सदृश महिलाएँ भी और उन्होंने हिन्दू नारियों के सम्मुख उच्च आदर्श प्रस्तुत कर नारियों की रूढ़ियों और आडम्बरों को समाप्त कर उनमें नवीन चेतना संचार तथा उन्हें उनके वास्तविक उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्य के प्रति सचेत किया। इस समाज ने महिलाओं का प्रचार कर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की गौरवपूर्ण बातों को नए सिर से प्रस्तुत कर आत्मगौरव की भावना के उदय का प्रयत्न किया।

स्वामी रामकृष्ण जी की मृत्यु के पश्चात उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द (नरेन्द्रनाथ दत्त, १८६२-१९०२) ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और सेवा भाव की वृद्धि में सहायता प्रदान की। उन्होंने वेदांत-दर्शन के अद्वैतवाद पर अधिक बल दिया, क्योंकि उनकी विचार धारा में प्रगतिशील मानव जाति के लिए आगे चल कर सिर्फ वेदांत धर्म ही कल्याणकारी हो सकता था। इसका कारण यह था कि वेदांत केवल आध्यात्मिक ही नहीं, तर्क सगत भी था और साथ ही उसका विश्व के वैज्ञानिक आविष्कारों से सामंजस्य भी था[1]। उनके अनुसार इस विश्व का सृजन किसी विश्वोपरि ईश्वर ने नहीं किया। वह स्वयम् स्वयं संहारक स्वयं पोषक एवं अनन्त अस्तित्वपूर्ण ब्रह्म है। वेदांत का आदर्श मानव की एकता और उसकी जन्मजात दैवी प्रकृति का था, मानव में ईश्वर दर्शन ही सच्चा ईश्वर दर्शन है प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है, लेकिन अदृश्य वेदांत को दैनिक जीवन में सजीव काव्यमय, हो जाना चाहिए धेरे उलझी हुई पौराणिक गाथाओं में से निकलकर उसका साथ नैतिक रूप सामने आना चाहिए और रहस्यपूर्ण योगीपन के भीतर से एक वैज्ञानिक और अमल मनोविज्ञान सामने आना चाहिए[2]। वेदांत दर्शन में आस्था रखने वाले धर्मप्रचारकों ने भारत के शिक्षित नवयुवकों को अत्यधिक प्रभावित किया। उन्होंने आत्म निर्माण और स्वावलम्बी होने पर बल दिया तथा हिन्दू संस्कृति का पोषण

१ पं० जवाहर लाल नेहरू हिन्दुस्तान की कहानी, (१९४७) इलाहाबाद पृ० ४१३।

२ वही पृ० ४१७।

किया। वर्णगत भेद-भाव को मिटाने, विचारों की संकीर्णता समाप्त कर व्यापक पृष्ठभूमि पर अपनी तर्कशक्ति का विकास करने, स्वदेश के अतीतकालीन गौरव का स्मरण कराकर स्वाधीन बनाने की दिशा में सम्मिलित रूप से प्रयत्न करने पर अत्यधिक बल दिया। स्वामी विवेकानन्द ने जनसाधारण को अधिक महत्ता प्रदान की और उच्च वर्ग के लोगों को नैतिक एवं भौतिक दोनों दृष्टिकोणों से प्राण-हीन समझा। उन्होंने मानव की दुर्बलता को पाप बताकर अंधविश्वास एवं जादू टोनों की निन्दा की।

एक अन्य सामाजिक सुधार आन्दोलन प्रार्थना-समाज की स्थापना १८६७ में बम्बई में हुई थी। इसके प्रमुख नेताओं में रानाडे (१८४२-१९०१) तथा एन० जी० चन्द्रवर्कर (१८५५-१९२३) आदि भी थे, जो अपनी अद्वितीय प्रतिभा और समाज सेवा के कारण ख्याति अर्जित कर चुके थे। मुसलमानों में जागृति का कार्य सर सैयद अहमद (१८१७-१८९८) प्रमुख रूप से कर रहे थे। उन्होंने मुसलमानों में प्रचलित पर्दा-प्रथा की कठोर निन्दा की और वैज्ञानिक विचारों तथा इस्लामी धर्म में समन्वय करने की चेष्टा की, जिससे इस्लामी धर्म में भी रूढ़ियाँ समाप्त हो जाए। उन्होंने मुसलमानों में शिक्षा का प्रसार किया, विशेष रूप से लड़कियों की शिक्षा का प्रचार किया। सर सैयद के अतिरिक्त जौनपुर के मौलवी करामत अली (मृत्यु १८७३) भी इसी प्रकार के सुधार कार्य में संलग्न थे। मौलवी चिराग अली (लगभग १८४४-१८९५) ने मुसलमानी लड़कियों की शिक्षा पर बल देते हुए उन्हें ऊँची शिक्षा प्राप्त करने की अनुपम प्रेरणा प्रदान की। मौलाना शिबली नूमानी (१८५७-१९१४) ने पर्दा-प्रथा के समाप्त करने एवं मुस्लिम नारियों को सामाजिक तथा राजनीतिक सम्मान प्रदान करने के हेतु अथक परिश्रम किया।

इन देशी आन्दोलनों के अतिरिक्त भारतीय नारी की स्थिति को यूरोपीय विचारधारा ने भी प्रभावित किया। धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलनों, और पाश्चात्य विचारधारा के प्रभाव के कारण नारियों की स्थिति में सुधार लाने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त हुआ। अभी तक भारत पूर्णतया पिछड़ा हुआ देश था जिसमें धार्मिक अन्धविश्वास, वर्णगत भेद-भाव, ऊँच-नीच, सम्मिलित खानपान अशिक्षा और नारियों की दयनीय स्थिति आदि विभिन्न प्रकार के सामाजिक अभिशाप अपने भीषण रूप में व्याप्त थे। इस नवीन चेतना ने समाज को नवीन प्रेरणा दी और प्रगति की ओर अग्रसर होने का आह्वान किया। इससे जनता में परम्परा के प्रति मोह जाता रहा, और नवीन शिक्षा, नवीन विचारधारा एवं वैज्ञानिक आविष्कारों को अपनाने में जो हिचक थी, वह समाप्त हो गई और जागरण आन्दोलन में सर्वाधिक लाभ भारतीय नारियों को हुआ। अभी तक वे अत्यन्त उपेक्षिता थीं एवं शिक्षा तथा नवीन विचारधारा से वंचित केवल भोग की सामग्री और परिवार पालन का उत्तरदायित्व वहन करने वाली मात्र ही समझी जाती थीं। शिक्षा का प्रचार न होने से न उन्हें अपने अधिकारों का ज्ञान था, न उन्हें अपनी

वास्तविक परिस्थिति का परिचय ही था। उन्हें समाज में कोई विशेष प्रतिष्ठा भी प्राप्त न थी और न राजनीति के क्षेत्र में उनका कोई सहयोग ही था। पर इन धार्मिक सुधार आन्दोलनों ने नारियों की स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया, और घर की चार दीवारी में बन्द रहने वाली निर्जीव गठरियों ने प्रथम बार नवीन प्रकाश के अन्तर्गत अपने वास्तविक लक्ष्य की ओर चरण बढ़ाया। उनके धर्मगत आडम्बरों और भय में कमी हुई तथा धीरे धीरे उनमें आत्म विश्वास और सजगता की वृद्धि हुई।

गत ५० ६० वर्षों के अन्दर ही उस रूढ़ धारणा में पर्याप्त मात्रा तक परिवर्तन हुआ जिसके अन्तर्गत लड़कियों का बाल विवाह कर दिया जाता था, और उनका एकमात्र कार्य सन्तानोत्पत्ति ही समझा जाता था। बाद में नारियाँ वकालत के क्षेत्र, राजनीतिक क्षेत्र, डाक्टरी के क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र और शिक्षा के क्षेत्र में सफलतापूर्वक प्रवेश करने लगीं, और अपनी प्रखर चेतना शक्ति, सूझ-बूझ और तर्क शक्ति का परिचय देने लगीं। उनमें पुरुषों से होड़ की प्रवृत्ति हो गई, वे किसी भी क्षेत्र में पुरुषों से पीछे नहीं रहना चाहती थीं। पर पारिवारिक और मातृत्व सम्बन्धी शिक्षा देने वाले स्कूलों की इस युग में बहुत कमी थी। डेनमार्क, नेदरलैन्डों वाकिया तथा जर्मनी आदि देशों में लड़कियों के लिये इस प्रकार के अलग स्कूल थे जिनमें भोजन बनाने, कपड़ा धोने, परिवार सम्भालने तथा बच्चों की स्वास्थ्य रक्षा आदि पर साप्ताहिक या सप्ताह में दो अथवा तीन कक्षाएं होती थीं[1]। भारत में १९४७ ई० तक इस प्रकार के स्कूल नाम-मात्र को ही थे इसी कारण शिक्षा के प्रसार के बावजूद भी लड़कियाँ वह आवश्यक शिक्षा नहीं प्राप्त कर पाती थीं, जो उनके लिये सर्वथा अनुकूल थी और जो पुस्तकीय शिक्षा के साथ अत्यन्त आवश्यक भी थी जिससे उनके व्यक्तित्व का अनुदिन विकास सम्भव हो सकता।

विदेशों में नारियों की स्थिति में सुधार लाने के अनेक प्रयत्न हो चुके थे। फ्रेंच क्रान्ति के साथ ही समस्त यूरोप में सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में नवोन्मेष की भावना प्रकट हो रही थी। राजनीतिक और सामाजिक मान्यताएं नये प्रतिमान स्थापित करने लगीं और रूप विधान में परिवर्तन होने लगा। समस्त १९वीं शताब्दी में पश्चिमी चेतना सामूहिक रूप से सामाजिक और राजनीतिक नवनिर्माण के महत्ता उत्तरदायित्व को पूर्ण करने में संलग्न हो गई।[2] स्वाभाविक था कि वहाँ उस नारी की स्थिति में परिवर्तन लाने का भी प्रयास किया जाता, जो अभी तक "मृत्यु का द्वार" अथवा केवल भोग की सामग्री समझी जाती थी। उनमें शिक्षा के प्रति उदासीनता थी *और शिक्षा जो भी दी जाती थी, केवल अपने को आकर्षक* बनाने मात्र के प्रयोजन के लिए। आश्चर्य तो तब होता है, जब रूसो जैसे महान्

१ वाई एम०रीग व्हीमेन्स वुमन ?, (१९३८) बम्बई, पृष्ठ २४०-२४१।

२ एच० जी० वेल्स आउट लाइन्स आव हिस्ट्री, (१९२०), लन्दन, पृष्ठ ५०६।

प्रतिभाशाली व्यक्ति भी नारी की उस शिक्षा का समर्थन करते थे, जिसके अनुसार वे पुरुषो को अपनी ओर अधिकाधिक रिझा सके और उनका जीवन सुखी एव सम्पन्न बना सके।[1] उस काल मे यदि नारी अधिक सौन्दर्यपूर्ण हुई, तो उसका जीवन सुख सतोषपूर्ण होता था। पर यदि दुर्भाग्य से ऐसा नही होता था, तो उनका जीवन अत्यन्त करुणा-प्रद और कष्टपूर्ण हो जाता था। नारी हेय है, अवश है, इसलिए उनकी रक्षा की जानी चाहिये और शरण दी जानी चाहिए—यह धारणा उस समय समाज मे व्याप्त थी। उस समय के उपन्यासो से यह प्रकट होता है कि नारी का सर्वप्रधान गुण सुन्दर होना और अच्छा भोजन पकाना ही समझा जाता था। हेनरी फिल्डिग (Henry Fielding) के प्रसिद्ध उपन्यास 'An old Man Taught Wisdom' की नायिका लूसी इसी भावना को पुष्ट करती है। नारियो की महत्वाकाक्षाए, उनके अधिकार आदि विदेशी शब्द समझे जाते थे। पर यह स्थिति अधिक दिनो तक नही बनी रही, और एक महिला मेरी वाल्स्टन क्रैफ्ट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "ए विन्डिकेशन आव दी राइट्स आव विमेन" (१७९२) मे नारियो पर होने वाले सामाजिक अत्याचारो और उनकी होने वाली उपेक्षा की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया तथा उनमे परिवर्तन लाने की आवश्यकता पर बल दिया। इसका प्रभाव चिन्तको एव विचारको पर पड़ा तथा वे नारियो की स्थिति मे परिवर्तन लाने को कृत-सकल्प हो गए। न्यूजीलैंड मे १८९३ मे तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया मे १८९४ मे स्त्रियो को मताधिकार प्राप्त हुआ, जिससे नारी सुधार आन्दोलन को और भी बल प्राप्त हुआ, इसके पश्चात् युद्धकाल मे अस्पतालो एव रेडक्रास केन्द्रो मे नारियो ने घायलो की अथक परिश्रम से सेवा की। इसका प्रभाव भी अच्छा ही पड़ा। धीरे-धीरे अस्पतालो मे नर्सो की जगहे नारियो को मिलने लगी। नारी शिक्षा के क्षेत्र मे परिवर्तन की आवाज उठाई गई शारलट पर्किन्स गिलमैन की प्रसिद्ध पुस्तक "वूमन एन्ड इकोनोमिक्स" मे यह माँग की गई है कि नारियाँ पुरुषो की बराबरी प्रत्येक क्षेत्र मे कर सकती है। उनके अनुसार नारियो मे पुरुषो के समान ही बुद्धि, कार्य करने की प्रवृत्ति और उत्तरदायित्व वहन करने की क्षमता है, अतः उन्हे वही शिक्षा दी जानी चाहिये, जो पुरुषो को दी जाती है। इस प्रकार पुरुषो के समान अधिकारो की माग को १९वी शताब्दी मे यथेष्ट बल मिला और नारियो की स्थिति मे आशातीत परिवर्तन हुआ। वे सामाजिक, राजनीतिक एव धार्मिक दृष्टिकोण से उपेक्षणीय न रह सकी, और रचनात्मक कार्यक्रमो मे वे भी उतना ही भाग लेने लगी, तथा निर्माण के उत्तरदायित्व को उसी रूप मे ग्रहण करने लगी, जिस रूप मे पुरुष वर्ग। वे अच्छी नौकरियो मे स्थान प्राप्त करने लगी, उच्च-पद ग्रहण करने लगी, और अपने देश की राजनीतिक एव सामाजिक जीवन मे महत्वपूर्ण भाग लेने लगी। वे अब केवल सौन्दर्य अथवा उपभोग की सामग्री मात्र न

१. रूसो : एमिली . (बारबो फाक्सले कृत अनुवाद), पृ० ३२८, (रोग की पुस्तक "व्हीदर वूमन ?" के पृष्ठ २३६ मे उद्धृत)।

रह सकी, अपितु सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में पुरुषों से कन्धे-से-कन्धा मिला कर चलने लगीं।

वास्तव में नवीन चेतना ने भारतीय नारी आन्दोलन को अनुपम प्रेरणा प्रदान की। उससे भारतीय नारी में नवीन जीवन एवं स्फूर्ति का संचार हुआ। भारतीय नारियों की जागृति की दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना भारतीय राजनीति में डा० एनी बेसेन्ट का प्रवेश था। सन् १९१४ ई० में इन्होंने मद्रास में "भारत जागो" शीर्षक से एक भाषण दिया था, जिसमें भारतीय नारियों से अपनी दासता समाप्त करने, अपनी अशिक्षा समाप्त करने वाले विवाह न करने और निम्न जातियों को सम्मानित स्थान प्रदान करने का अपील की गई थी। इससे समस्त देश में उत्साह की नई लहर दौड़ गई। मई १९१७ में प्रथम महिला मंच की स्थापना की गई, जिसमें प्रत्येक विचारधारा की महिलाओं की सदस्यता स्वीकृत की गई थी। इस संस्था ने भारत के कल्याणकारी कार्यों में सहायता प्रदान करने के लिए महिलाओं का एक दल निर्मित किया। डा० एनी बेसेन्ट की अध्यक्षता में "वीमन्स इण्डिया एसोसियेशन" ने धर्म और निरपेक्षता को अपनी सेवा का आधार बनाया। न वह धर्म की अवहेलना करना चाहता था और न उसके रूढ़ रूप को स्वीकार ही करना चाहता था। वह धर्म के आडम्बर को समाप्त कर उसे उदार एवं उपयोगी बनाने पर बल दे रहा था ताकि नारियों के अन्धविश्वास और धार्मिक आडम्बर समाप्त हो सकें और वे प्रगतिशीलता के पथ पर अग्रसर हो सकें। १९२०-३० के मध्य इस संस्था की कुल ८७ शाखाएं खोली गई, जिनसे नारी जागरण में बड़ी सहायता प्राप्त हुई।

एक अन्य संस्था "यंग वीमेन्स क्रिश्चियन एसोसियेशन" की शाखाएं भी सारे भारत में तेजी से खोली जा रही थीं। यह महिलाओं का एक ऐसा वर्ग निर्मित कर रहा था जो "संयुक्त भारत" को सम्पूर्ण विश्व के व्यापक सन्दर्भ से सम्बन्धित कर जागरण कार्य में प्रवृत्त हो रहा था। "दी नेशनल लिबरल एसोसियेशन" में वे पुरुष और नारी, जो विशेष रूप से अधिकारी वर्ग से सम्बन्धित थे, सदस्य थे, ब्रह्म समाज की नारी शाखा अन्य स्थानों की अपेक्षा बंगाल में अधिक सक्रिय थी। पूना और बम्बई के "सेवासदन" और "भारत स्त्री महामण्डल" भी इसी प्रकार की संस्थाएं थीं, जिन्होंने प्राय समान रूप से सारे देश में एकता का सूत्र स्थापित कर नारियों की स्थिति में पर्याप्त मात्रा तक सुधार करने का अथक प्रयत्न किया। १८ दिसम्बर १९१७ को श्रीमती सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में चौदह महिलाओं का एक प्रतिनिधि मण्डल मद्रास में वायसराय तथा इंगलैंड में भारतीय सचिव ई० एस० माण्टेग्यू (E S Montague) से मिला। इस प्रतिनिधि मण्डल में देश के विभिन्न भागों से महिलाएं सदस्य थीं और उन्होंने अपने विवरण पत्र में यह अनुरोध किया उन्हें शिक्षा की अधिक अच्छी और विकास प्राप्त सुविधाएं स्वास्थ्य एवं अस्पताल की अच्छी सेवाएं और पुरुषों के समान ही मताधिकार प्रदान किए जाने चाहिए। यह भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी और मताधिकार के लिए यह नारियों की प्रथम

सम्मिलित माँग थी।[1] इन माँगों के स्वीकृत होने से भारतीय नारियो के जागरण की दिशा मे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। इस प्रकार क्रमश १६२१ में मद्रास विधान परिषद् मे तथा बिहार परिषद् मे १६२१ मे नारियो तथा पुरुषो को समान मताधिकार प्रदान किया गया।

मताधिकार के अतिरिक्त एक अन्य समस्या १६१७ ई० के प्रारम्भ मे ही सुलझाई जाती रही। यह समस्या नारियो की स्वास्थ्य रक्षा एव बच्चों के स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने की थी। रेड-क्रास ने इसी प्रकार की एक संस्था "आल इडिया-मेटर्निटी एन्ड चाइल्ड वेलफेयर एसोसियेशन" सगठित किया और उसके माध्यम से प्रत्येक वर्ष स्वास्थ्य सप्ताह आयोजित करता रहा, जिससे नारियो मे अच्छे स्वास्थ्य की भावना का उदय हुआ और वे स्वय अपने तथा बच्चो की स्वास्थ्य रक्षा की ओर प्रवृत्त हुई। लडकियो की बालचर सस्था ने भी नारियो की जागृति की दिशा मे महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। इन सब से घर की चार दीवारी के बाहर आकर सुदृढ सामाजिक जीवन के निर्माण एव उसकी उपयोगिता समझने का नारियो को अवसर प्राप्त हुआ, तथा साथ ही कुछ सीमा तक कट्टर एव रूढिवादी अभिभावकों की मनोवृत्ति मे परिवर्तन हुआ, और वे अपनी लडकियो की प्रगति एव शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ उदार नीति का पालन करने लगे। इस दिशा में महिला संगठनों का महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त हुआ। दिन-प्रति-दिन देश के प्रत्येक भाग मे अनेक नारी सस्थाओं का जन्म होने लगा जो नारियो को उनके सामाजिक और राजनीतिक अधिकारो के प्रति सचेत करने लगी और उन्हें नवीन चेतना, तथा नवीन विचारो मे पल्लवित करने लगी। अक्टूबर १६०६ मे अखिल भारतीय महिला कान्फेंस हुई जिसने तीव्रता से प्रगति की ओर अग्रसर होती हुई नारियों की परिवर्तित परिस्थितियों की सूचना दी। इसके पश्चात् बेथून कालेज कलकत्ता की एक सभा में बंगाल के शिक्षा इसपेक्टर ने नारियों से स्पष्ट रूप से कहा कि वे बिना किसी हिचक के देश के सम्मुख ऐसी योजना उपस्थित करें जिससे उनकी मनोवांछित शिक्षा के स्वरूप का परिचय प्राप्त हो सके। उन्होंने पुरुषो के हाथो में महिला शिक्षा का स्वरूप निर्धारित न करने की भी चेतावनी दी।

अत यह स्पष्ट है कि भारत में नारी उत्थान के जो प्रयत्न हुए उन पर स्वय भारत में विकसित होने वाली चतुर्दिक राष्ट्रीयता, नवीन चेतना और नारी शिक्षा के समग्र विस्तार का प्रभाव तो पडा ही था, साथ ही वे पश्चिमी देशों मे होने वाली इसी प्रकार के प्रयत्न मे कम प्रभावित नही थे। भारत के आन्दोलनों ने इन पश्चिमी आन्दोलनो की दुर्बलताओ और असफलताओ से लाभ उठाया, और इसी कारण भारत मे नारी सुधार आन्दोलनों को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त जब भारतीय राजनीति का संचालन महात्मा गांधी के हाथो मे

---

१. मार्ग्रेट ई० कजिन्स - इन्डियन वुमनहुड टूडे, (१६४१), इलाहाबाद, पृष्ठ ३३।

आया तो उन्होंने नारियों की जागृति की ओर विशेष ध्यान दिया। महात्मा गांधी ने बराबर नारियों की प्रगति का जोरदार दलीलें उपस्थित की और रूढ़ परम्पराओं को समाप्त कर उन्हें प्रगति की ओर चरण बढ़ाने के लिए प्रेरित किया।

पाश्चात्य शिक्षा ने ही नारी की पारिवारिक स्थिति तथा सामाजिक परम्पराओं की स्थिति में अनेक परिवर्तन उपस्थित कर दिये थे। नारी संगठनों ने नारियों की दयनीय स्थिति का गहन अध्ययन कर उन्हें इस संकटपूर्ण स्थिति से ऊपर उठाने में पूर्ण प्रयास किया। परिणामस्वरूप स्थिति परिवर्तित होती गई और नारियाँ सीमित दायरे से निकल प्रगति की ओर अग्रसर होने लगी।[1] नारियाँ अब बंधन में नहीं रहना चाहती थीं। पुरुषों की भांति वे भी राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष में समान भाग लेना चाहती थीं और समाज को प्रगति की चरम सीमा तक ले जाने में अपना हाथ बटाने की उत्कट लालसा उनमें जन्म ले रही थी। वे उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहती थीं। राजनीति के क्षेत्र में गांधी जी के उदय ने नारियों को सहज ही उनके अधिकार दिला दिये। उन्हें कोई विशेष संघर्ष नहीं करना पड़ा, जिस प्रकार कि पश्चिमी देशों की नारियों को करना पड़ा था। गांधी जी ने जो असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया था, उसमें इन्हीं "पिछड़ी" हुई नारियों ने पुलिस के दमन चक्र का साहसपूर्वक सामना किया। गांधी जी का आन्दोलन मात्र राजनीतिक ही नहीं था, वरन् वह भारत के समग्र जीवन को अपने में समेटे हुए था। इसी प्रकार पारिवारिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। अभी तक भारत में सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा प्रचलित थी पर ज्यों ज्यों भारत की आर्थिक परिस्थिति शोचनीय होने लगी सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा भी त्यों त्यों विच्छिन्न होने लगी। दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के कारण भारतवासियों में एक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उपस्थित होने लगा था। जाति प्रथा भी क्षीण होने लगी थी और बाल विवाह की प्रथा भी धीरे धीरे समाप्त होने लगी। यह आश्चर्य का विषय है कि आधुनिक युग में इतना परिवर्तन होने के बावजूद भी पर्दे की प्रथा पूर्ण रूप से समाप्त न हो सकी थी। १९३५ में जब भारत के लिये नये विधान की रचना की गई तो उनके लिये मताधिकार और विधान सभाओं में सुरक्षित सीटों की व्यवस्था की गई।

नारियों के अधिकारों के सम्बन्ध में सन् १९३७ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिनियम हिन्दू नारियों का सम्पत्ति अधिकार एक्ट (Hindu Women's Right Property Act) बना। इसके अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का बटवारा किए बिना मर गया हो तो उसकी विधवा पत्नी को लड़के के बराबर का भाग प्राप्त होता था, जिससे उसका जीविकोपार्जन भली भांति हो सके और वह वैधव्य के दारुण दुख से कुछ सीमा तक बची रह सके। इस प्रकार नारियों की स्थिति में

---

१ विनय कुमार सरकार क्रिएटिव इण्डिया, (१९३७), लाहौर पृष्ठ ५३७।

सर्तादिक सुधार होने से उन्हें सहज ही पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हो गए, और उन्हें सामाजिक जीवन एवं राजनीतिक क्षेत्र में बराबर सम्मान प्राप्त होने लगा।

राष्ट्रीय आन्दोलन और नारियों का महत्वपूर्ण योगदान

शिक्षा का प्रसार होने एवं धार्मिक आडम्बरों के समाप्त होने पर नारियों में जिस नवीन चेतना का संचार हुआ, उसके परिणाम-स्वरूप वे पारिवारिक ही नहीं, समाज सम्बन्धी और व्यापक रूप से राष्ट्र सम्बन्धी अपने उत्तरदायित्व को समझने लगीं। उस समय देश की सर्वाधिक प्रमुख समस्या स्वाधीनता प्राप्ति की थी और गांधी जी राजनीति के क्षेत्र में स्वाधीनता आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। उन्होंने नारियों को भी उस महत्वपूर्ण आन्दोलन में भाग लेने को कहा, जिसमें इन्हें निराशा नहीं हुई और महिलाएं पूर्ण उत्साह से उस महान् राष्ट्रीय यज्ञ में अपना भाग लेने लगीं। उन्होंने श्रीमती ऐनी बेसेन्ट एवं श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि के नेतृत्व में सभाएं कीं, जुलूस निकाले और धरने दिये। उस समय जब भी कोई राजनीतिक जुलूस निकाला जाता था, महिलाएं सबसे आगे रहती थीं। इसका कारण यह था कि जहां पुलिस के घेरे को तोड़ना होता था, वहां नारियों के लिए सरलता से मार्ग बन जाता था, और वे पुलिस के घेरे को तोड़ सकने में प्रायः सफल रहती थीं। किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता था। ब्रिटिश अधिकारियों की अवहेलना और अमानवीय व्यवहारों की छाया पुलिस में भी आ गई थी, और ऐसे कई अवसर आए, जब उन्होंने राजनीतिक जुलूसों का नेतृत्व करने वाली नारियों पर अत्यन्त निर्दयता से लाठियां एवं गोलियां बरसाईं, अश्रु गैसों का प्रयोग किया। ये अवसर नारियों की परीक्षा के होते थे, और इन अवसरों पर कभी उन्होंने अपनी कायरता प्रदर्शित कर अपने को कलंकित नहीं किया। उनकी सहिष्णुता, सहनशीलता और त्यागवृत्ति से पुरुषों को प्रेरणा प्राप्त होती थी और वे इन साहसी नारियों में भारत माँ का विराट स्वरूप देख अपूर्व उत्साह से जीने-मरने के लिए कटिबद्ध हो जाते थे। प्रेमचन्द ने अपने कुछ उपन्यासों में इस तरह के नारी पात्रों की सृष्टि की है। 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि' आदि उपन्यासों के प्रायः सभी नारी पात्र तत्कालीन समाज की उन्हीं नारियों की भांति हैं, जो अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी देश को स्वाधीन बनाने में संलग्न थीं।

इसके अतिरिक्त उस समय क्रान्तिकारी दल भी देश में अत्यन्त शक्तिशाली हो गया था, और वह हिंसक कार्य कर तथा तोड़-फोड़ कर ब्रिटिश सरकार के सम्मुख आतंकवादी स्थिति उपस्थित करना चाहता था। इस क्रान्तिकारी दल के सदस्यों के प्राण सदैव खतरे में रहा करते थे, और उन्हें सर्वदा गिरफ्तार होकर मृत्यु-दण्ड पाने की सम्भावना बनी रहती थी। अतः गिरफ्तार होने पर अपने दल से सम्बन्धित गुप्त रहस्यों को पुलिस को बताने के पूर्व वे आत्म-हत्या कर लेते थे। यह आश्चर्य का विषय है कि नारियां जीवन की इस भयंकरता से भयभीत नहीं हुईं

और इन क्रान्तिकारी दलों के सदस्यों में उनकी संख्या सबसे अधिक थी। इन नारियों ने जासूसी, एक स्थान से दूसरे स्थान तक संदेश पहुंचाने, पुलिस अधिकारियों के यहां प्रेम का स्वांग रच कर आवश्यक कागजातों को उठाने तथा चन्दे एकत्रित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। क्रान्तिकारी दलों की कार्य पद्धति से भले ही कोई असहमत हो, पर उनकी देशभक्ति असन्दिग्ध थी। यशपाल ने अपने कुछ उपन्यासों में क्रान्तिकारी दलों से सम्बन्धित इन्हीं महिलाओं का बड़ा सजीव चित्रण किया है।

यह तो हुआ ही, कांग्रेस की नीतियों को निर्धारित करने और स्वाधीनता संग्राम को विभिन्न दिशाओं में सचालित करने के महती कार्यों में भी इन नारियों ने बराबर भाग लिया, और अपनी अपूर्व प्रतिभा, दक्षता एवं असाधारण तर्क शक्ति का परिचय दिया। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट और श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि अनेक नारियों ने कांग्रेस की कार्य समितियों में भाग लेकर अपनी सूझ बूझ और विचारों से नई शक्ति दी तथा इन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में स्वाधीनता आन्दोलन का नेतृत्व किया। जेल जाने में भी नारियाँ पुरुषों से पीछे नहीं रहीं। उन्होंने जब कभी अवसर देखा, जेल जाकर राष्ट्रीय आन्दोलनों को नवीन दिशाएं प्रदान कीं। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलनों में नारियों का महत्वपूर्ण योगदान है, और स्वाधीनता प्राप्त करने के संघर्ष में अपने उत्तरदायित्व को उन्होंने सफलतापूर्वक वहन किया है।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम में नारियों ने जो महत्वपूर्ण योगदान दिया, उससे उनके सामाजिक एवं राजनीतिक महत्व में वृद्धि हुई। गांधी जी के अतिरिक्त तत्कालीन अन्य राजनीतिक नेताओं को नारियों की शक्ति पर पूर्ण विश्वास न था, और वे उन्हें महती उत्तरदायित्व सौंपे जाने के पक्ष में न थे। वे गांधी जी से पुरुषों के ही कन्धों पर समस्त उत्तरदायित्व सौंप देने को कहा करते थे, पर गांधी जी इसे कभी स्वीकार नहीं करते थे। बाद में उन नेताओं की आवाज स्वतः ही बन्द हो गई। वस्तुतः नारियों ने अपने अधिकारों के लिए सतत प्रयत्न किया, जो मानवीय इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है।[१] इस संघर्ष का परिणाम अच्छा ही हुआ। नारियों को सामाजिक, राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने से उनकी स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। १९४० में भारतीय विधान सभाओं में ८० महिलाएं प्रतिनिधित्व कर रही थीं। वे बराबर नारियों को सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने के लिये प्रयत्नशील थीं। नारियों में जागरूकता अत्यन्त तीव्रता से वृद्धि प्राप्त कर रही थी। १९०४ ई० में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में टैगोर परिवार की एक

१ "Freedom and equality are the basis of human development. Women fought for them, and their great struggle has remained a landmark in human history."

—वाई० एम० रीग, 'ग्रेटर वुमन ?', (१९३८), बम्बई, पृष्ठ २७२।

सदस्या श्रीमती सरलादेवी चौधरानी ने एक समूह का नेतृत्व करते हुए 'वन्देमातरम्' गीत गाकर महिलाओं की वास्तविक स्थिति की सूचना दी थी। १६१७ में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन मे प्रथम बार एक महिला अध्यक्षा श्रीमती एनी बेसेन्ट चुनी गई, और उन्होने समस्त देश मे भ्रमण कर महिलाओ का सगठन किया, जिससे उनमे साहस, आत्म-विश्वास और अपूर्व उत्साह उत्पन्न हो सके। १६१६ से ही एक अन्य महिला श्रीमती सरोजिनी नायडू राजनीति के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कार्य कर रही थी। वे प्रभावशाली भाषण देने के लिये प्रख्यात थी। १६२८ मे बीजापुर (बम्बई) मे वे कांग्रेस की अध्यक्ष निर्वाचित हुई। इसके पूर्व वह अनेक राजनीतिक एव विद्यार्थी कान्फ्रेन्सों की अध्यक्षा रह चुकी थी। डा० मुट्ठुलक्ष्मी रेड्डी भारतीय विधान सभाओ मे स्थान प्राप्त करने वाली प्रथम महिला थी। उनका निर्वाचन निर्विरोध हुआ, जब उनका नाम शीघ्र ही मद्रास विधान परिषद् के उपाध्यक्ष पद के लिए प्रस्तावित किया गया। वे इस पद पर तीन वर्ष तक रही, जब कि उन्होंने सरकार द्वारा महात्मा गाँधी को गिरफ्तार कर लिए जाने के विरोध मे इस्तीफा दे दिया। इस प्रकार प्रारम्भ से ही नारियो ने सिद्धान्तों के सम्मुख अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को कभी महत्व नही दिया।

इसी समय नारियो ने म्युनिस्पिल कौंसिलो के चुनाव मे भाग लेना प्रारम्भ किया, और उसमे उन्हे बहुत सफलता प्राप्त हुई। बम्बई मे श्रीमती सरोजिनी नायडू को मेयर बनने के लिये आमन्त्रित किया गया। यह नारियों की परिवर्तित सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का परिचायक था। १६२६-३२ के असहयोग आन्दोलन मे बन्दी होने वाली श्रीमती सरोजिनी नायडू प्रथम भारतीय महिला थी। १६३७ मे जब प्रान्तो में कांग्रेस ने सरकारे बनाई तो अनेक महिलाओ ने मन्त्रीपद का भार ग्रहण कर देश की प्रगति मे सराहनीय योग प्रदान किया। अनेक विदुषी महिलाओं ने नारियो के सामाजिक एवं राजनीतिक सगठन स्थापित कर जिस प्रकार स्वाधीनता संग्राम में कार्य किया है, वह प्रशसनीय है ही, उनके बराबर का उदाहरण विश्व के इतिहास मे कदाचित् कम ही प्राप्त होगा।

नवीन शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पन्न जीवन की जिन नवीन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया, उनसे समग्र जीवन के साथ-साथ नारी-जीवन का भी प्रभावित होना अवश्यभावी था, क्योंकि नारी जीवन का अविभाज्य अंग है। आलोच्यकाल मे भारत की आधुनिक नारी का जन्म हो चुका था। अब वे पिछडी हुई, अथवा कमरे की चार-दीवारी मे बन्द रहने वाली अज्ञान की गठरी मात्र नहीं, हमारे सामाजिक जीवन मे बराबर की साझीदार थी। उसने पुरुष की तुलना में अपनी हीनता अथवा दीनता प्रदर्शित न कर अनेक महत्वपूर्ण कार्यों को अपने हाथो में ले रखा है, जिसका वह सफलतापूर्वक निर्वाह भी कर रही है। आज समाज मे उसका जो सम्मान है, राष्ट्र के नव-निर्माण एव नवीन रचना-प्रक्रिया मे उसका जो प्रमुख

सहयोग है, वह वस्तुत उसकी योग्यता, धैर्य साहस एव सहिष्णुता का परिचायक है। सामाजिक जीवन मे ही नही, उसने हमारे पारिवारिक जीवन का भी टूटन नही दिया है। उसने उसे भी अनुपम गरिमा प्रदान की है, तथा सामाजिक एव राजनीतिक कार्यों के साथ ही उसने अपने जीवन म पारिवारिक कार्यों का सुन्दर समन्वय कर लिया है, जो उसे सही अर्थों म गरिमा प्रदान करता है। इस नारी-जीवन की नीव उन्नीसवी शताब्दी मे पडी थी। ऐसी ही नारी आलोच्य काल के उपन्यासो की नायिका बनी।[1]

---

१ विशेष विवरण के लिए अध्याय छ, सात एव आठ देखिए, जिनमे इन्ही हा नायिकाओ एव प्रधान नारी पात्रो की सोदाहरण समीक्षा की गई है।

अध्याय २

सिद्धांत पक्ष और उपन्यासों में नारी चित्रण

आधुनिक काल और उपन्यास

भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् ही हिन्दी साहित्य में आधुनिक-काल का प्रारम्भ होता है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होने लगा था और देश में नवीन चेतना का प्रसारण हो रहा था। धार्मिक रूढ़ियां और परम्पराएं धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी, और गद्य का प्रसार अत्यन्त तेजी से हो रहा था। ऐतिहासिक घटना-चक्र के अनुसार १९वीं शताब्दी के भारतवर्ष में एक नवीन युग की अवतारणा हुई। उस समय भारतवासियों का पश्चिम की एक सजीव और उन्नतिशील जाति के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। यह जाति अपने साथ यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के बाद की सभ्यता लेकर आई थी। उसके द्वारा प्रचलित नवीन शिक्षा-पद्धति, वैज्ञानिक आविष्कारों, और नवीन प्रवृत्तियों से हिन्दी साहित्य अछूता न रह सका (दे० पहला अध्याय)। शासन सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा जीवन की नवीन परिस्थितियों के कारण गद्य जैसे नवीन साहित्यिक माध्यम की आवश्यकता हुई, और गद्य के द्वारा ही हिन्दी में आधुनिकता का बीजारोपण हुआ (उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में) न कि काव्य द्वारा।[1] सन् १८५७ ई० की क्रान्ति के पश्चात् हिन्दी गद्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। वास्तव में गद्य साहित्य का आविर्भाव तथा विकास भारतीय जीवन में उस चरम-लक्ष्य की ओर संकेत करता है, जिसके अनुसार हिन्दी साहित्य मध्य-युगीन वातावरण से बाहर निकल कर नवीन वैज्ञानिक चेतना और आधुनिकता की सीमाओं में प्रवेश कर सका। हिन्दी का समस्त गद्य साहित्य हमारे जीवन के परिष्करण और विकास का नवीन साहित्य है। गद्य के माध्यम से ही हम विदेशों के नवीन उन्नतिशील साहित्य, नवीन विचारों और क्रान्तियों के सम्पर्क में आए और परिणामस्वरूप उत्पन्न नवीन वातावरण में अपने देश और साहित्य के नव-निर्माण एवं विकास की प्रक्रिया में प्रयत्नशील हुए। प्रथम बार हमारा साहित्य

---

१. डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियां, (राजकमल प्रकाशन, बम्बई), निबन्ध संग्रह की भूमिका, पृ० २।

विविध विषयों को अपनी सीमा में समेटने में समर्थ हुआ। गद्य में विभिन्न रूपों और शैलियों के अन्वेषण के प्रति लोगों में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। इससे गद्य के नवीन रूप सामने आने लगे। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों, शिक्षा के प्रसार, नवीन आर्थिक संगठन तथा यातायात के साधनों के विकास एवं प्रेसों की स्थापना के कारण हिन्दी प्रदेश का सम्पर्क विश्व के अन्य भागों और वहां के साहित्य से स्थापित हुआ, और उसे एक नवीन दृष्टि प्राप्त हुई। इसके परिणामस्वरूप शैली में विविधता उत्पन्न हुई। विषय की कोई कमी था नहीं। इस काल में विभिन्न सुधारवादी आन्दोलन चल रहे थे जो जनता में नवीन चेतना के प्रसारण का सराहनीय कार्य कर रहे थे। हिन्दी साहित्य इस नवीन जागरण के सम्पर्क से कैसे अछूता रह सकता था पर सुधारवादी सनातनधर्मियों के हाथ में बागडोर होते हुए भी हिन्दी साहित्य आर्य-समाज से प्रभावित हुए बिना न रह सका, उसने साहित्यिकों को तरह-तरह के विषय सुझाए[1] और विषयों में वैविध्य उत्पन्न हुआ।

हिन्दी साहित्य का यह विविधतापूर्ण सम्पन्न गद्य खड़ी-बोली गद्य था, जो प्रेस जैसे वैज्ञानिक साधन की सहायता से अधिकाधिक प्रचलित और मुद्रित विविध-विषय सम्पन्न एवं पुष्ट होता जा रहा था। आधुनिक युग में उपन्यास खड़ी बोली की ही विशेषता है। कथाओं आख्यायिकाओं आदि की रचना तो आधुनिक काल से पूर्व भी हुई थी और 'उपन्यास' शब्द भी प्राचीन है किन्तु जिस उपन्यास साहित्य से आज हम परिचित हैं वह आधुनिक काल की ही देन है और उसका जन्म नवीन आर्थिक संगठन के फलस्वरूप उत्पन्न मध्यवर्ग और आधुनिक रूप में शिक्षित मध्यवर्ग की सुधारवादी प्रवृत्तियों के कारण हुआ। वास्तव में हिन्दी उपन्यासों और नाटकों, दोनों का सुधारवादी आन्दोलनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक उपन्यास साहित्य का जन्म १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। मानव जाति आदिम काल से कथा साहित्य का आश्रय लेकर अपना मनोरंजन करती चली आ रही है। कथा प्रेम की इस मनोवृत्ति ने विश्व-साहित्य की बहुत बड़ी पूर्ति की है। धन धान्य से पूर्ण भारतवर्ष के ऋग्वेद ब्राह्मणों, उपनिषदों, बौद्ध और जैन साहित्य में हमें कथा-साहित्य का प्रारम्भिक रूप देखने को मिलता है। उनमें समाज नीति राजनीति, धर्मनीति तथा दर्शन आदि जैसे गम्भीर विषय सरल और सुगम रीति से समझाए गए हैं। साथ ही मनोरंजन करने तथा जीवन की छोटी-छोटी बातों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री भी प्रचुर मात्रा में मिलती है। कथा प्रेम की इसी मानव प्रकृति की उद्भावना निमित्त की प्रेरणा से संस्कृत में पंचतंत्र, हितोपदेश, वैतालपंचविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका, शुकसप्तशती, सोमदेव कृत कथासरित्सागर, गुणाढ्य कृत बृहत्कथा और क्षेमेन्द्र कृत बृहत्कथामंजरी

---

१ डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य (सम्मेलन पत्रिका), पृष्ठ ७४।

आदि साहित्य की रचना हुई। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक और मध्य-युगों मे काव्य का एकाधिपत्य होने के कारण गद्य मे हमे कथा साहित्य का साक्षात्कार नहीं होता। परन्तु १०वीं शताब्दी मे गद्य का प्रचार हो जाने से हिन्दी मे भी उसका आगमन हुआ।[1] हिन्दी का प्रथम मौलिक साहित्यिक उपन्यास लाला श्रीनिवास कृत "परीक्षा गुरु" (१८८२) है,[2] किन्तु इसमे उपन्यासकला और मनोवैज्ञानिक चित्रण का सर्वथा अभाव है। इसी काल में उपन्यासों का अनुवाद-कार्य भी प्रारम्भ हुआ। इसमे बाबू रामकृष्ण वर्मा और बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री का विशेष योगदान रहा है। गोपाल राम गहमरी ने बगला के अनेक उपन्यासो का अनुवाद किया। उपन्यास कला में प्रगतिशीलता और आधुनिकता लाने का वास्तविक कार्य किशोरी लाल गोस्वामी ने किया। १८९० में राधाकृष्ण दास ने "निस्सहाय हिन्दू" नामक उपन्यास की रचना की जिसमे मुसलमानो की धर्मान्धता तथा हिन्दुओ की शोचनीय स्थिति का कारुणिक वर्णन किया गया है। बालकृष्ण भट्ट कृत "नूतन ब्रह्मचारी" (१८८६), "सौ अजान एक सुजान" (१८९२) आदि उपन्यासो ने भी उपन्यास कला के विकास मे अपना योग प्रदान किया। हिन्दी मे उपन्यास के साहित्यिक रूप का विकास बीसवी शताब्दी में हुआ।

उपन्यास साहित्य प्रारम्भ से ही सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर आया था। वास्तव मे उस समय नाटक के बाद उपन्यास ही वह साधन था, जिसके माध्यम से समाज के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। नैतिकता के उत्थान के लिए भी प्रयत्न किया गया। प्रेमचन्द के हाथो मे पड़कर उपन्यास साहित्य मे और अधिक निखार आया, और विकास के उच्च स्तर तक पहुँच गया। प्रेमचन्दोत्तर-काल मे तो उपन्यास सर्वाधिक लोकप्रिय हुए और उनके पाठको की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई।

वास्तव मे उपन्यास आधुनिक काल में गद्य रूप मे सर्वाधिक प्राणदायक साहित्यिक विधा है। यह नवीन युग की नवीन अभिव्यक्ति का सर्वथा नया रूप है। साहित्य के रूपों के उद्भव के सम्बन्ध मे यह एक अखण्ड सत्य है कि ये व्यक्ति एव युग के शाश्वत और सामयिक रसायन का परिणाम होते है। आत्म-रक्षा और आत्म-प्रसार मानव के दो जन्मगत मूल भाव है। जन्म के साथ ही व्यक्ति अपना

1. डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य, (१९५४), इलाहाबाद, पृ० १०९।

2. यद्यपि "परीक्षागुरु" के पूर्व भारतेन्दु का उपन्यास "पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा" प्रकाशित हो चुका था, पर वह मराठी उपन्यास से प्रभावित था। अत: उसे पहला मौलिक उपन्यास स्वीकार नहीं किया जा सकता। —देखिए—डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी-साहित्य, (१९५४), इलाहाबाद, पृ० १०३।

सम्पर्क विविध क्षेत्रों से स्थापित कर अपने ज्ञान और बुद्धि का अधिकाधिक प्रसार करना चाहता है, दूसरी ओर वह अपनी आत्म रक्षा को भी प्रस्तुत करता है । इस प्रकार उसमे परस्पर विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । "प्रसार" किसी न किसी रूप मे "गति" का पर्याय और द्योतक होता है, और सकोच" भय का । गति और भय जिस सद्वृत से सम्बन्धित हैं उस सह को सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है । वाणी भी स्वय मनुष्य की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है । वाणी की सहायता से "प्रसार" भी रक्षा का आक्रामक माध्यम हो जाता है । वाणी की जितनी भी अभिव्यक्तिया हो सकती है, उन सब मे "प्रसार-रक्षा" का द्वन्द्व विद्यमान मिलेगा । वाणी जब भाषा का आवरण ग्रहण कर लेती है, तब भी वह अपनी मूल प्रकृति के साथ ही रहती है । भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त भाव "साहित्य" होकर उनके विविध रूपो मे बिखर जाते हैं और प्रसार-सकोच के युगीन सम्बन्धो से वे रूपो मे ढलते जाते हैं । उपन्यास भी इसी प्रकार का एक रूप है, जो युगीन प्रक्रिया का स्वरूप है । प्रश्न उठता है कि उपन्यास की उद्भावना क्या हुई ? औद्योगिक क्रांति वैज्ञानिक अनुसधान से उद्भूत क्रांति ने मनुष्य के बुद्धि पक्ष को प्रबल किया । मनुष्य अधिकाधिक बौद्धिक होता चला गया और जैसे जैसे इस बौद्धिकता का विकास होता गया, वैसे ही वैसे उपन्यासो के रूप और अर्थ भी विकसित होते गये । युग के नवीन आविष्कारो के क्रोड मे नवीन क्रांतियो का जन्म हुआ और क्रांतियाँ एक दूसरे से सूत्र मे जुडी हुई विवर्तित होती चली आई है । आधुनिक युग से पूर्व का युग 'भूमि निर्भर' युग था जिसमे व्यक्ति और उसका कर्म अत्यन्त सीमित था और प्रकृति के आश्रित था । धीरे धीरे मनुष्य मे एक नूतन सृष्टि की भावना का उदय हुआ और उपन्यास इसी न्यूनता की प्रतिकृति है । युग की आवश्यकता और नूतनता के प्रयोग मे सबसे पहला कार्य तो यह किया कि जहाँ कथा कहानी के व्यक्ति को कथा कहानी लोक के प्राणी जगत से यथार्थ जगत का प्राणी बनाया, वहाँ उसने उस प्राणी के चारो ओर व्याप्त आतक-चक्र को भी उद्भेदित कर दिया उसमे उद्भव करने के तत्व समाविष्ट हुए । मानवीय दुर्बलताए और मानवीय सबलताए सभी आई । पर सबसे अधिक इस प्रयोग मे जो तत्व प्रधान हुआ था, वह प्रत्यक्षत वैज्ञानिक युग की प्रकृति की देन था—मानव का अनुसधान । प्रकृति के नये आविष्कारो के नूतन परिणाम सामने आ रहे थे, और मनुष्य को भी नवीन वैज्ञानिक परीक्षण का विषय बनाया गया । मनुष्य इस अध्ययन मे भी कुछ का कुछ रूप ग्रहण कर रहा था, वह स्वय अपनी ही दृष्टि मे कुछ और होने लगा था—और तब उसके सामाजिक क्षेत्र पर भी अनुसधानात्मक दृष्टि पडी । वैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि से ही उस क्षेत्र का अनुसधान किया गया । उससे मानवीय तत्वो से तो परिचय प्राप्त हो सकता था किन्तु स्वय सजीवन मानव की सत्ता समाप्त हो जाती थी । पर सबसे बडी आवश्यकता इसी मानव को समझने, उसे पहचानने, उसकी शक्तिया की माप करने उसकी प्रवृत्ति बुद्धि और रूप के यथार्थ अनुसधान की थी और इस अन-

संधान की आवश्यकता थी जिसमें मानवीय सत्ता अक्षुण्ण बनी रहे, समाप्त न हो जाय। यह कार्य उपन्यास ही सफलतापूर्वक कर सकता था क्योंकि उसका माध्यम गद्य था, उसका विषय मानव सम्बन्धों और उनकी मानसिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करना था, उसका धरातल यथार्थ की भूमि पर था और उसकी प्रकृति जीवनमयी थी। यही कारण था कि आधुनिक युग में उपन्यास सर्वाधिक महत्वपूर्ण साहित्यिक विधा बन गया और इतना लोकप्रिय हुआ[१]। उपन्यास में हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता, हमारा विकास क्रम और हमारा युगीन जीवन जितने समवत रूप में अभिव्यक्त हो पाता है उतना किसी अन्य साहित्यिक विधा में नहीं। कहानियाँ जीवन के अंश विशेष का प्रतिपादन करती है, कविता किसी भाव विशेष को प्रकट करती है, और नाटक चित्रपटों की बढ़ती लोकप्रियता के कारण स्वयं ही लोक-प्रिय होने लगे। अतः उपन्यास ही एकमात्र ऐसा साहित्यिक माध्यम था जिसके द्वारा मानव जीवन का चित्रण सरलता से किया जा सकता था। आज मानव जीवन कोई भी स्वयं में पूर्ण नहीं है, सभी खण्डित है। सभी की आस्थाएं टूटकर बिखरी हैं, सभी के स्वप्न अपूर्ण रहे है, सभी की आकाक्षाएं और कामनाए अतृप्त रही है। आज का मानव जीवन जीने की एक विवशपूर्ण प्रक्रिया है। असंतोष और अशांति के मध्य व्यक्ति चाहता है नवीन दिशा, नवीन मान्यताएं, जीवन के प्रति गहन आस्थाएं सहज मानवीय संवेदनाएं और अंधियारे के बादलों को चीरकर प्रकाश का वह देदीप्यमान, पुंज जिसमें उसका मार्ग प्रशस्त हो सके। यह सब उसे उपन्यास में सहज रूप से प्राप्त होता है, जिसमें जीवन की समग्रता होती है, मानवीय जीवन से सम्बन्धित नवीन पहलुओं का उद्घाटन होता है और जीवन की गरिमा प्रतिष्ठित करने का प्रयास होता है। उपन्यास वस्तुतः मानव जीवन का गद्य रूप में महाकाव्य होता है, जिसमें मानव अपने व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख, आशा-निराशा, घृणा-प्रेम, सफलता-असफलता, जय-पराजय सभी कुछ तो देखता है और उसका नवीन ढंग से विवेचन कर अपने जीवन में सन्तुलन स्थापित करने में प्रयत्नशील होता है, जिसमें उपन्यास उसके मार्ग-प्रदर्शक सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि पाठक अधिक से अधिक उपन्यासों में

---

१. "The novel today is the most vigorous of all literary forms. It obviously takes precedence over all others The novel is the form in which our culture has most often sought expression it is the only form that seems able to express our experience, and there is nowhere any sign that its power or will is slacken-ing In no country whose culture seeks expression in literature is their any sign of decadence. Everywhere today the novel comes to close to being the whole imaginative literature that distinction in any other form is so frequent as to cause surprize."

—बर्नार्ड डी वोटो : द वर्ल्ड ऑव फिक्शन, पृ० २६६।

अपना निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर जीवन के वैविध्य से परिचित होने का प्रयास करता है और उनके निष्कर्ष में अपने जीवन की विकृतियों को गति प्रदान कर सकने में सफल होता है। अपनी इसी महत्वपूर्ण विशेषता के कारण उपन्यास आज एक प्रमुख साहित्यिक विधा के रूप में विद्यमान है।

उपन्यासों की लोकप्रियता और प्रमुखता का एक अन्य कारण यह भी था कि अवकाश में जी रमाने का उपन्यास से अच्छा साधन और माधन न था। उपन्यास मानव जीवन के अनुभवों का प्रतिबिम्ब होता है। वह मानवीय अनुभव की सीमा का विस्तार करता है और जादू के खेल की भांति जीवन के सारे रहस्य निरावरण कर हमारे सम्मुख उपस्थित करता है'। वास्तव में उपन्यास ने हमारे सामने प्रथम बार एक नवीन यथार्थ प्रस्तुत किया। यथार्थ वही सत्यानुभूति में प्रेरित शक्ति है जो समाज का सर्वांगपूर्ण चित्र रेखांकित कर सकने में समर्थ होता है। उपन्यास साहित्य ने प्राचीन रूढ़िवादी परम्पराओं में कभी अपना विश्वास नहीं प्रकट किया। उसने जीवन के नवीन आधारों का अन्वेषण किया और सामयिकता की अनुभूति में अपनी आस्था प्रकट की। इस नवीन यथार्थ के रूप में उपन्यास साहित्य ने उस परम्परा में अपना अविश्वास प्रकट किया जो केवल मात्र अपनी प्राचीन मान्यताओं के आधार

---

१ "Novels increase the circumference of our experience They talescope life times into reading time and so open more lives to us than the span of our day Part of what we know about man and his state come to us through the gate that fiction opens For a moment there has been a heightening, the flame has burned hotter and given more light Whether it shines on life's horror, its mediocrity or its fortitude something has been added to us We have learned much when we have looked at a page and found people caught up in circumstances

The magic operation goes further Not only psychiatry strips away successive layers To the shock of recognising a real thing and finding meaning in it, arts adds another shock for it brings us to the mist that lies beyond If the substance of fiction is so refined that we can coast the whole shoreline of life in a few hours and explore the wildness in land from the coast, it leads on to strangeness If the miniature of fiction concentrate what is to be learned in the land distant to Henry Thohean, it concentrates the mystery all travellers come to know levels of significance lie in strate, one below another Life has not only been revealed it has been criticised and appraised under a strong light"

—बर्नार्ड डी वोटो द वर्ल्ड ऑफ फिक्शन, पृ० २९६।

पर जीवित रहना चाहते हैं, अपनी वास्तविकता एवं यथार्थता का हनन करके उपन्यास साहित्य ने आत्मप्रवंचना को आत्मसात करना श्रेयस्कर नहीं समझा। समाज में उत्पादन एवं वितरण की विषमता, शोषण, राष्ट्रीय आपदा दुरुपयोग एवं दिन प्रतिदिन गिरता हुआ नैतिक स्तर आदि ऐसी अनेक विकृतियाँ हमारे जीवन में हैं, जो समाज एवं राष्ट्र की प्रगति को कुंठित कर देना चाहती हैं। उपन्यास साहित्य ने इन कुत्सित वृत्तियों का हनन करने वाली शक्तियों को बल प्रदान किया। अतः मानव ने जब भी जीवन की व्यस्तता और विषमता से परिपूर्ण कटुता से दूर शांति प्राप्त करने का प्रयास किया, उपन्यास से बढ़कर उत्तम साधन कोई सिद्ध न हो सका। उपन्यास चाहे सामाजिक हो, या राजनीतिक हो, या ऐतिहासिक हो, पाठकों को पढ़ने में एक विशेष प्रकार के आनन्द तत्व की उपलब्धि हुई, और उपन्यास मनोरंजन का साधन बन गये। पाठकों ने उपन्यास में एक नये कल्पित संसार का आभास पाया, जिसे वह ईश्वरीय सृष्टि के भीतर उपन्यासकार की सृष्टि की संज्ञा देने लगा। सिनेमेटोग्राफ की भाँति उसे उपन्यास में घटनाओं के कुशल संगुफन में इतना अधिक मनोरंजक तत्व प्राप्त होने लगा कि वह जब भी अवकाश पाने लगा, उपन्यासों के अध्ययन के पीछे प्रवृत्त हुआ। उपन्यासों से मनोरंजन नहीं सिद्ध हुआ, उससे लोगों के विशद ज्ञान और अनुभव की भूख भी शांत हुई। आगे चलकर दर्शन, मनोविज्ञान और इसी प्रकार के अन्य जीवन सम्बन्धी गम्भीर सूत्रों की व्याख्याएँ उपन्यास में कथा के माध्यम से की जाने लगीं, और प्रबुद्ध पाठक, जो शास्त्रीय ज्ञान की पुस्तकों को पढ़ने में नीरसता का अनुभव करता था, उपन्यासों को अपने अवकाश के समय अधिक रुचि के साथ पढ़ने लगा और वह उसे मनोरंजन के साथ ज्ञानोपलब्धि का उच्च साधन प्रतीत होने लगा।

उपन्यास क्या है ?

"उपन्यास" शब्द संस्कृत के "अस्" धातु से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होना है—'रखना" अनुक्षेपण)।[1] "उप" और "नि" पूर्वक "अस्" धातु में घञ् प्रत्यय जोड़ने से ही "उपन्यास" शब्द बना है। इस आधार पर "उपन्यास" का अर्थ हुआ, वह रचना जिसमें जीवन के अनेक पक्षों का प्रक्षेपण निकट या समीप से किया गया हो। उप का अर्थ समीप तथा न्यास का अर्थ थाती ग्रहण कर उपन्यास की संज्ञा ऐसी रचना को दी जा सकती है जिसे पढ़कर अपने जीवन की वास्तविक यथार्थवादी प्रक्रियाओं का आभास हो, और निकटता की अभिव्यक्ति हो। संस्कृत नाट्य शास्त्रीय ग्रंथों में उपन्यास" पूरक की प्रतिमुख संधि के एक उपभेद की संज्ञा है। इस संदर्भ में उसका अर्थ "प्रसादन" का लिया गया है। (उपन्यासः प्रसादनम्)।

---

१. विश्वनाथ "साहित्य-दर्पण" षष्ठ परिच्छेद, (जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य कलकत्ता, १८३४), श्लोक ३६७, पृ० ४२० ।

इसकी दूसरी व्याख्या के अनुसार 'सत्य' को युक्ति युक्त रूप में उपस्थित करना ही उपन्यास है।[1]

उपन्यास में वास्तविक की काल्पनिक कथा का समावेश होता है। प्रेमचन्द के अनुसार उपन्यास मानव चरित्र का चित्र है। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।[2] इस परिभाषा के अनुसार देवकी नन्दन खत्री के उपन्यासों अथवा 'किस्सा गुलबकावली' या 'भूतनाथ' आदि को उपन्यास की सीमा से बहिष्कृत करना होगा क्योंकि उनमें कथाएं मनोरंजन एवं कौतूहल की चरम सीमा उत्पन्न करने के लिए कही गई हैं मानव मन की गुत्थियां को सुलझाने का प्रयास उनमें नितान्त रूप से नहीं है और न उनका वह उद्देश्य ही था। एक अन्य आलोचक के अनुसार उपन्यासों में मानव जीवन की अभिव्यक्ति होनी है।[3] पर इस परिभाषा को भी प्रेमचन्द के कथन के अनुसार ही स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयां हैं। इनके अनुसार यदि किसी रचना में पशु-पक्षियों की कथा का वर्णन हो, अथवा प्रकृति की निर्जिवता में भी प्राणों का सवेग सचारित कर उस कथा का माध्यम बनाया जाय, तो उसे उपन्यास की सज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें मानव जीवन की अभिव्यक्ति का पूर्ण अभाव रहेगा। यह परिभाषा उपन्यास को अत्यन्त सकुचित सीमा में आबद्ध करती है। एक अन्य आलोचक के अनुसार "—समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियां उत्पन्न हो रही हैं उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकते हैं।—लोक किसी जन समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियां खड़ी होती रहती हैं, उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।"[4] उपन्यास की यह परिभाषा अत्यन्त विश्लेषणात्मक है और इससे उपन्यास की आत्मा की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। पर उपन्यास में मनोरंजन तत्व भी प्रमुख होता है, इस परिभाषा में इस पर ध्यान नहीं दिया गया है। उपन्यास वस्तुतः मात्र दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन, राजनीतिक नारेबाजी, प्रचारात्मक अखाड़ेबाजी,

---

1 उपपत्तिकृता हृयय उपन्यास सकीर्ति', वही पृष्ठ ३७३।

2 प्रेमचन्द कुछ विचार, चौथा सस्करण, १९४६, बनारस, पृ० ३८।

3 'This was a great step towards the mod rn novel, as defined by Earnest A Baker, the interpretation of human life by means of fictions prose in narrative

—रिचर्ड चर्च द ग्रोथ ऑव इगलिश नॉवल (१९५१) लदन, पृ० ८।

4 रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, (सवत् २००८), बनारस पृ० ४५०।

अथवा मात्र चिन्तन का साधन नही है, अपितु उसमे कोई कथा कही जाती है, जिसका उद्देश्य प्रमुख रूप से मनोरंजन होता है। दर्शन, मनोविज्ञान अथवा तर्कशास्त्र आदि के सैद्धांतिक विवेचन से पाठको को जो कसरत और परिश्रम करना पडता है, उपन्यास वास्तविक अर्थ मे उससे दूर रहता है। उपन्यास मे दर्शन, मनोविज्ञान तथा अन्य शास्त्रो का समावेश इस रूप मे किया जा सकता है, कि उससे उपन्यास की मनोरंजकता किसी भी रूप मे न्यून न हो, या नष्ट न हो। पर इसके विपरीत उपन्यास की रचना करने से उपन्यास का वास्तविक अर्थ नष्ट हो जाता है, और उस कृति को उपन्यास शब्द की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता, उसे कुछ अन्य भले ही कहा जा सकता है। वास्तव में उपन्यास में सुन्दर कथानक और भली भाँति चित्रित पात्र होते है।[१]

उपन्यास की अन्य अनेक परिभाषाएं भी है।[२] सभी परिभाषाओं मे एक बात प्रमुख रूप से साम्य रखती है, कि उपन्यासो मे मानवीय अनुभवों का समावेश

---

१. "A Novel is a work of fiction containing a good story and well drawn characters."

—नार्मन कजिन्स द्वारा सम्पादितः राइटिंग फॉर लव अॅंड मनी, (१९४९), लागमैन ग्रीन एन्ड कम्पनी, कनाडा, नामक पुस्तक में एडिथ व्हार्टन का निबन्ध।

२. They (novels) are prose translations of ideas into the language of human life being lived — the translation must be made with such an accuracy as to increase the reader's knowledge of his own self '

—इग वोल्फर्ट : व्हाट इज ए नावेल ऐंड व्हाट इज इट गुड फार, (१९५०) न्यू० यॉ०, ८।

"A novel is in its broadest definition, a personal, a direct impression of life "

—हेनरी जेम्सः द आर्ट ऑव फिक्शन, (१९४८), न्यूयार्क, पृ० ८।

"The novel is typically a representation of human experience whether liberal or ideal and therefore, inevitably a comment upon life. '

—हरबर्ट जे० मुल्लर : माडर्न फिक्शन, ए स्टडीज़ आव वैल्यू, पृ० १४।

"The novel—as I use the term in this book—as a realistic prose fiction complete in itself and of a certain length."

—आर्नोल्ट कैटिल : एन इन्ट्रोडक्शन टू द इंगलिश नावेल (लन्दन), पृ० २८।

"The novel is a picture of real life and manners, and of the times is which it was written

—क्लारा रीव : प्रोग्रेस आव रोमांस, (१७८५), पृ० १८।

होता है। इन अनुभवों को किन्हीं सीमाओं में बाँध कर सीमित नहीं किया जा सकता है। उस दिशा का प्रयास कदाचित दुराग्रह के अतिरिक्त कुछ भिन्न अर्थ न रखेगा। मानवीय अनुभव की सीमा अनन्त है। वह विज्ञान का क्षेत्र स्पर्श करती है, पशुपक्षियों या इसी प्रकार के अन्य जीव प्राणियों से अपना तादात्म्य स्थापित करती है उसका सम्बन्ध निर्जीव प्रकृति से होता है तथा गगन मण्डल तक उसकी दृष्टि की परिधि विस्तृत रहती है इनमें वह जो अनुभव प्राप्त करता है उपन्यास की रचना उन्हीं के आधार पर होती है। सच तो यह है कि उपन्यास स्वयं इतना व्यापक अर्थ रखता है कि उसे परिभाषाओं की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। उसकी प्रमुख विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए उपन्यास की परिभाषा के सम्बन्ध में मेरे विचार से इतना ही कहा जा सकता है कि—

उपन्यास में कल्पना के माध्यम से कोई कथा प्रस्तुत की जाती है—जिसका आधार मानव, अन्य जीव प्रणाली, निर्जीव प्रकृति अथवा कोई भी हो सकता है। इस कथा में मनोरंजक तत्वों की पूर्ण रक्षा की जाती है।

यद्यपि अनेक दृष्टियों से यह परिभाषा भी पूर्णरूपेण सार्थक सिद्ध न होगी, किन्तु 'उपन्यास'' की अभिव्यक्ति में इससे पर्याप्त सीमा तक सहायता प्राप्त हो सकती है। पर यह निश्चित है कि उपन्यास का क्षेत्र दिन प्रतिदिन इतना व्यापक होता जा रहा है कि उसकी कोई उचित परिभाषा देने में असमर्थता बनी रहेगी। स्वयं हिन्दी में ही उपन्यास साहित्य के प्रारम्भिक काल से आज तक परिस्थितियों में इतना परिवर्तन हुआ है कि यदि उसे किसी परिभाषा के क्षेत्र में समेटा जाय तो प्रायः असम्भव सा होगा। प्रारम्भिक युग में उपन्यासकारों की दृष्टि में उपन्यास केवल मात्र मनोरंजन अथवा कौतूहल उत्पन्न करने के लिए रचे जाते थे। बाद में उनका उद्देश्य उपदेशात्मक अथवा सुधारात्मक हो गया। आज केवल मनोविज्ञान अथवा मनोविश्लेषण के माध्यम से व्यक्ति की परीक्षा, उसके अन्तस का अध्ययन करके ही जा रही है, और उपन्यासकारों में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उपस्थित हो गया है।[1] आज मनोरंजन उपन्यास का उद्देश्य नहीं है। ''शेखर एक जीवनी' ''संन्यासी' 'कल्याणी'' अथवा ''दिव्या'' में केवल मनोरंजन मात्र के दृष्टिकोण से पढ़ने वाले पाठकों को गहन निराशा ही होगी। अतः केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मानवीय अनुभवों के समावेश से गद्य के रूप में जो पूर्ण कथा कही जाती है, वह उपन्यास ही है।

युग जीवन और उपन्यास

उपन्यास की परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि उपन्यासों का क्षेत्र प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य अथवा मनुष्येतर जीव और निर्जीव प्रकृति या कुछ भी हो सकता है पर

१ विशेष विवरण के लिए देखिए अध्याय आठ।

सामान्यत. उपन्यास मानव जीवन का ही चित्रण करते हैं[१] और उसी दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर उपन्यास लिखे गए हैं। यद्यपि किसी उपन्यासकार में आवश्यक प्रतिभा हो, तो उसकी रचना परिधि से कोई विषय बहिष्कृत नही हो सकता[२], फिर भी उपन्यासकारो का सम्बन्ध मानव जीवन से ही अधिक रहा है। जिस काल में उपन्यास की रचना होती है, उस युग की स्पष्ट अभिव्यक्ति उपन्यासो में होती है, इसीलिए मानवीय जीवन से उनका तादात्म्य स्थापित हो पाता है। उपन्यास की रचना प्रक्रिया के समूचे दौर मे तत्कालीन युग जीवन सिमट आता है, यही उपन्यासकार की श्रेष्ठ सफलता स्वीकृत की जाती है। स्वभावत प्रश्न उठ सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यासो मे तत्कालीन जीवन कैसे समेटा जा सकता है? पर यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक उपन्यास मात्र इतिहास नही है। इसमे किसी शासक के विजय, पराजय अथवा राजनीतिक षड्यन्त्रो का ब्यौरा मात्र ही नही प्रस्तुत किया जाता। इतिहासकार उपलब्ध सामग्री एव प्राप्त शोध-कार्यों की पृष्ठभूमि मे तत्कालीन युग की राजनीतिक घटनाओ एव अन्य तथ्यों का विवरण और उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। वहाँ कल्पना का उपयोग नितान्त रूप से भी नही होता। यह ऐतिहासिक उपन्यासकार तथ्यो की प्रामाणिकता मे अपनी अपूर्व कल्पना का समावेश कर एक नए संसार की रचना प्रक्रिया मे सलग्न होता है, तथा उसकी पूर्णता एक अद्भुत ससार का कल्पनात्मक विवरण के रूप मे होती है, जिसे ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है। यह कल्पना उपन्यासकार के अपने जीवन के अनुभवो की भाव भूमि पर निर्मित होती है, और जीवन के अनुभव युग जीवन मे निश्चित रूप से प्रभावित रहते हैं। अत. यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास युग जीवन मे पूर्णतया प्रभावित रहते है। हिन्दी मे भी प्रारम्भ से ही युग जीवन का उपन्यासो मे अत्यधिक महत्व रहा है।

---

१ "So daily life, whatever it may be really, is practically composed of two lives the life in time and the life by values—and our conduct reveals a double allegiance...and what the story does is to narrate the life in time. And what the entire novel does, if it is a good novel—is to include the life by values as well, using devices here after to be examined."

—ई० एम फार्स्टर ऐस्पेक्ट्स ऑव द नॉविल, (जनवरी १९४८), लन्दन पृ० ४४-४५।

२. "Given the necessary genius, there is highly a theme that a modern novelist finds beyond his range."

—अर्नेस्ट ए० बेकर—द हिस्ट्री ऑव इगलिश नॉविल, भाग १, (लन्दन), पृ० २६८।

हिन्दी में प्रारम्भिक युग उपन्यासकारों ने यद्यपि युगीन समस्याओं को उपन्यासों में प्रमुख स्थान देने का प्रयास किया, पर वह इसलिए अधिक महत्वपूर्ण न हो सका क्योंकि उस ओर उनकी रुचि न थी। वह प्रयास केवल समस्याओं को बाह्य रूप से स्पर्श मात्र कर लेने तक ही सीमित था। जहाँ ऐसा प्रयत्न होता था वहीं उपन्यासकार उपदेशक बन बैठता था। उन प्रयासों में जीवन की गरिमा कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं के बराबर था पर जो भी प्रयत्न हुए, उसमें अधुलाहट तथा उत्सुकता का पूर्ण आभास प्राप्त होता है। उस समय उपन्यासकारों के सम्मुख कोई दिशा न थी, किसी विशिष्ट शैली से उनका सम्बन्ध न था और किसी प्रक्रिया के सन्धिस्थल पर खड़े हो मात्र लिखना ही उनका उद्देश्य न था। उनका कार्य अपने लिये स्वयं पथ निर्मित करने और दिशा के अन्वेषण का था। अपने लक्ष्य का स्वरूप भी स्वयं उन्हें ही निर्धारित करना था। बल्कि कहना चाहिए कि यह हिन्दी उपन्यासों की शैशवावस्था थी और इस युग में हिन्दी लेखकों के सम्मुख सब प्रथम समस्या हिन्दी उपन्यासों के लिए उपयुक्त वातावरण निर्मित करना, तथा उसके लिए अधिकाधिक पाठक तैयार करना था। अतः उस युग में विदेशी उपन्यासों एवं बंगला के उत्कृष्ट उपन्यासों का अनुवाद करके लोगों को एक दिशा प्रदान करने का कार्य प्रारम्भ किया गया। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इस युग के उपन्यासकारों का प्रमुख दृष्टिकोण हिन्दी उपन्यासों के लिए ऐसा उपयुक्त और लोकप्रिय वातावरण निर्मित करने का था, जिसमें गद्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विधा, जो अभी तक एक प्रकार से स्पृहाहीन ही थी अधिकाधिक पाठकों से अपना निकटतम तादात्म्य स्थापित कर सके, अथवा हिन्दी के अधिकाधिक पाठक तैयार हो सकें। इसके लिए उन्होंने उपन्यासों में कल्पनात्मक और रोमांचकारी स्थलों को युग और समाज की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान किया, जिससे उन कथाओं में यथेष्ट मात्रा तक कौतूहल-वृत्ति एवं रोचकता सुरक्षित रह सके, और पाठक उन्हें नीरस कह अस्वीकृत न कर दें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनकी कल्पनाशक्ति ऐसी घटनाओं के संवयन में व्यस्त रहती थी, जिसे पढ़कर पाठक उछल पड़ते थे, और उसी स्तर की अन्य कृतियों को पढ़ने के लिए व्यग्र रहते थे। यह प्रसिद्ध ही है कि बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता सन्तति" को पढ़ने के लिए ऐसे असंख्य पाठकों ने, जो हिन्दी भाषा से पूर्णतया अपरिचित थे, हिन्दी सीखी। इस प्रकार इस युग के उपन्यासकारों ने हिन्दी उपन्यासकारों की सशक्त पीठिका उपस्थित करने का उत्तर दायित्व पूर्ण करने का निश्चय किया था। प्रश्न उठता है क्या उनके प्रयास महत्वहीन थे? अथवा उनकी कृतियों को उपन्यास साहित्य में न सम्मिलित किया जाए? इन प्रश्नों को लेकर साहित्यिक अखाड़ों में जो विवाद हुए हैं, उनके पीछे कोई तर्क नहीं है। जब कोई साहित्यिक विधा नवीन रूप में प्रारम्भ होती है, तो आरम्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न उसके निर्माण का होता है। कोई साहित्यिक विधा अपने समस्त गुणों से युक्त पूर्ण सशक्त रूप में कभी जन्म नहीं लेती, और प्रारम्भिक हिन्दी

उपन्यास साहित्य इसका अपवाद न था। वस्तुत हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकारो ने अपने एक महती उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक पूर्ण किया, वह था भविष्य मे विकासोन्मुख होने वाले हिन्दी उपन्यास-साहित्य का पथ प्रशस्त करना, तथा उनके लिए नवीन दिशा निर्मित करना। इसमे उन्हे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

फिर भी इससे यह अनुमान कदापि न होना चाहिये, कि इन उपन्यासों मे युगीन समस्याओं को किंचित-मात्र भी स्थान नही दिया गया। युगीन समस्याओ को स्थान मिला अवश्य, पर उस सूक्ष्म और यथार्थवादी रूप से नही, जैसा आगे चलकर प्रेमचन्द और प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासकारों की कृतियो मे प्राप्त होता है। आगे चलकर अनेक उपन्यासकारो ने समाज या धर्म को सुधारने की चेष्टा मे ही उपन्यासो की रचना की। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवास दास, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, मेहता लज्जाराम शर्मा आदि ऐसे ही उपन्यासकार थे, जिन्होंने युगीन समस्याओ को अपने उपन्यासो मे स्थान देने का प्रयास किया। इन तथा अन्य अनेक उपन्यासकारों ने समाज के पतन की ओर ध्यान दिया, और उसका चित्रण भी किया। घरेलू जीवन से सम्बन्ध रखने वाले पारिवारिक उपन्यासो की रचना भी की गई।

हिन्दी उपन्यासकारो की यह सुधारवादी भावना प्रारम्भिक युग मे जितनी प्रमुख रही, उतनी आगे चलकर न रही। प्रेमचन्द के उपन्यासो मे यह दृष्टिकोण प्राप्त होता है, और उनके समकालीन उपन्यासकारो ने भी इस दृष्टिकोण की पूर्ण उपेक्षा नही की, पर बाद मे उपन्यासो का दृष्टिकोण धीरे-धीरे वैयक्तिक होता गया, तब वहाँ सुधारवादी दृष्टिकोण की भावना न बनी रह सकी। प्रेमचन्द काल में मध्यम वर्ग को अधिक प्रधानता दी गई और तत्कालीन उपन्यासो मे युगीन जीवन के अत्यन्त विशद चित्र प्राप्त होते है। उपन्यासो के क्षेत्र मे प्रेमचन्द के पदार्पण ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य को नवीन भव्यतर दिशा प्रदान की। कल्पना-लोक से निकाल कर यथार्थ की कठोर-भूमि पर उपन्यासकारो को लाने का महान् कार्य प्रेमचन्द ने किया। प्रेमचन्द प्रथम भारतीय उपन्यासकार है जिन्होने किसानो और निम्न मध्यवर्ग का चित्रण बड़ी तत्परता और निष्पक्षता से किया है। शोषक और शोषित-वर्ग का संघर्ष, पूंजीवादी व्यवस्था के कठोर दमन-चक्र, नवीन धर्म का स्वरूप और प्रगतिशील समाज की नवरचना से उनके उपन्यास भरे पड़े हैं।

उपन्यास का जीवन से सम्बन्ध होने के कारण और व्यक्ति तथा समाज के जीवन के मूल मे नारी की शक्ति के निहित होने के कारण उपन्यासो मे नारी का चित्रण न होना असम्भव था, और असभव है। अस्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर आधुनिक काल तक सभी उपन्यास लेखको ने नारी को मानवता, राष्ट्र, समाज, परिवार और उसके अपने व्यक्तिगत जीवन के परिप्रेक्ष्य मे रखकर उसका चित्रण किया है, उसके जीवन का मूल्य आंका है। उन्होने नारी जीवन की अनेक समस्याओ के

साथ सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक पाखंडों की ओर ध्यान दिया। साथ ही उन्होंने नारी की दयनीय परिस्थिति, उसे नई दिशा प्राप्त करने की आवश्यकता और उसमें नवोन्मेष संचार करने का प्रयास किया। नारी समस्या, उसकी प्रगति और सामाजिक संघर्ष में उसे उचित स्थान देने की ओर ही उपन्यासकारों का विशेष ध्यान आकर्षित हुआ। उनकी कृतियों में नारी जीवन के मार्मिक प्रसंग, नारियों की प्रगतिशीलता की जोरदार दलीलें उनके पिछड़े होने पर तीखे व्यंग और उनकी समस्याओं के समाधान का अपना आदर्शवादी ढंग सभी कुछ प्राप्त होता है।[1] यह स्वाभाविक भी था। भारतीय नारियों में नवोत्थान की दृष्टि से यह युग अत्यन्त महत्वपूर्ण था। शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार होता जा रहा था, नवीन चेतना विकसित हो रही थी, और रूढ़ियाँ समाप्त हो रही थीं। इन परिस्थितियों में नारियों का प्रगति की दिशा में चरण बढ़ाना स्वाभाविक ही था। पर साथ ही उनकी कुछ ऐसी समस्याएं थीं, जिनकी ओर नवोत्थान की धुन में ध्यान नहीं दिया जाता था। नारियों की शिक्षा का स्वरूप कैसा हो, समाज में उनकी स्थिति किस प्रकार हो, राजनीति में वे किस प्रकार भाग ले सकती हैं, इस काल के उपन्यासों ने इनका बीड़ा उठाया और नारियों को तितली बन, जीवन व्यतीत करने से रोकने का प्रयास किया। इस प्रकार प्रायः सभी उपन्यासकारों ने युग की समस्याओं को अपने से पिछले युग की तुलना में अधिक गहराई से परखा, और उन्हें हृदयगम कर, चेतना की कसौटी पर रगड़ छान कर मजी हुई तार्किक शक्ति से अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया।

किन्तु युग प्रत्येक क्षण परिवर्तनशील है। विश्व हर क्षण एक नई करवट लेता रहता है। प्राचीनता का विरोध और नवीनता का आह्वान हमेशा होता है। विज्ञान लोगों को नवीन तार्किक शक्ति प्रदान करता और प्राचीन रूढ़िवादी परम्पराओं समाज की संकुचित सीमाओं तथा जीवन में स्थिरताओं को आघात पहुँचाता है। इससे जीवन में विविधता की आकांक्षा उत्पन्न होती है। प्रेमचन्द के बाद के उपन्यासकारों ने जीवन की समस्याओं को तर्क की कसौटी पर कस उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की। आदर्शवाद मात्र अब उनकी दृष्टि में न रह गया था। वे अब मानवीय समस्याओं के मूल कारणों की खोज निकालना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने मानव के अन्तरमन में पैठ कर उसके अन्तर्द्वन्द्वों और आन्तरिक प्रवृत्तियों को समझने और उनके अध्ययन करने का प्रयास किया। उनके अनुसार प्रत्येक मानवीय समस्या वस्तुतः मानव की दमित शमित वासनाओं, उसकी कुण्ठाओं, वर्जनाओं और अतृप्त आकांक्षाओं के कारण उत्पन्न होती है। मानवीय जीवन की समस्त प्रक्रियाएं मानव के अवचेतन मन से नियन्त्रित होती हैं। अब फ्रायड, एडलर, युग आदि पश्चिमी मनोवैज्ञानिक पण्डित भारतीय उपन्यासकारों के आदर्श हो गए। अतः प्रेमचन्दोत्तरकाल में युगीन समस्याओं को उतना स्पष्ट करने का प्रयत्न पुनः नहीं किया

1 विशेष विवरण के लिए देखिए अध्याय आठ।

गया, जितना मानव के अध्ययन करने का। जो प्रवृत्तियाँ प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकारों को प्रभावित करने में असफल रहीं, या वे प्रभावित होते हुए भी उनकी अवहेलना करते रहे, और जबर्दस्ती समस्याओ पर आदर्शवादी आवरण डालने का प्रयास किया, उन्ही प्रवृत्तियों को अब उपन्यासकारो ने अत्यधिक महत्ता प्रदान की। मानव-मन मे अनेक प्रकार के भाव ज्वार-भाटे की भाँति उठते-गिरते, बनते-बिगडते रहते है, उनका सम्यक् चित्रण करना ही नवीन उपन्यासकार अपनी सार्थकता समझने लगा। प्रेमचन्द ने व्यक्ति को एक सामाजिक इकाई के रूप में कल्पित करके उसे अपने साहित्य का आलम्बन बनाया था, और उनके प्राय. सभी सम-सामयिक उपन्यासकारो ने व्यक्ति की सत्ता एक सामाजिक इकाई के रूप मे ही स्वीकृत की थी। किन्तु प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासकारो मे नवीन भावभूमियो को ग्रहण कर सम्मिलित स्वर मे यह घोषणा की, कि व्यक्ति तो स्वय मे एक इकाई है, आवश्यक नही कि वह सामाजिक इकाई ही हो। अत. मनोविश्लेषण तथा अवचेतनावाद के सूक्ष्म विवेचन से मानव जीवन की समस्याओ का नवीन अध्ययन और उनका मनोवैज्ञानिक तर्क-पूर्ण समाधान प्रस्तुत करने का कार्य प्रमुख हो गया। व्यक्ति-चित्रण की प्रवृत्ति के अन्तर्गत नारी जीवन की भी अनेक समस्याओ का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया गया, और नारी की अन्तर्वृत्तियो का मार्मिक उद्घाटन कर नारी के त्याग, ममत्व और स्नेह-भावना को गौरव प्रदान किया गया। नारी का चित्रण विशृंखलित समाज, टूटती मर्यादाओ और सामाजिक नव-निर्माण की पृष्ठभूमि मे किया गया। सम्प्रति युगीन समस्याओ को उतना महत्व नही दिया जा रहा है,जितना मानव मन की रहस्यमय गुत्थियो को सुलझाने का प्रयास किया जा रहा है। व्यक्ति को समाज से ऊपर महत्व प्रदान किया जा रहा है। इसका कारण यह है कि मानव-मन के भीतर अनन्त रहस्यमय एक भिन्न लोक है, जिसकी अपनी निजी सत्ता है, और वह किन्ही भी बाह्य परिस्थितियो से अनियंत्रित हैं। इसलिए वह प्रेमचन्द की सामाजिक परम्परा का परित्याग कर, अर्थात् बाह्य सामाजिक परिस्थितियो के चित्रण का पथ छोडकर, मानव के अज्ञात चेतना के गहरे स्तरो मे प्रविष्ट होकर उनके भीतर दमित वासनाओं तथा कुंठित भावनाओ का विश्लेषण करने का प्रयास करते है। उनकी उपन्यास कला का विकास वैयक्तिक समस्याओ के चित्रण द्वारा व्यष्टि तथा समष्टि मे सामजस्य खोजने का द्योतक है।"आज के युग मे प्राय. सभी उपन्यासकारो ने अपना यह धर्म बना लिया है, इसीलिए प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासो मे युगीन समस्याओ को उतना महत्व नही प्राप्त हो सका जितना व्यक्ति को, यद्यपि युगीन समस्याए पूर्णतया उपेक्षित भी नही रहीं। किन्तु आलोच्य विषय की दृष्टि से युगीन समस्याओं का चित्रण पूर्ण रूप में हुआ हो, या आंशिक रूप मे, या बिल्कुल ही न हुआ हो, केवल व्यक्ति का विश्लेषण हुआ हो, नारी की उपेक्षा और अवहेलना तो कोई उपन्यासकार नही कर सका।

उपन्यास के रचना-तत्वों में पात्र योजना

वैसे तो उपन्यास लिखने में कोई नियम विशेष बनाकर लेखक को उन नियमों की परिधि में बंध रहने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता, किन्तु फिर भी उपन्यास रचना के कुछ आधार बन गये हैं, जिनका आश्रय ग्रहण कर उपन्यासकार आगे बढ़ता है। इन आधारों को उपन्यास के तत्वों की भी संज्ञा दी जा सकती है। प्रायः उपन्यासों के छः तत्वों की कल्पना की जाती है। यह आवश्यक नहीं कि जब तक किसी रचना में इन सभी तत्वों का समावेश न किया जाए, तब तक उसे उपन्यास की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता। आज केवल कुछ चरित्रों को लेकर ही उपन्यासों की रचना की जाती है, उनमें कथानक के नाम पर कुछ भी विशेष नहीं रहता। जैनेन्द्र के अधिकांश उपन्यास इसी श्रेणी में आते हैं। ऐसे अनेक उपन्यास मिलेंगे जिनमें अनेक तत्वों की उपेक्षा प्राप्त हो सकती है। फिर भी अधिकांश कृतियों में सभी तत्वों का कुछ न कुछ समावेश हो ही जाता है। साधारणतया उपन्यास के छः रचना तत्व हैं—कथानक, कथोपकथन, चरित्र निर्माण, देशकाल अथवा वातावरण, विचार एवं उद्देश्य, तथा भाषा-शैली। उपन्यास के रचना-तत्वों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक पुस्तकों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है,[1] और उनका यहाँ वर्णन करना न केवल पिष्टपेषण मात्र होगा, वरन् आलोच्य विषय की दृष्टि से अनर्थक भी।

उपन्यास के रचना तत्वों में यों तो सभी आवश्यक हैं, और उनके परस्पर सामंजस्य से ही अच्छी कृतियों का निर्माण होता है, पर यदि अधिक सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण किया जाय तो उपन्यास में पात्रों का महत्व अधिक लक्षित होता है। उपन्यास मानवीय जीवन की प्रक्रियाओं का वर्णन करता है और ये पात्र उपन्यास के संसार में उसको क्रियात्मक रूप प्रदान करते हैं। वस्तुतः उपन्यासकार आत्माभिव्यक्ति को साकारता प्रदान करने के हेतु अनेक शब्द मूर्तियों की रचना करता है, उन्हें रूप, अनुभाव प्रदान कर उनमें प्राण संचारित करता है, उनमें उद्धरण चिह्नों में बातचीत करवाता है, और कदाचित उनसे एक सा व्यवहार भी करता है—वे

---

१ (१) ई० एम० फास्टर : एस्पेक्टस आव द नॉवल, (जनवरी १९४८), लन्दन।
(२) एडविन म्योर : द स्ट्रक्चर ऑव द नॉवल (१९४६) लन्दन।
(३) हेनरी जेम्स : द आर्ट आव फिक्शन, (१९४८) न्यूयार्क।
(४) रल्फ फॉक्स : द नॉवल ऐण्ड द पीपुल।
(५) विलियम हनरी हडसन : ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आव लिट्रेचर (१९४९), लन्दन।
(६) पर्सी लब्बाक : द क्रैफ्ट आव फिक्शन (१९४९), लन्दन।

शब्द-मूर्तिया ही उपन्यास के पात्र हैं।[1] यद्यपि वे पूर्णतया कल्पित होते हैं, और उपन्यासकार की रचनामात्र होते हैं, फिर भी वे इतनी कुशलता से प्रस्तुत किए जाते हैं कि पूर्णतया वास्तविक प्रतीत होते हैं, उनका हमारे जीवन के साथ निकटतम तादात्म्य होता है। उपन्यास-रचना के पीछे केवल एक ही कारण होता है, वह जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयास करता है।[2] अतः उपन्यास के पात्र भी साधारणत. मानव ही होते हैं। यद्यपि यह आवश्यक नही है कि मनुष्येतर प्राणी उपन्यास के पात्रों का रूप नही ग्रहण कर सकते। मनुष्येतर प्राणियों को उपन्यास के पात्रो के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, पर पूर्ण असफलता के साथ, क्योंकि अभी तक उनकी अपनी जीवन प्रक्रियाओ, उनकी अन्तर्वृत्तियो तथा उनके मनोविज्ञान से हम पूर्णतया अपरिचित हैं। अत प्राय. मानवीय पात्रो की रचना उपन्यास में की जाती है। कथानक उपन्यास का एक अनिवार्य तत्व है, और उसमें विभिन्न घटनाओ का सगुफन किया जाता है। इन घटनाओं का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य अथवा मनुष्येतर प्राणियों से सम्बन्ध होता है। क्योंकि पूर्ण कल्पित घटनाओ का वर्णन उपन्यास मे नही किया जाता, जो कभी किसी प्राणी के साथ घटी ही न हो। इन घटनाओ को विकास क्रम की अवस्था से पार कर उपन्यास के अन्तिम उद्देश्य तक ले जाने की प्रक्रिया मे जो भी प्राणी सहयोग देते हैं वे चाहे मनुष्य हों, या मनुष्येतर प्राणी हो, पात्र की संज्ञा से ही अभिहित होते हैं।

यद्यपि ये पात्र कल्पित होते है, फिर भी हमारी ही भाँति उनके सत्य एव यथार्थ मानव होने का भ्रम होता है।[3] "रंगभूमि" के सूरदास और गाँधी जी में अन्तर है। उपन्यास के पात्रो मे और यथार्थ जीवन के पात्रों में अन्तर का प्रमुख कारण यह है कि उपन्यास के पात्रो के आन्तरिक जीवन से हम पूर्णतया परिचित होते हैं। उपन्यासकार अपने पात्रो को पूर्णतया चीर-फाड कर उनको इस रूप मे प्रस्तुत करता है, कि उनके सम्बन्ध मे कुछ भी रहस्यात्मक नही रह जाता। इसके विपरीत वास्तविकता में यदि कोई व्यक्ति जब तक यह नही कहता उसने ऐसा अनुभव किया, या वह किया, हम उनकी आन्तरिक वृत्तियों से पूर्णतया अपरिचित

१. "The novelist makes up a number of word masses roughly describing himself...gives them names and sex assigns them plausible gestures, and causes them to speak by the use of inverted commas, and perhaps to behave consistently. These word masses are his characters."

—ई० एम० फॉर्स्टर : ऐसपेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (जनवरी—१९४४), लन्दन, पृष्ठ ६४।

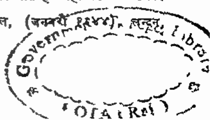
२. हेनरी जेम्स : द आर्ट ऑव फिक्शन, (१९४८), न्यूयार्क, पृष्ठ ५।

३. पर्सी लब्बाक : द क्रैफ्ट ऑव फिक्शन, (१९५४), लन्दन, पृष्ठ ६८।

रहते हैं। हम उनकी बाह्य प्रवृत्तियों से ही उनके सबंध में कोई धारणा निश्चित करते हैं, उनकी अच्छाइयों बुराइयों का निर्णय करते हैं, और उनसे घृणा या प्रेम करने के दायित्व को समझने का प्रयास करते हैं। इतिहासकार भी इतिहास में पात्रों का वर्णन करता है। उसका पात्रों से उतना ही सम्बन्ध होता है, जितना उपन्यासकार का किन्तु वह केवल उनके बाह्य अस्तित्व को ही इतिहास में प्रदर्शित कर पाता है। किसी कांग्रेस में यदि गांधी जी यह न कहें कि इस पर वे अतीव प्रसन्न हुए हैं, इनके अगल बगल बैठने वाला व्यक्ति इससे अपरिचित रहेगा, कारण वह अपने पास बैठे हुए गांधी जी के अन्तर्द्वन्द्व को पूर्णतया जान सकने में असमर्थ है, और जब तक गांधी जी स्वयं अपने भाव न प्रकट करें, सर्वसाधारण म उसकी घोषणा नहीं की जा सकती। किसी के जीवन के रहस्यों से कोई कैसे परिचित हो सकता है जब तक कि वह स्वयं अपने जीवन से सम्बन्धित रहस्यों की स्पष्ट घोषणा न करे। इतिहासकार इसीलिए बाबर, शाहजहाँ, अकबर आदि की बाह्य क्रियाकलापों का वर्णन कर सका है। उनके जीवन के रहस्यों से हम पूर्णतया अपरिचित हैं, और सदैव ही अपरिचित रहेंगे। पर इसके विपरीत उपन्यासकार अपना चरण आगे बढ़ाता है। यदि अपने उपन्यास में बाबर को पात्र बनायगा, तो उसके सम्बन्ध में ऐसे रहस्योद्घाटन करेगा और उसके जीवन की अतल सियों को इस प्रकार खोल कर स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित करेगा कि बाबर के जीवन का कोई रहस्य हमसे अपरिचित नहीं रहेगा, और वह हमारे अधिक निकट आ जायगा। इस प्रकार उपन्यास एक ऐसे पात्र का निर्माण करेगा जो इतिहास का बाबर नहीं बल्कि उससे भिन्न प्रकार का बाबर होगा। उपन्यास कला की अन्यतम प्रक्रिया है, और उसके कुछ अपने नियम होते हैं, जो हमारे दैनिक जीवन के नियमों से पूर्णतया भिन्न होते हैं। उपन्यास के पात्र तभी तक सत्य और यथार्थ रूप हैं, जब तक वे इन नियमों के अनुसार परिचालित होते हैं।[१]

प्रश्न स्वभावतः उठता है कि उपन्यास के पात्रों का स्वरूप किस प्रकार का हो। कुछ उपन्यासों में पात्र इस प्रकार प्रस्तुत किए जाते हैं कि वे अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर सकते हैं। जब भी उन्होंने इच्छा प्रकट की, उपन्यासकार ने ऐसे साधन प्रस्तुत कर दिए कि वह अचानक धनी हो गया, मिलों का स्वामी हो गया, उसके पास बंगले, मोटर-गाड़ियाँ सभी सुलभ हो गईं। कभी ऐसा भी होता है कि एक पात्र इस सीमा तक सहनशील है कि सहनशीलता की स्वाभाविक सीमा का अतिक्रमण हो जाता है। फिर भी उपन्यासकार उन्हें इस रूप में उपस्थित करता है कि वे दुःख के बाद दुःख, ठोकर के बाद ठोकर सहन करते हुए बिना किसी विरोध के चुपचाप आत्मपीड़ा में अपना जीवन व्यतीत करते जाते हैं यहाँ तक कि उनकी

१ ई० एम० फार्स्टर ऐस्पेक्ट्स ऑव द नॉवल, (जनवरी १९४९), लन्दन, पृष्ठ ८७।



मृत्यु तक हो जाती है, पर वे मुँह से उफ तक नही प्रकट करते। ऐसे पात्रो से हम प्रभावित भले ही हों, पर उनसे हमारा निकटतम तादात्म्य नही स्थापित हो पाता। हम अन्दर ही अन्दर यह अनुभव करते रहते है कि ये पात्र हमारे लोक के नही है, किसी भिन्न लोक के है। उनकी कार्य-प्रक्रियाएं हमसे भिन्न है। कट्टो, कल्याणी, मृणाल, सुनीता, पाठको के ऊपर अत्यधिक प्रभाव डालती है, उन्हे रुलाती है, करुणा की उत्पत्ति उनमें करती है, फिर भी पाठको का उनसे निकटतम सम्बन्ध स्थापित नही हो पाता। कल्याणी असरानी एक प्रतिष्ठित डॉक्टर होते हुए और यह जानते हुए कि उसका पति आर्थिक रूप से उसी पर आश्रित है, उसकी स्वतन्त्र जीविका का कोई साधन नही है, अपने पति से सड़क पर जूतियां खाकर भी उसी पति की पूजा करती चलती है, और अपने जीवनगत असतोष की कभी अभिव्यक्ति न कर अपनी विवशता मात्र घुट घुट कर प्राण दे देती है। वह विवशता कौन सी थी? कल्याणी असरानी किस मिट्टी की जन्मी थी कि इतना अविश्वसनीय व्यवहार करती चली जाती है? वह शिक्षित और आधुनिक सभ्यता मे पालित-पोषित होकर भी इस प्रकार चित्रित की गई है कि पाठको को उन्हे अपने बीच पहचानने मे असमर्थता होती है। जैनेन्द्र के एक अन्य उपन्यास "त्यागपत्र" मे मृणाल नामक पात्र भी इसी प्रकार की है। वह शिक्षित है, सुसंस्कृत है, फिर भी एक कोयले वाले से सम्बन्ध स्थापित कर अनैतिक रूप से गर्भवती होती है। इसका कारण क्या था? समाज की विभीषका प्रदर्शित करने के लिए ही मृणाल का बलिदान हुआ। उसका भतीजा प्रमोद उसे बार-बार उस पतन के दायरे से बाहर निकालना चाहता है, पर मृणाल उपन्यासकार के हाथो इस प्रकार कठपुतली बनी हुई है कि उसी कोयले वाले के साथ रहना पसन्द करती है, बाहर आकर शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत नही करती। शान्तिपूर्ण, सुख एव समृद्धिपूर्ण जीवन, सभी साधनो के सुलभ होने पर, व्यतीत करने की इच्छा किसे नही होती, पर इसके विपरीत आचरण करने के कारण ही मृणाल पाठको को अपनी ओर आकर्षित करने और उनकी सारी सहानुभूति ग्रहण करने के बावजूद भी उनसे तादात्म्य नही स्थापित कर पाती। इसका कारण स्पष्ट है। पात्रो का स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट हो गया है, उनकी डोरें उपन्यासकार अपनी इच्छानुसार जिधर चाहे उधर खीच सकता है, जब चाहे उठा और गिरा सकता है। इसके विपरीत प्रेमचन्द के पात्र हमारे अपने लगते है। उनके सभी पात्रो को हम अपने चारो ओर खोज सकते है, वे हमारे जाने-पहचाने होते है। उनके सम्बन्ध में हम कभी नही सोचते कि ये हमारे लोक के नहीं, अपितु एक भिन्न लोक के है। होरी, धनिया, विनय, जालपा, सभी को हम बराबर अपने बीच देखते है, कभी नही कह पाते कि वे केवल उपन्यास के पात्र-मात्र ही हैं, कुछ और नही। अत. यह स्पष्ट है कि पात्रो को इस रूप मे प्रस्तुत किया जाना चाहिए कि वे अवास्तविक न प्रतीत हों, इसी लोक के हों, हमारे जाने-पहचाने हो। वास्तविक जीवन से सामजस्य रखने वाले

पात्रों की अवतारणा होनी चाहिए,[1] जिससे उपन्यास की सत्यता में किसी को कोई सन्देह उत्पन्न न हो। प्रसिद्ध उपन्यासकार थकरे का कथन है कि "मैं अपने उपन्यास में पात्रों को पूर्णतया स्वतन्त्र छोड देता हूँ और मैं उनके वश में रहता हूँ। मुझे चाहे जहाँ ले जा सकते हैं।"[2] अतः उपन्यास में पात्रों के स्वतन्त्र विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए उन पर उपन्यासकार का कम से कम नियन्त्रण होना चाहिए। जिससे वे पूर्ण सत्य से प्रतीत हो। एक उपन्यास में पात्र तभी तक सत्य होते हैं, जब तक उपन्यासकार उनके सम्बन्ध में प्रत्येक बात जानता है। उसके लिए पात्रों का कोई रहस्य छिपा नहीं रहता। यह दूसरी बात है कि पात्रों के सम्बन्ध में वे सारी बातें जो उपन्यासकार जानता है, अपने पाठकों को बताना आवश्यक न समझे पर वह ऐसा वातावरण निर्मित करता है जिसमें पात्रों के सम्बन्ध में अनेक बातें न बताई जाने के बावजूद भी स्पष्ट हो जाती है, और पाठक विश्वास कर लेता है, कि इस परिस्थिति में इस पात्र का इसी प्रकार का आचरण करना स्वाभाविक था, क्योंकि उसका चरित्र इस प्रकार का था। तभी वे पात्र पाठकों के साथ अधिक निकट सम्बन्ध स्थापित कर पाते हैं और उनकी सत्यता पर पाठकों को सहज विश्वास भी हो जाता है।

औपन्यासिक पात्र हमारे जान पहचान हो उनसे हमारा निकटतम सम्बन्ध हो, इसका यह तात्पर्य नहीं कि औपन्यासिक पात्र हमारी हू बहू नकल करें। कोई भी पात्र किसी जीवित व्यक्ति की पूर्ण प्रतिकृति नहीं करता इससे उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट हो जाता है। प्रायः उपन्यासकारों ने जीवित व्यक्तियों की पूर्ण अंकन उपन्यास के पात्रों में करने का प्रयास किया है पर इसमें उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हुई है और उनके उपन्यास पूर्णतया असफल हुए हैं। पात्रों की सजीवता बनाए रखने का सबसे कम उपाय यह है कि उनके रूप में किसी जीवित व्यक्ति का पूर्ण प्रतिबिम्ब स्थापित किया जाय।[3] उपन्यास के पात्र वस्तुतः वस्तुजगत के व्यक्तियों द्वारा अनुप्राणित होते हैं, पर वे उनका रेखा प्रतिरेखा रूप कदापि नहीं होते।

१ हनरी जेम्स द आर्ट ऑव फिक्शन, (१९४८), न्यूयार्क, पृष्ठ ९।

२ "I do not control my character I am in their hands and they take me where they please"

—डब्लू० एच० हडसन एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर (१९४९) लन्दन, पृ० १४४।

३ "It will be found that, as a rule, a set and formal description, given item by item, is one of the least successful ways of making a character alive before use"

—डब्लू० एच० हडसन एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, (१९४९), लन्दन, पृ० १४६।

उपन्यासकार के जीवन मे अनेक व्यक्तियो का प्रवेश होता है, और उसके सम्पर्क मे आए हुए व्यक्तियो मे से अधिकाश उसे प्रभावित भी करते हैं। वह अपने कथानक की आवश्यकतानुसार एक पात्र की कल्पना करता है। तत्पश्चात् वह अपने सम्पर्क मे आए हुए व्यक्तियो मे से किसी का मुँह, किसी की आँखे, किसी का मन, किसी की काया, किसी की अन्तर्वृत्तियाँ किसी का स्वभाव, किसी का चरित्र और किसी की अन्य विशेषताएं—इन सब को वह अपने उसी कल्पित रूपरेखा की सीमा मे एकत्रित कर उनमें प्राण भरता है, और इस प्रकार एक सृष्टि के भीतर नवीन सृष्टि का निर्माण करता है। उसके द्वारा निर्मित इसी नई सृष्टि को पात्र की सज्ञा दी जा सकती है। अतः पात्र हमारे मानवीय जीवन से सम्बन्ध रखते हुए भी किसी की पूर्ण प्रतिकृति नही होते, उनका अपना निजी अस्तित्व भी होता है।

उपन्यास मे पात्रो की सख्या कितनी होनी चाहिए, यह कथानक की सीमा के साथ ही उपन्यासकार के व्यक्तित्व और उसकी कला पर भी निर्भर होता है। व्यक्तिगत जीवन मे हम प्रायः ऐसे व्यक्तियो के सम्पर्क मे आते हैं जो इतने मिलनसार और सहृदय होते हैं, कि शीघ्र ही उनसे अपनत्व का भाव स्थापित हो जाता है। दूसरे शब्दो मे उन व्यक्तियो का व्यक्तित्व बहिर्मुखी होता है, और उनसे व्यक्तिगत जीवन मे जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क मे आता है, उनका हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों के मित्रो की संख्या अधिक होती है। इसके विपरीत अतर्मुखी प्रवृत्ति वाला व्यक्ति किसी से मिलना जुलना पसन्द नही करता, और अपने ही तक सीमित रहना अधिक रुचिकर समझता है। इन व्यक्तियो में उनका अहं अत्यन्त प्रबल होता है, धीरे-धीरे उनका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण शक्ति प्राप्त करता रहता है। इसका यह अर्थ नही कि ऐसे व्यक्तियों के मित्र होते नही, पर उनकी संख्या अधिक नही होती। उपन्यासकारों को भी इन्ही वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कुछ उपन्यासकार बहिर्मुखी व्यक्तित्व के होते है, कुछ अंतर्मुखी व्यक्तित्व के। पात्रो की संख्या पर उपन्यासकार की इस विशेषता का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। बहिर्मुखी व्यक्तित्व वाला उपन्यासकार स्वभावतः कथानक की सीमा अत्यन्त विस्तृत रखना चाहेगा, और प्रायः सभी प्रकार के पात्रो का चित्रण उपस्थित करना चाहेगा। यह आवश्यक नही कि विस्तृत कथानक उपस्थित करने की इच्छा के साथ वह सभी पात्रो का चरित्र चित्रण भी सफलतापूर्वक उपस्थित कर सके, यह तो उसकी कला निपुणता पर निर्भर होता है। इसके विपरीत अंतर्मुखी प्रवृत्ति का उपन्यासकार कथा का परिवेश सीमित रखेगा और कम ही पात्रों से अपना कार्य चलाने का प्रयास करेगा। पात्रो की सख्या पर कथानक के आधार का भी प्रभाव पड़ता है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासो के लिए जीवन का विशाल चित्रपट चुना था और उन्होने समग्र जीवन को उपन्यास की सीमा में बाँधने का प्रयास किया था। इसीलिए उनके उपन्यासों मे पात्रो का बाहुल्य है। अधिक पात्रो को रखने का मोह न संवरण करने के कारण उनके सफल निर्वाह में उपन्यासकार अपनी असमर्थता का अनुभव करता है। परिणामस्वरूप या तो पात्र

बिना किसी कारण बीच उपन्यास से गायब हो जाता है, या उसे आत्महत्या करनी पड़ती है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में ऐसा बहुत हुआ है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों के लिए लघु आकार वाले कथानकों का निर्वाचन किया है। उन्होंने वस्तुत चरित्रों को अधिक महत्ता प्रदान की है। मन दो तीन पात्र लेकर उनके चरित्र का अध्ययन करने का प्रयास किया है। इसीलिए कथानक के नाम पर कुछ घटनाओं का गुम्फन इस प्रकार किया गया है, जिससे उन पात्रों का चरित्र अधिक से अधिक स्पष्ट हो सके। जैनेन्द्र के उपन्यासों में इने गिने पात्र ही पूर्ण कथा का निर्माण करते हैं। पात्र योजना में लेखक को यथेष्ट मात्रा में सतर्कता रखनी पड़ती है क्योंकि अनावश्यक रूप से पात्रों को रख देने से, जिनका कथानक की गतिशीलता में कोई विशेष योगदान नहीं होता, उपन्यास की प्रभावशीलता समाप्त हो जाती है। पात्र कथानक को उपन्यास के निश्चित उद्देश्य तक पहुंचाने में सहायता देते हैं,[1] इसीलिए ऐसे पात्रों की अवतारणा नहीं की जाती, जिनका कोई काम नहीं होता और वे निठल्ले होते हैं। कुछ सिद्धान्तवादी और मत विशेष का प्रचार करने वाले उपन्यासकार कुछ ऐसे ही *निठल्ले पात्रों का निर्माण करते हैं जिनका कथानक के विकास में कोई हाथ नहीं* होता। वह केवल उनके मतों की व्याख्या और उनका प्रचार करता हुआ ही दृष्टिगोचर होता है। वह पात्र उपन्यास की कथावस्तु में भली भांति नहीं मिल पाता और वह नितान्त ऊपर से जबरदस्ती थोपा हुआ प्रतीत होता है। यशपाल के "दिव्या" में मारीश इसी प्रकार का पात्र है। यद्यपि यशपाल ने उसे एक चरित्र करने का प्रयास किया है जिससे उसका कथानक के विकास में प्रमुख स्थान हो, पर इसमें वह सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। मारीश उपन्यास में समय समय पर प्रकट होकर यशपाल के मत, यानी कि मार्क्सवाद की व्याख्या कर उसकी श्रेष्ठता एवं उपयोगिता सिद्ध करता हुआ उन्हें अपनाने का परामर्श देता है। लेखक भले ही इस प्रकार के पात्रों को प्राणवान बनाने का भरसक प्रयत्न करे, व कोई स्थाई प्रभाव डालने में, असमर्थ प्राय ही रहते हैं। पाठक उस पात्र के आते ही उकताकर उतने पृष्ठ छोड़ आगे बढ़ जाता है, जितने पृष्ठ अकेले वह पात्र अपने सिद्धांतों से घेरे रहता है। क्योंकि वह जानता है कि इस पात्र के प्रकट होने से पूर्व कथानक जहां था इस पात्र के चले जाने के पश्चात् भी कथानक वहीं का वहीं रहेगा। पाठकों को इस प्रकार के पात्रों से एक प्रकार से चिढ़ सी हो जाती है। लेखक प्राय चुने हुए पात्रों को लेकर ही कथा का निर्माण करते हैं, जो कथानक की गतिशीलता के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं। लेखक इन पात्रों के चरित्र चित्रण में अपनी सारी कला का उपयोग करता है और भरसक उन्हें प्राणवान बनाने का प्रयत्न करता है। निर्जीव पात्र न पाठकों को अपनी ओर आकर्षित कर पाते हैं, और न उपन्यास के प्रभाव को ही स्थायित्व प्रदान कर पाते हैं। इसीलिए पात्र कथावस्तु की आवश्यकतानुसार ही निश्चित किए जाते

१ पर्सी लब्बाक द क्रैफ्ट ऑव फिक्शन, (१९५४), लदन, पृष्ठ ६६।

हैं, और उन्हें जहाँ तक सम्भव हो सकता है, अत्यधिक प्राणवान बनाने का प्रयास होता है, जिससे वे स्वाभाविक हो, और उनकी सत्यता पर सबको विश्वास हो।

भेदोपभेद की दृष्टि से पात्रों के दो भेद किए जा सकते है, प्रधान पात्र, तथा गौण पात्र। प्रधान पात्र कथानक का नेतृत्व करते है और घटनाओं मे उनका प्रमुख भाग होता है। नायक, नायिका, सहनायक, और सहनायिका इन्ही प्रमुख पात्रों में होते हैं, जिन पर सम्पूर्ण कथानक आश्रित होता है। उपन्यास मे इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त कुछ गौण पात्र भी होते है जो कथानक की दृष्टि से महत्वपूर्ण नही होते।। वे केवल साधन रूप मे प्रस्तुत किए जाते हैं। उनका कार्य प्रमुखतः मुख्य पात्रो के चरित्र को स्पष्ट करने एव उनकी महत्ता प्रदान करने के लिए ही होती है। गौण पात्र प्राय कथानक को तीव्रता प्रदान करने, वातावरण मे परिवर्तन लाने और वातावरण की सृष्टि करने के लिए ही होते हैं। "त्यागपत्र" मे मृणाल का पति इसी प्रकार का गौण पात्र है। कथानक के विकास में उसका विशेष महत्व नहीं है, वह केवल अपनी पत्नी को घर से निकाल कर कथानक को तीव्रता प्रदान करता है, क्योंकि इसके पश्चात् घटना क्रम कल्याणी के विरुद्ध घटित होता चलता है, जिससे उपन्यास के उद्देश्य की पूर्ति होती है। "निर्मला" के गम्भीर वातावरण में पाठक नीरसता का अनुभव न करने लगे, इसलिए हास्य सृष्टि के लिए मोटेराम की अवतारणा की गई है। इसी प्रकार उपन्यास मे जब राजरानी की आरती उतारनी होती है, सभाओं की भीड़ दिखानी होती है, तो कुछ पात्रों की सृष्टि की जाती है जिनका कार्य केवल वातावरण की सृष्टि करना होता है। चरित्र विकास की दृष्टि से भी दो प्रकार के पात्र होते हैं, स्थिर और गतिशील। स्थिर पात्र प्रारम्भ से अंत तक एक समान ही रहते हैं, उनके चरित्र मे कोई परिवर्तन नही होता। स्थिर पात्र ज्यों ही उपन्यास में आते हैं, पाठक उन्हें अपने भावनात्मक नेत्रों से पहचान लेते हैं। स्थिर पात्रों के बार-बार परिचय की आवश्यकता नही होती क्योंकि प्रारम्भ मे उनकी जो विशेषता रहती है, वह अन्त तक वर्तमान रहती है। स्थिर पात्र चूंकि वातावरण द्वारा पराजित नही होते हैं, अपितु वे स्वयं वातावरण को एक निश्चित दिशा प्रदान करते है, इसलिए पाठकों के ऊपर उनका गहरा प्रभाव होता है, और वे उन्हें सहज ही नहीं भूल पाते। पर अत्यधिक गम्भीर प्रकृति के स्थिर पात्र प्रायः प्रभावहीन भी होते हैं। उनकी सत्यता में लोगों का तब कम विश्वास होता है। स्थिर पात्र प्रायः व्यक्ति नहीं, अपितु टाइप होते हैं। वे किसी वर्ग के प्रतिनिधि के रूप मे प्रस्तुत किये जाते है, इसीलिए वे जातीय कहे जाते हैं। वे जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, उपन्यासकार उस वर्ग की सारी विशेषताएं एक साथ एकत्रित कर उस पात्र के माध्यम से प्रदर्शित करने का प्रयास करता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों मे जातीय पात्र अधिक चित्रित किए गए हैं, क्योंकि प्रेमचन्द का उद्देश्य उपन्यासों के माध्यम से सम्पूर्ण युगीन जीवन को प्रदर्शित करने का था, और इस परिस्थिति में वैयक्तिक

पात्र रखे नही जा सकत थे। अत अधिकाश रूप मे जातीय पात्रा को रख कर ही उन्होने अपने कथानको का निर्माण किया है। इसके विपरीत गतिशील पात्र वातावरण के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं, और कथानक के विकास के साथ उनके चरित्र म भी परिवर्तन होता रहता है। गतिशील पात्रों की सबसे बडी परीक्षा यह होती है कि किसी विशेष वातावरण म उनमे पाठको को आश्चय मे डालने की क्षमता है या नही। अगर वे अपने परिवर्तन द्वारा आश्चयचकित करने मे (अस्वाभाविक ढग से नही) असमथ रहते हैं तो वे स्थिर पात्र ही होते हैं, भले ही वे गतिशील पात्र होने का बहाना क्या न करें।[1] उपन्यासकार या तो पात्रो का वणन बाह्य रूप से करता है बिलकुल एक पयवेक्षक की भाति, या वह उनकी अन्तरात्मा म बैठ उनका वणन करता है।[2] पर इतना स्पष्ट रहता है कि पात्रो म जो परिवर्तन होता है वह उनकी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार होता है, जिनके अनुसार ही हम उन्ह स्थिर अथवा गतिशील पात्रो की सज्ञा देते है। इन पात्रो की विशेषताओ का वणन एक वाक्य म या कुछ शब्दो म नही किया जा सकता, क्योंकि वे विकसनशील होते हैं और उनमे परिवर्तन होता रहता है। स्थिर पात्रो की विशेषताए कुछ ही वाक्यो मे चित्रित की जा सकती हैं।[3] गतिशील पात्र एक प्रकार से कल्पित होते हैं, और उपन्यास मे वे बार-बार अपनी सत्यता का विश्वास दिलाते रहने का प्रयास करते हैं।

पात्र योजना में नारी पात्र

उपन्यास म पात्र योजना कथा के अनुसार की जाती है। उपन्यास की कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा राजनीतिक होगी तो उसकी पात्र योजना भिन्न प्रकार की होगी। सामाजिक उपन्यासो की पात्र योजना और प्रकार की होगी। उपन्यास यदि नारी समस्या को लेकर लिखा जायगा तो उसकी पात्र-योजना भिन्न प्रकार की होगी। इस पात्र योजना मे नारी पात्रो की प्रमुखता हो, या पुरुष पात्रो की, उनका परस्पर अनुपात क्या हो, यह कथानक के स्वरूप पर निभर करता है। पर

---

१ The test of a round character is whether it is capable of surprising in a convincing way If it never surprises it is flat If it does not convince, it is flat pretending to be round It has the incalculability of life about it—life within the paces of the book And by using it sometimes alone more often in combination with the other kind the novelist achieves his task of acclimatization and harmonizes the human race with the other aspects *of his work*"

ई० एम० फॉस्टर ऐस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (जनवरी १९४४), लन्दन, पृष्ठ १०६।

२ पर्सी लब्बाक द क्राफ्ट ऑव फिक्शन, (१९५८), लन्दन, पृष्ठ ८३।

३ एडविन म्यार द स्ट्रक्चर ऑव द नॉवेल, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ १४१।

प्राय. होता यही है कि उपन्यासो मे पुरुष पात्रो के साथ नारी पात्रो को भी प्रमुख स्थान प्रदान किया जाता है। शायद ही कोई ऐसा उपन्यास हो, जिसमे मात्र पुरुष पात्र ही हो, और उनमे नारी पात्रो को पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया जाय। इसके कारण स्पष्ट है। हम यह स्वीकृत करते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन समाज की सीमाओ में ही टूटता बनता है। उसकी आस्थाए, मान्यताएं और विचारधाराए सामाजिक परिवेश मे ही जन्म लेती है, विकसित होती हैं, या विच्छिन्न होकर बिखरती है। उसकी कल्पनाए समाज मे ही प्राण पाती हैं और उसके स्वप्नो तथा उसकी आकाक्षाओ की साकारता भी समाज मे ही सिद्ध होती है। अर्थात् मनुष्य और समाज एक दूसरे के पूरक है। बिना मनुष्यो के समाज कैसा, और बिना समाज के मनुष्य क्या और उसका महत्व क्या? इस समाज में केवल पुरुष ही नही नारियाँ भी है। न तो अकेले पुरुष ही सामूहिक रूप से समाज की रचना कर सकते है और न मात्र नारियाँ ही समाज की रचना प्रक्रिया पूर्ण कर सकती है। दोनो से मिल कर ही समाज की रचना पूर्ण होती है। फिर उपन्यास तो हमारे मानवीय जीवन के प्रतिबिम्ब होते है। हम जो जीवन जीते हैं वह उपन्यासो के जीवन से कुछ विशेष भिन्न नही होता। हम जिस वातावरण मे सास लेते हैं, आगे बढते है वही उपन्यासो का भी वातावरण होता है और इस जीवन तथा वातावरण में जितना भाग पुरुषो का है, उतना ही नारियो का। इसीलिए जब उपन्यास की पात्र योजना निश्चित की जाती है, तो उसमे नारी पात्रो को भी समान भाग दिया जाता है, बल्कि अनेक अवसरों पर केवल नारी पात्रो को ही प्रमुख रूप से लेकर उपन्यास की रचना की गई है। अतः पात्र योजना मे नारी पात्रों का महत्वपूर्ण स्थान होता है, क्योकि नारियाँ हमारे वास्तविक जीवन मे भी पुरुष की पूर्णता सिद्ध कर जीवन को पूर्ण बनाती हैं। यह बात भिन्न है कि कथावस्तु इस प्रकार निर्वाचित की गई हो कि उसमे नारी पात्रो की अधिक सख्या न सम्भव हो, पर नारी पात्रो की सम्भावना पूर्णतया अस्वीकृत करना अविवेकपूर्ण दुराग्रह के अतिरिक्त कुछ और न होगा। उदाहरण के लिए यदि उपन्यास का कथानक केवल किसी युद्धस्थल से सम्बन्धित होता है, और लेखक आचलिक पृष्ठभूमि पर केवल युद्धस्थल की भयंकर विभीषिका, युद्ध के खतरों, उनके परिणाम आदि का वर्णन मात्र ही अपना उद्देश्य निर्धारित करता है, तो इस प्रकार के कथानक मे अधिक नारी पात्रों को स्थान देना सम्भव न होगा, फिर भी कुशल उपन्यासकार जीवन की पूर्णता के समान ही उपन्यास की पूर्णता के लिए नर्सो आदि के रूप में नारी पात्रों की अवतारणा कर उपन्यास के आकर्षण को किसी भी रूप मे न्यून अथवा नष्ट न होने देगा। नारी पात्रो की संख्या समाज की अवस्था पर भी निर्भर करती है। यदि समाज मे नारियो की स्थिति सम्मानपूर्ण हुई, उन्हे सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो, तथा उनमे निरन्तर प्रगतिशीलता हो, तो स्वभावत नारियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे इस समाज में पुरुषो से कन्धे से कन्धा

मिला कर चलेंगी, क्योंकि उन्हें अपने अधिकारों की रक्षा का बराबर ध्यान बना रहेगा। ऐसे समाज में उपन्यासकार कोई भी विषय अपने उपन्यास के कथानक के लिए चुनेगा, नारियों को समान महत्व प्राप्त होगा। पर यदि दुर्भाग्य से नारियाँ प्रगतिशील न हुई, समाज में उनकी स्थिति हेय और अपमानजनक हुई, उन्हें उनके वास्तविक अधिकार न प्राप्त हुए और राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में उनका कोई भाग न हुआ तो ऐसी स्थिति में उपन्यासकार नारी पात्रों को उतना प्रमुख स्थान न दे सकेगा, जितना वह देना चाहेगा। वह ऐसे पुरुष पात्रों की कल्पना भले ही करेगा, जो नारियों की स्थिति सुधारने के लिए और उन्हें विकासोन्मुख कर उनमें नवोन्मेष जागृत करने का प्रयास करेगा। अतः उपन्यास में नारी-पात्रों की संख्या क्या हो, उनका पुरुष पात्रों की तुलना में क्या अनुपात हो, यह प्रमुखतः उपन्यास की कथावस्तु पर निर्भर रहता है।

ऐसी भी सम्भावना उठाई जा सकती है कि उपन्यासों में नारी पात्रों की नितान्त रूप से भी आवश्यकता नहीं है और बिना नारी-पात्रों के भी उपन्यास लिखे जा सकते हैं। ऐसी सम्भावना प्रकट करने वाले अपने मत के समर्थन में यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि युद्ध आदि की पृष्ठभूमि में लिखे जाने वाले उपन्यासों में नारी पात्रों की रचना बुद्धिमतापूर्ण नहीं होगा, क्योंकि नारियों का युद्ध आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है और नारियों की कोई सेना अभी तक तैयार नहीं हुई है, जो मोर्चे पर जाकर युद्ध में सम्मिलित हो सकें और उन नारी सैनिकों एवं कमाण्डरों आदि का चित्रण उपन्यासों में किया जा सके। पर यह तर्क हास्यास्पद है और इसे किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। युद्ध की पृष्ठभूमि में लिखे जाने वाले उपन्यासों में भी अस्पताल की नर्सों आदि के रूप में नारी पात्रों की अवतारणा कर उपन्यास की पूर्णता सिद्ध की जा सकती है। साहित्य तथा नारी के परस्पर सम्बन्धों की अटूट शृंखला है। साहित्य कभी भी नारियों की उपेक्षा नहीं कर सका। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक साहित्य और प्रत्येक प्रगतिशील कलाकार ने नारी की महत्ता स्वीकार की है। यद्यपि दृष्टिकोण में विभिन्नता हो सकती है पर इस दृष्टिभेद के कारण ही नारियाँ कभी साहित्य में उपेक्षणीय नहीं रही हैं। साहित्य समाज का दर्पण होता है, और समाज की रचना नारी तथा पुरुषों के परस्पर योग से होती है। इसीलिए साहित्य में नारियों का भी समान चित्रण होता है। हम अपने मानव-सृष्टि के पूरे इतिहास को उठा कर अवलोकन करें, तो यह तथ्य स्पष्ट होगा कि नारियाँ हमारे साथ सदैव किन्हीं न किन्हीं रूपों में रही हैं। वे हमसे निकृष्ट नहीं रही हैं, क्योंकि पुरुषों की तुलना में नारियाँ भिन्न मनोवैज्ञानिक विशेषताओं से सम्पन्न हैं। नारी का व्यक्तित्व उतना ही महान महत्वपूर्ण होता

है, जितना पुरुषो का।[1] हमारे राजनीतिक तथा आर्थिक संघर्ष मे नारियाँ किन्ही न किन्ही रूपो मे बराबर भाग लेती रहती हैं। सामाजिक रचना मे भी उनका बराबर भाग होता है। हमारे अपने ही स्वाधीनता-संग्राम में असंख्य नारियों ने बराबर महत्वपूर्ण भाग लिया है। महारानी लक्ष्मीबाई, श्रीमती ऐनी बेसेन्ट, श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि नारियाँ हमारी स्वाधीनता की नीव की पत्थर हैं। इनके पूर्व भी राजपूती-शान और आन-बान में असंख्य नारियो के बलिदान की महान् प्रेरणादायक कहानियाँ सहज ही भुलाई नही जा सकती। यही नही पौराणिक आख्यानो में भी इस प्रकार के प्रसग भरे पड़े हैं, जब हमारे सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष मे नारियाँ अपने उत्तरदायित्व को हृदयगम कर महत्वपूर्ण भाग लेती रही हैं। सीता, उर्मिला अहिल्या, सावित्री, राधा आदि ऐसी ही महिलाएं थी, जिन्होने अपने अनुपम त्याग, सद्‌विचारों, और पवित्रता से समाज के सम्मुख एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया, और उसे एक नवीन दिशा प्रदान की। यह कहने का तात्पर्य इतना ही है कि हमारे जीवन सघर्ष मे नारियाँ कभी पीछे नही रही हैं। दृष्टिकोण की विषमता के कारण कोई भले ही उन्हे घर की चार-दिवारी मे बन्द रहने वाली निर्जीव गठरियाँ मात्र ही क्यो न समझ ले, इसमे उनकी महत्ता न्यून नही हो जाती। मानवीय-सृष्टि के आरम्भ से ही नारी और पुरुष के परस्पर सम्बन्ध की अटूट शृंखला चली आ रही है। फिर उपन्यासो की पात्र-योजना मे उनकी सम्भावना किस प्रकार अस्वीकृत की जा सकती है?

वस्तुतः यथार्थ जीवन में नारियों के जितने रूप होते हैं, उपन्यासो की पात्र-योजना में कथावस्तु के स्वरूप एवं आवश्यकतानुसार स्थान प्रदान किया जाता है, और उनका चित्रण होता है। इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि पात्र-योजना मे नारी पात्रों का अवतारणा एक अनिवार्य आवश्यकता होती है। जिस प्रकार की कथावस्तु होगी, उसी प्रकार उनका रूप भी होगा, और उसी अनुपात मे उनकी संख्या भी होगी। उदाहरणार्थ वृन्दावन लाल वर्मा के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास "झाँसी की रानी" के नाम से ही स्पष्ट है कि उसमे लक्ष्मीबाई के शौर्य, उनकी वीरता और उनके अनुपम त्याग की कथा होगी। इसीलिए स्वाभाविक था कि उसमें यथेष्ट मात्रा मे नारी-पात्रों की अवतारणा हो और सभी प्रमुख रूप से इस प्रकार से चित्रित की जाएं, जिससे लक्ष्मीबाई के चरित्र को गौरव एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हो। सुन्दर, मुन्दर, काशीबाई, मोतीबाई, जूही, झलकारी आदि नारी पात्रो की सृष्टि इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गई है। इसके विपरीत प्रेमचन्द का उपन्यास "प्रेमाश्रम" एक

---

१ But there is no question of women's inferiority to man, because she passes different psychological qualities Her personality is as great, supreme and important as man's.

—वाई० एम० रीग : व्हौदर वूमन ? (१९३८), बम्बई, पृष्ठ २७४।

सामाजिक उपन्यास है। इसमे जमींदारी प्रथा की कुरीतियां नायक और निर्धन वर्ग के संघर्ष तथा एक पुरुष पात्र की महत्वाकांक्षा के चित्रण के साथ ही शोषित वर्ग की अनेक समस्याओं का आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत करने का उद्देश्य रखा गया था। इस प्रकार की कथावस्तु की पात्र योजना में अधिक नारी पात्रों की अवतारणा सम्भव नहीं हो सकती थी, और उसमें तीन चार नारी-पात्रों के अतिरिक्त अन्य नारी पात्र नहीं हैं। फिर भी नारी-पात्रों की अवतारणा पूर्णरूप से अस्वीकृत नहीं की गई है।

नारी पात्रों का वर्गीकरण प्राय दो वर्गों में किया जाता है नायिका, अथवा सहनायिका, तथा गौण पात्र। नायिका का कथानक में प्रमुख स्थान होता है। गौण पात्र नायिका के चरित्र को स्पष्ट करने अथवा वातावरण को नवीन दिशा प्रदान के लिए अथवा नवीन वातावरण की सृष्टि करने के लिए रखे जाते है।

नारी पात्रों में नायिका

नारी पात्रो मे नायिका का प्रमुख स्थान होता है। वह सर्वप्रमुख नारी पात्र होती है। सामान्यत उपन्यास के नायक की प्रेयसी अथवा पत्नी ही नायिका कहलाती है। पर यह प्रत्येक अवस्था में आवश्यक नहीं है, और न कोई अनिवार्य नियम ही। नायिका की भिन्न सत्ता हो सकती है, और वह इस रूप में भी चित्रित की जा सकती है कि नायक से उसका कोई विशेष सम्बन्ध हो न हो। उपन्यास में नायक और नायिका दोनों का होना भी अनिवार्य नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि उपन्यासकार उपन्यास में नायिका को महत्व प्रदान करे और अनिवार्य रूप से उसकी सृष्टि करे। प्रेमचन्द के "रंगभूमि", "प्रेमाश्रम" आदि उपन्यासों में जन जीवन के चित्रण और घटनाओं को जितना महत्त्व दिया गया है उतना नायिका को नहीं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'गिरती दीवारें', वृन्दावनलाल वर्मा के 'संगम', 'प्रत्यागत', 'कुण्डली चक्र', प्रताप नारायण श्रीवास्तव के "विकास", भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष', तथा राहुल सांकृत्यायन कृत "जीने के लिये" ऐसे ही कुछ उपन्यास हैं जिनमें नायिकाओं को विशेष महत्व नहीं प्रदान किया गया है। इनमें या तो पुरुष पात्रों को प्रधानता देते हुए प्रसंगवश ही नारी पात्रों का स्पर्श भर कर लिया गया है, या केवल घटना-वैविध्य को ही महत्त्व प्रदान किया गया है। पर नारी पात्र पूर्णतया उपेक्षित नहीं रहे हैं।

अधिकांश रूप में प्रत्येक उपन्यास में पुरुष पात्रों की भांति नारी पात्रों की सृष्टि भी होती है। यह कोई आवश्यक नहीं कि नारी पात्रों की कोई विशेष संख्या होती है या वे किसी विशेष अनुपात में होती है। वे कथानक की आवश्यकतानुसार किसी भी संख्या में हो सकती है। यहाँ प्रश्न स्वभावत उठता है कि नारी पात्रों में नायिका का स्थान किसे प्रदान किया जाय? अर्थात नायिका की परिभाषा क्या हो? उपन्यास के नारी पात्रों मे कोई-न-कोई नारी ऐसी होती है जो कथानक का नेतृत्व करती हुई उसे अन्तिम उद्देश्य तक ले जाती प्रतीत होती है। उसका व्यक्तित्व उन

सभी नारी पात्रों में अत्यधिक निखरा हुआ, प्रबल एवं आकर्षक होता है। वह पाठकों का ध्यान बरबस अपनी ओर आकर्षित करती चलती है और यह पाठकों को अनुभव होता है कि उपन्यासकार किसी विशेष दृष्टिकोण से उस नारी पात्र को प्रस्तुत कर रहा है। साथ ही वह उसके चरित्र चित्रण की ओर उसके व्यक्तित्व को निखारने, सवारने में विशेष रूप से प्रयत्नशील रहता है। जिस प्रकार किसी कमरे के गहन अन्धकार में हीरे की चमक समाप्त नहीं हो जाती और उसका प्रकाश अपनी पूर्णता के साथ जगमगाता रहता है, उसी भाँति नारी पात्रों के समूह में वह नारी अपना विशेष स्थान रखती है और उन सबसे भिन्न दिखाई पड़ती है। इसी प्रमुख नारी-पात्र के इर्द-गिर्द कथानक का चक्र निर्मित होता है और कथानक में घटनाएं इस प्रकार सगुंफित की जाती हैं कि वह प्रमुख नारी पात्र उसका नेतृत्व करती प्रतीत होती है। वह कथानक के प्रत्येक मोड़ पर उपस्थित रहती है, और पुरुष पात्रों में जो प्रधान पात्र होता है, उसी के समान वह भी घटनाओं के घटित होने में प्रमुख भाग लेती है। कभी-कभी वह प्रधान पुरुष पात्र से भी अधिक महत्वपूर्ण भाग घटना क्रम में लेती है और अनेक दृष्टान्त तो ऐसे हैं जिनमें बिना किसी प्रधान पुरुष पात्र के इसी एक प्रमुख नारी पात्र को लेकर उपन्यास के कथानक का ताना बाना बुना गया है। उपन्यास के कथानक का कोई न कोई उद्देश्य होता है। वस्तुतः भाषा की प्रकृति ही ऐसी है कि जब भी किसी परिस्थिति के अर्थ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है, उसमें इसके पहले कि वस्तु विशेष स्पष्ट हो, वह ध्वनि सन्निहित रहती है कि वह वस्तु किस प्रकार की है[१]। उद्देश्यहीन उपन्यासों का कोई महत्व नहीं होता। उपन्यास का जो भी उद्देश्य होता है, उसका अन्त इसी प्रमुख नारी पात्र से संबन्धित होता है और फलागम की स्थिति उसी प्रमुख नारी पात्र को होती है। अर्थात् उपन्यास का अन्त उसी प्रमुख नारी पात्र के आधार पर होता है। वह सुखद भी हो सकता है, दुखद भी, पर इस प्रमुख नारी पात्र का प्रभाव उस अन्त पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित किया जा सकता है। इसी प्रमुख नारी पात्र को नायिका कहते हैं, और उसकी परिभाषा संक्षिप्त में इस प्रकार दी जा सकती है—नायिका का उपन्यास के कथानक के विकास-क्रम में सर्वप्रमुख स्थान होता है, और उपन्यास के फलागम की स्थिति उसे ही प्राप्त होती है।

यद्यपि अनेक दृष्टियों से यह परिभाषा अपूर्ण हो सकती है, और सत्य तो यह है कि उपन्यासकार का दृष्टिकोण इतना व्यापक होता है, जीवन अत्यन्त विस्तृत होता है, और साहित्य के क्षेत्र में नित्य होने वाले नवीन प्रयोगों की स्थिति में साहित्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण गद्य विधा उपन्यास की नायिका को परिभाषा की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। सारी उन्नसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी में

---

१ डेविड डैचेज : द नॉवेल एण्ड द मोडर्न वर्ल्ड, (शिकागो), पृ० ६५।

अब तक इतना अधिक संघर्ष मानव जीवन मे व्याप्त रहा है[1] कि जीवन का स्वरूप नित्य परिवर्तित हो रहा है। आज हमारी यह स्थिति है, कल इसका रूप विज्ञान किस प्रकार होगा, इससे हम पूर्णतया अनभिज्ञ ही हैं। नायिका कोई भी होगी, उसका हमारे मानवीय जीवन से सम्बन्ध होगा अतएव उसका स्वरूप किसी परिभाषा की सीमा से निश्चित नही किया जा सकता फिर भी ऊपर दी गई परिभाषा के अनुसार नायिका की विशेषताए इस प्रकार निर्धारित की जा सकती हैं। सभी नारी पात्रों मे उसका प्रमुख स्थान होता है। ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि उपन्यास मे नायिका के अतिरिक्त कोई अन्य नारी पात्र हो न हो पर ऐसा प्राय नहीं होता। कम से कम हिन्दी मे अभी तक ऐसा कोई प्रमुख उपन्यास नही प्रकाशित हुआ जिसमे नायिका के अतिरिक्त कोई अन्य नारी पात्र न हो। पर केवल नायिका को लेकर उपन्यासो की रचना की सभावना को अस्वीकृत नही किया जा सकता विशेष रूप से जबकि आज उपन्यासजगत मे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रमुख हो रहा है, और व्यक्ति की सत्ता अधिक निर्धारित की जा रही है। अन्य नारी पात्रों की अपेक्षा नायिका का व्यक्तित्व अधिक सबल, निखरा हुआ और आकर्षक होगा। ऐसा भी हो सकता है कि कुछ उपन्यासों मे हम ऐसी नायिकाए दृष्टिगोचर हों, जिनका व्यक्तित्व अत्यन्त ही दुर्बल हो, वह अधिक निखरा हुआ न हो और वह आकर्षक होने के बजाय हमारी घृणा ही उसके प्रति जागृत हो। 'गबन' की जालपा आरम्भ मे अत्यन्त दुर्बल प्रवृत्ति की नारी है। 'सेवासदन'' की ''सुमन भी लगभग उसी प्रकार की है। आधुनिक मनोविश्लेषण और मनोविज्ञान के वहन नारी पात्रों की परीक्षा करने वाले अनेक उपन्यासकार इसी प्रकार के पात्रो की कल्पना या सृष्टि किया करते हैं। पर प्राय होता यही है कि नारी के प्रति जो सहज आकर्षण और सहानुभूति होती है, वह हमें उनके प्रति पूर्ण रूप से घृणा करने से रोकती है। यशपाल के "दादा कामरेड" की शैला नायक हरीश के सम्मुख थोथी भावुकता पर पूर्ण रूप से नग्न होकर भी हम उससे एकदम घृणा नही कर पाते, उल्टे उपन्यासकार पर ही हम अपना आक्रोश प्रकट करते हैं। इसी प्रकार जैनेन्द्र की 'सुनीता'' मे सुनीता द्वारा हरिप्रसन्न के सम्मुख नग्न होकर यह कहने के बावजूद भी 'हरी, मुझे लो, मुझे पाओ। इस एक आवरण को भी हटाय देती हूँ, वही मुझको ढक रहा है। मुझे चाहते हो न ? मैं भी इनकार नही करती। यह लो 'हम उससे किंचित मात्र भी घृणा नही कर पाते, यह जानते हुये भी कि वह विवाहित स्त्री है, पति परायण है ?, और एक पर-पुरुष के सम्मुख आधी रात को जगल मे इस तरह की बातें कर रही है। अज्ञेय के 'शेखर" एक जीवनी की शशि भी जसे इसी प्रकार हमें विवश कर हमारी सहानुभूति ले जाती है। उपन्यास मे फलागम की स्थिति नायिका को प्राप्त होती है, किसी अन्य नारी पात्र को नही। "सुनीता" मे हरिप्रसन्न की मन स्थिति परिवर्तित कर

१ एच॰ जी॰ वेल्स आउटलाइन्स ऑव हिस्ट्री, (१९२०), लन्दन, पृ॰ ५०५।

सुनीता उसके मन मे बंधी हुई गाठ खोलती है, साथ ही प्रारम्भ मे वह अपने पति से जो खिची-खिची सी रहती है, वैवाहिक जीवन सुखमय नही रहता, वह भी अन्त मे समाप्त हो जाता है, और सुनीता सुखी हो जाती है। "दादा कामरेड" में शैला अपने गर्भ मे नये हरीश को लिए जैसे कभी न समाप्त होने वाले जीवन संघर्ष की ओर सकेत करती है। "त्यागपत्र" में मृणाल की मृत्यु के साथ ही सब कुछ समाप्त हो जाता है। वह अपनी मृत्यु के साथ ही हमारी चेतना पर जैसे हथौड़े से चोट कर जाती है और हमे इस बात के लिए विवश कर जाती है कि हम नारी की समस्याओं के हर पहलू पर सोचकर यह निष्कर्ष निकाले कि नारी की मुक्ति किसमे है? उपन्यास का कथानक उस नायिका के ही इर्द-गिर्द घूमता रहता है, अर्थात् कथानक के संगठन मे नायिका का प्रमुख स्थान होता है। कथानक की गतिशीलता मे नायिका महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करती है। कथा-सगठन मे यदि उसका स्थान अधिक महत्वपूर्ण नही भी होता है, तो भी कथानक को साथ ही ले चलती दृष्टिगोचर होती है।

नायिकाओ की अनेक श्रेणियाँ होती है। प्रत्येक उपन्यासकार नारी को विभिन्न दृष्टिकोण से परखता है। कोई उन्हे वीरागना के रूप मे, कोई जासूस के रूप मे, कोई केवल माँ के रूप मे, कोई केवल भोग की सामग्री के रूप मे और कोई केवल उन्हे प्रेम की विरहाग्नि मे जलती हुई नायिका के रूप में देखता है और चित्रित करता है। नायिका के निर्वाचन मे तत्कालीन युग की परिस्थितियों, सामाजिक मर्यादाओं, नैतिक आदर्शो और लेखक की अपनी मान्यताओं तथा धारणाओ का अधिक प्रभाव पड़ता है। उसका स्वरूप एक प्रकार से उन्ही रेखा बिन्दुओ के मध्य ही निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए कल हमारी परिस्थितियाँ आज से पूर्णतया भिन्न थी। आज हम निरतर एक उत्कम्प की स्थिति मे जी रहे है। आर्थिक दृष्टि से सुदृढता लाने और राष्ट्र के नव निर्माण की प्रमुख समस्या हमारे सम्मुख है। उस परिस्थिति मे आवश्यक है कि नारियाँ भी उस सामाजिक सघर्ष मे हमारे साथ कधे से कंधा मिलाकर चले, और हमे अपने निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने मे बराबर सहयोग दें। आज नारी परिवर्तित परिस्थितियो मे केवल भोग या विलास की सामग्री ही नही रह गई है। वह उस सीमा से आगे आ चुकी है। धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है, अर्थात् वह शरत् युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंभवादी पुरुष की इच्छा के बहाव मे अपने को पूर्णतया बहाना और मिटाना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारो का सामना पूर्ण शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा मे जुट रही है[1]। घर का सीमित वातावरण अब उसके विकास की राह मे समस्या नहीं है। वह जिस सीमा तक गृह-

१. इलाचंद्र जोशी : विवेचना, (१९४६), इलाहबाद, पृ० १२४।

लक्ष्मी है, उसी सीमा तक हमारे संघर्षों में हमारी सहयोगिनी भी है। इसका मार्ग प्रेमचन्द ने सुझाया था और आगे चलकर जैनेन्द्र, भगवती प्रसाद वाजपेयी, यशपाल, उपेन्द्रनाथ "अश्क", अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी आदि ने इसे और भी पुष्ट किया। परिणामस्वरूप जहां जैनेन्द्र की मृणाल को लेकर हम एक गम्भीर समस्या सोचते हैं कि अंततः नारी की मुक्ति किसमें है? क्या वह केवल इसलिये संकट झेले, इसलिये यन्त्रणाएं सहन करे, क्योंकि वह पुरुष के सहारे आश्रित है? वहीं इलाचन्द्र जोशी की मंजरी जैसे इसका समाधान प्रस्तुत करती है कि नारियाँ अपने पैरों पर खड़ी होकर गन्दगी और सामाजिक विषमताओं से ऊपर उठ स्वावलम्बी बन अपना जीवन व्यतीत कर सकती है। इसके अतिरिक्त हिन्दी उपन्यासों में हमें अधिकांश नायिकाएं इस रूप में दृष्टिगोचर होती हैं, जो जाने अनजाने में पुरुष का निर्माण करती चलती है। पुरुष की प्रत्येक दुर्बलता अपने आँचल में समेट वे उन्हें नया विश्वास, संघर्षों का साहसपूर्वक सामना कर अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ने रहने को अनुप्रमाणित करती हैं। जैनेन्द्र की सुनीता के कथन में बहुत कुछ सच्चाई है कि "हमारा यह काम है कि हम पुरुषों को सामने चलावें। जब तक वह सामने बढ़ता है, हम पीछे पीछे हैं। जब वह पीठ की ओर भागना चाहे, तब हम सामने हो आती है। हमसे पार होकर वह नहीं जा सकेगा। स्त्री यह न सहेगी कि पुरुष उसके आगे भाग भाग न स्पष्ट करता जाय। पुरुष इस दायित्व से भागना चाहेगा तो पीछे स्त्री से गिरफ्तार होकर फिर उसे आगे मार्ग चलना होगा। पुरुषों के इस अधिकार के आगे स्त्री कृतज्ञ है। किन्तु स्त्री का भी यही अधिकार है कि पुरुष को पदच्युत न होने दे।" जैनेन्द्र की अधिकांश नायिकाएं किन्हीं किन्हीं रूपों में पुरुष निर्माण के सम्बल के रूप में आती हैं। उसके अतिरिक्त अन्य आधुनिक उपन्यासकारों ने भी कुछ इसी प्रकार की धारणा को प्रश्रय दिया है। "इस प्रकार नायिकाओं की विभिन्न श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं। वस्तुतः कथानक की घटना प्रक्रिया की माँग के अनुसार ही उनका निर्वाचन होता है"[1]। सच तो यह है कि जिस प्रकार मानवीय जीवन में विविधता है उसी भाँति उपन्यास की नायिकाओं में भी विविधता है नारी जीवन के जितने भी रूप हो सकते हैं, उपन्यास की नायिकाएं उन्हीं का प्रतिनिधित्व कर उपन्यास संसार से यथार्थ जीवन की नारियों की स्थिति की अभिव्यक्ति करती हैं, क्योंकि उपन्यास का मानव जीवन के साथ निकट सम्बन्ध होता है और वह मानवीय जीवन का कल्पित लेखा-जोखा होता है। नायिकाओं की परिकल्पना के अनेक उद्देश्य होते हैं—

नारी के मर्मस्पर्शी चित्रण से करुणा एवं आकर्षण की उत्पत्ति

नारी के प्रति पुरुष का आकर्षण आदिकाल से ही चला आ रहा है। इस आकर्षण के विभिन्न स्तर हो सकते हैं। कोई नारी को केवल प्रेमिका रूप में ही

१ एडविन म्योर द स्ट्रक्चर ऑव द नावल, (१९४६), लंदन, पृ० २०-२१।

देखना चाहता है, कोई नारी को माँ रूप मे, कोई पत्नी या भगिनी रूप में देखना चाहता है, पर एक बात निश्चित है कि दृष्टिभेद के जो भी रूप हों, नारी के प्रति पुरुष का स्वाभाविक आकर्षण होता है। आज जबकि नैतिकता का अत्यत पतन हो गया है, और सभी देशो से सभ्यता एवं संस्कृति खंडित होकर मर्यादाएं बिखर रही हैं वासना का प्रचंड उद्दाम तीव्रता से वृद्धि प्राप्त कर रहा है, और लोगों की मनोवृत्तिया कुंठित होकर नारी के रूप, सौन्दर्य, उसके नेत्र, भृकुटियों, केशों तथा हाव-भाव पर अधिक सीमित होते जा रहे हैं, प्रश्न उठता है, नैतिकता है क्या ? एक के लिए जो नैतिक है, दूसरे के लिए अनैतिक हो सकता है। एक व्यक्ति का अपने एकमात्र पुत्र की उपेक्षा करके अपनी सारी सम्पत्ति समाज के किसी कल्याणकारी कार्य मे दान दे दिए जाने का समाज तो स्वागत करेगा, तथा उसे नैतिकता का सही मूल्यांकन करने वाला व्यक्ति समझेगा, पर उस पुत्र की दृष्टि में यह कृत्य उस व्यक्ति का बहुत बड़ा नैतिक अपराध होगा। वास्तव मे धर्म के अनुमोदन से समाज की प्रचलित परम्पराएं ही नैतिकता के नियमो का रूप धारण कर लेती हैं, और जब हम नैतिकता की बात करते है, तो यह निर्विवाद है, कि वह वासनात्मक नैतिकता से सम्बन्धित होती हैं।[1] वासनात्मक नैतिकता स्वाभाविक मानवीय भावों को महत्त्व नही देती।[2] वासनात्मक अनैतिकता को नियंत्रित करने के लिए ही विवाह को अत्यन्त आवश्यक माना गया है, तथा विवाह के अतिरिक्त वासनात्मक सम्बन्ध अमान्य समझा जाता है। पर अमान्य होने के बावजूद भी उसका प्रचार निरन्तर बढ़ता गया, और यह धारणा दृढ़ता प्राप्त करने लगी कि एक नारी को पुरुष के प्रति हर प्रकार से आत्म-समर्पण कर देना चाहिए। इस वासनात्मक नैतिकता के अन्तर्गत पुरुष जिस प्रकार के भी बच्चे नारी को देता है, उसे स्वीकृत करना पड़ता है। इसमे नारी की पसन्द का कोई प्रश्न नही उठता। इस प्रचलित वासनात्मक नैतिकता को नारियो ने एक-पक्षीय तथा अपनी दृष्टि से पूर्णतया

---

१. "When we speak of morality, we are understood, nine hundred and ninety nine times out of a thousand to refer ..to sexual morality."

—आर० ब्रिफाल्ट : द मदर्स, तीसरी पोथी, (१९२८), पृष्ठ २५२।

२ "Our sexual morality has disregarded natural human emotions and is incapable of understanding those who declare that to retain unduly traditional that are opposed to the vital needs of human society is not a morality but an immorality."

हैवलाक एलिस : स्टडीज इन द साइकोलोजी ऑव सेक्स, छठी पोथी (१९३८), लन्दन, पृष्ठ ३६३।

अनुपयोगी बताया।[1] आगे चल कर वासनात्मक सम्बन्धो मे अधिक सामाजिक स्वच्छन्दता की अपेक्षा की जाने लगी तथा पश्चिमी देशो म तो यह एक साधारण सी बात हो गई, साथ ही भारत म भी धीरे धीरे यह भावना प्रचलित होने लगी। इससे समाज म एक विचित्र सी अव्यवस्था व्याप्त हो गई। आगस्त फोरेल ने अपनी पुस्तक म एक करुण प्रसग का चित्रण करते हुए लिखा है,[2] कि फीदा केलर नामक एक उन्नीस-वर्षीया युवती एक होटल म नौकरी करती थी। उसके मालिक न उसके साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लिया तथा एक बच्चे का जन्म भी हुआ। सामाजिक अपराध और लज्जा का भाव फ्रीदा पर इतना पडा कि उसने बच्चे की हत्या कर दी। उस पर मुकदमा चला और अपराध प्रमाणित हुआ, किन्तु जजो ने मत्युदण्ड के स्थान पर उसे आजन्म कारावास का दण्ड दिया। इस प्रकार की घटनाओ का दार्शनिक पक्ष आखिर है क्या जिसे हम अपने नित्यप्रति के जीवन मे देखते हैं? यह अपरिग्राह्य मान्यताओ को नतिकता के परिवेश म समेट कर आगे बढने वाला हमारा समाज है जो इस प्रकार अनेक फ्रीदा केलरो को अपने बच्चों की हत्या करने पर विवश करता है। समाज की भद्दी नतिकता के कारण ही वे अपने बच्चो को पाप की जीती जागती तस्वीर समझती हैं[3] तथा अपने रक्त के एक टुकडे को चाह कर भी वह अपना बच्चा नही कह सकती क्योकि समाज उसे उस निर्दोष से घृणा करने पर विवश करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाज म काम-वासना की भावनाए अनियन्त्रित होकर प्रसारित हो रही है, तथा नारी पुरुष के स्वतन्त्र और मनचाहे शारीरिक सम्बन्ध की भावनाऐं अन्दर ही अन्दर सुलग रही हैं, एक उबाल आ रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे समाज का यह सारा रूप विधान ही नष्ट हो जायगा। ऐसे अनेक उपन्यास लिखे गये हैं या लिखे जा रहे हैं, जिनम नारी पुरुष के इसी आकर्षण को ध्यान मे रखकर नायिकाओ की कल्पना की गई है,[4] जिससे उपन्यास के आकर्षण मे वृद्धि हो सके।

---

१ "Sex morals for women have been one-sided, they have been purely negative, inhibitory and repressive They have been fixed by agencies which have sought to keep women enslaved, which have been determined, even as they are now, to use women solely as an asset to church, the state and the man"
मागरेट सैन्जर वुमन ऐन्ड द न्यू रेस (१९२०), लन्दन पृष्ठ १७६।

२ आगस्त फोरेल द सेक्सुअल क्वश्चन, (१९३१), लन्दन, पृष्ठ ४१३ ४१६।

३ वाई० एम० रीग व्हादर वुमन ?, (१९३८) बम्बई, पृष्ठ ११६-११६।

४ यशपाल के "दादा कामरेड", अज्ञेय के "शेखर" एक जीवनी, उपेन्द्रनाथ "अश्क" के "गमराज" आदि ऐसे ही उपन्यास हैं।

नारी-चित्रण से जीवन की भाँति उपन्यास के अधूरेपन की पूर्णता

मानव समाज की मूल पृष्ठभूमि में नारी विद्यमान है। मानव सभ्यता एव संस्कृति का इतिहास वस्तुतः नारी की स्थिति के विकास से ही प्रतिबिम्बित होता है। समाज प्रेरणा, शक्ति, प्रेम एवं विश्वास आदि सभी कुछ नारी से ही प्राप्त करता है। जीवनगत स्थिरता को समाप्त कर मानव समाज की परिवर्तित परिस्थितियों तथा सामाजिक मानव मूल्यांकन के साधनों में नारी सर्वप्रमुख है। समाज में नारी और पुरुष का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। वह समाज में पुरुष से कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखती।[1] प्रायः सृष्टि के प्रारम्भ से ही हम देखते आ रहे हैं कि मानव जब भी जीवन संघर्ष में असफल हुआ है, जब भी वह सभ्यता की दौड़ से पिछड़ा है, जब भी मानसिक अशांति से वह आक्रान्त हुआ है, और जब वह पीड़ा तथा अवसाद की लहरों पर डूबता उतराता रहा है, नारियों ने सदैव पुरुषों को सहायता प्रदान कर परिस्थिति परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है। पुरुष ने अकेले ही निर्माण की प्रक्रिया पूरी नहीं की है। सत्य स्थिति तो यह है कि पुरुष अराजकता उत्पन्न कर सभ्यता की लम्बी दौड़ में वास्तविक संस्कृति को जन्म देने में सदैव असफल रहा है।[2] इसके विपरीत नारियों ने पुरुषों के बराबर आगे बढ़ने रहने की प्रेरणा दी है। पुरुषों को अपना ममत्व, अपना आत्म-विश्वास तथा अपनी जीवन-संवेदना प्रदान कर वे सभ्यता के विकास का प्रयत्न करती हैं, । क्योंकि पुरुष केवल अपने जीवन की व्यक्तिगत बातों के सम्बन्ध में ही सोचता है और वास्तविक मूल्यों की जीवन में अवहेलना करता है।[3] पुरुषों का जीवन निर्दोष तथा श्रेष्ठ कभी नहीं स्वीकृत किया गया है। वास्तव में पुरुषों में थोड़ी पशुता होती है, जिसका निराकरण वह पूर्ण निश्चय करके भी नहीं कर पाता। वही पशुता ही उसे पुरुष का रूप प्रदान करती है। विकास क्रम में वह नारी से कहीं पीछे है। जिस दिन वह विकास के चरमोत्कर्ष को स्पर्श कर लेगा, वह भी पूर्णतया नारी रूप हो जायगा। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया इन्हीं आधारों पर यह सृष्टि थमी हुई है, और यह नारियों के सर्वप्रधान गुण हैं।[4] यही नहीं नारी वफा और त्याग का सजीव प्रतिबिम्ब

१. डा० मैरिक बुक: वोमन ऐन्ड सोसायटी, (१६२८), लन्दन, पृष्ठ ७२।

२. Woman must realise that man has utterly failed in the long process of civilisation to produce true culture. Anarchy, chaos and discontent are the achievements of the man, because he has not understood the true importance and value of human being."

वाई०एम०रीग : व्हीदर वुमन? (१६३८), लन्दन, पृष्ठ २७४ ।

३. सिगमण्ड फ्रायड : सिविलिजेशन एन्ड इट्स डिसकन्टेंट्स, (१६३०), लन्दन, पृष्ठ ७।

४. प्रेमचन्द : कर्मभूमि, बनारस, पृष्ठ २००।

हैं, जो अपने मूक त्याग से अपने अस्तित्व को पूर्णतया मिटाकर अपने पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है। तन पुरुष का रहता है पर आत्मा वस्तुत नारी की ही होती है। पुरुष अपना अस्तित्व इसलिए नही मिटाता कि उसमे इसकी सामर्थ्य ही नही है। यदि वह अपने को मिटायेगा तो वह शून्यता की स्थिति को पहुच जाएगा। वह किसी खोह मे जा बैठगा और सर्वात्मा मे मिल जाने का स्वप्न देखेगा। वह तेज प्रधान जीव है और अहकार म यह समझ कर कि वह ज्ञान का पुतला है सीधा ईश्वर मे लीन होने की कल्पना किया करता है स्त्री पृथ्वी की भाति धैर्यवान है, शक्ति सम्पन्न है, सहिष्णु है।[1] नारी की स्थिति पुरुषो की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है, और वह सत्य अर्थो मे पुरुष का पूर्णता प्रदान करती है। अत यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की पूर्णता नारी को लेकर ही है। नारी के अभाव म समाज अपूर्ण है मानव जीवन अपूर्ण है, यह सृष्टि मूल्य हीन है।

हिन्दी उपन्यास मे साहित्य का वास्तविक रूप प्रमचन्द के आगमन के पश्चात् ही निखरा, अत मानव जीवन के साथ उपन्यास का निकटतम सम्बन्ध तभी स्थापित हो पाया था, और तभी उपन्यासो म मानव जीवन का प्रतिबिंब सत्य अर्थो मे प्रस्तुत किए जाने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ था। अत प्रमचन्द के आगमन के साथ ही हिन्दी उपन्यासो मे एक नये युग का सूत्रपात हुआ, और उपन्यास तथा मानव जीवन के बीच की दूरी प्राय समाप्त हो गई थी यही कारण है कि तभी हमे उपन्यास अपने व्यक्तिगत जीवन से अधिक निकट लगे और इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि उनमे नारी चित्रण को अत्यत सतुलित रूप म प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई थी, जिससे वे जीवन की ही भाँति उपन्यास को भी पूर्णता प्रदान कर सकें। प्रेमचन्द के "गोदान" उपन्यास मे से मालती, धनिया, सिलिया तथा गोविन्दी को निकाल देने के पश्चात कुछ भी विशेष शेष नही रह जाता। इन चारो पात्रो ने 'गोदान" मे कथानक को ऐसी दिशाए प्रदान की हैं, जिनके अभाव मे उपन्यास प्राय अपूर्ण सा ही होता। इन नारी पात्रो ने क्रमश मेहता, होरी, गोबर तथा खन्ना को पग पग पर जीवन सघर्ष की ओर उन्मुख करने तथा उनके जीवन का पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। जनेन्द्र के "सुनीता" म भी सुनीता के कारण ही कथानक की पूर्णता का आभास होता है। नारी को लेकर ही परिवार होता है, वही परिवार की सूत्र सचालिका होती है। वास्तव मे बिना नारी के परिवार कैसा? परिवार म केवल दो व्यक्ति हैं सुनीता और श्रीकान्त। दोनो एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। बीच में हरिप्रसन्न आ जाती है। परिणामस्वरूप सघर्ष उत्पन्न होता है, फिर भी परिवार टूटता नहीं, श्रीकान्त और सुनीता बने ही रहते हैं।

नारी समस्या को प्रस्तुत करना

भारत म ही नहीं विश्व के प्राय प्रत्येक भाग मे नारियों के सम्मुख उन्नीसवीं

1 प्रेमचन्द गोदान, (१९३६), बनारस, पृष्ठ १२४।

शताब्दी में अपनी हीनावस्था से बाहर निकलने की समस्या सर्वप्रथम थी। यद्यपि यह समस्या आज भी किसी न किसी रूप में नारियों के सम्मुख उपस्थित है तो भी उनका पूर्ण समाधान नहीं हो पाया है। इस काल में नारियों में चेतना उत्पन्न करने, उनकी शिक्षा, प्रगति, आर्थिक स्वतन्त्रता राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार की प्राप्ति आदि कुछ ऐसी ही समस्याएं थीं जिनकी ओर समाज का ध्यान या तो गया ही नहीं था, और गया भी था तो, उसे क्रियात्मक रूप प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। समाज को हिचक थी, परम्पराओं के प्रति मोह था रूढ़ियों से उसका मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध था तथा दृढ़भावनाओं का पूर्ण अभाव था। वहीं नहीं स्वयं नारियों में भी अधिकांश में अपनी स्थिति में परिवर्तन के प्रति कोई उत्साह न था, और न विशेष उत्सुकता ही थी। जो समाज सुधार आन्दोलन प्रचलित भी थे, उन्हें इसी कारण उतने अंशों में सफलता नहीं प्राप्त हो रही थी, जितनी उन्हें प्राप्त होनी चाहिए थी। ऐसी अवस्था में साहित्य का उत्तरदायित्व गुरुतर हो गया था। क्योंकि साहित्य समाज की समस्याओं को प्रस्तुत कर उनका समाधान खोज निकालने में सहायता प्रदान करता है। वास्तव में "जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो हमारा सौंदर्य प्रेम न जागृत हो जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।"[1] साथ ही ऐसे साहित्य का न रचा जाना ही श्रेयस्कर होता है। साहित्य के इस उद्देश्य को पूर्ण करने का उपन्यास सर्वाधिक सशक्त माध्यम अपने प्रारम्भिक काल से ही बन गया था, क्योंकि कथा-कहानी की ओर लोगों की विशेष रुचि होती है, और उपन्यासों में इसी कारण इस उद्देश्य की विशेष रूप से पूर्ति हो सकी।[2] उपन्यासकारों ने नारियों की हीनावस्था की ओर अपनी विशेष रुचि प्रदर्शित की, तथा नारी की इन कठिनाइयों को प्रमुखता देते हुए ऐसी नायिकाओं की कल्पना करने की चेष्टा की, जिससे वे नारियों की इन समस्याओं को यथार्थवादी ढंग पर उपन्यास के माध्यम से समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर सकें तथा उसके बन्द नेत्र खोल उसे परिवर्तन की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दे सके। उपन्यासकारों के इस प्रकार के नारी चित्रण का प्रमुख उद्देश्य नारी की हीनावस्था की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर नारियों के विकास के लिए एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार करना था, जिससे उनकी स्थिति में पर्याप्त मात्रा में सुधार हो सके। उपन्यासों के लिए यह पूर्णतया स्वाभाविक भी था, क्योंकि जैसा कि स्वयं प्रेमचन्द ने स्वीकार किया है कि, "मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल, प्रपंच या परिस्थितियों के वशीभूत हो वह

---

१. प्रेमचन्द : कुछ विचार, (१९४०), बनारस, पृष्ठ ७, "साहित्य का उद्देश्य" नामक निबन्ध।

२. रिचर्ड चर्च : द ग्रोथ ऑव द नॉविल, (१९५१), लन्दन, पृष्ठ १७।

अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगा कर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ है, साहित्य ने ही बनाये हैं। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है, इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है साहित्य।'[1] 'उपन्यासकार साहित्य के इसी महान उद्देश्य को अपने सम्मुख रख कर अपनी कृति के कथानक का सगुम्फन करता है और वह सगुम्फन जब मानवीय जीवन की विभिन्न दिशाओं को एकत्रित करके किया जाता है तो उसमें नारी की समस्याओं को भी समान स्थान प्राप्त होता है और उनका समाधान उपन्यासकार अपनी नायिकाओं अथवा अन्य नारी पात्रों की सहायता से करता है। वह थोड़ी सी कुशलता अपनाकर नारी से सम्बन्धित समस्याओं को उपस्थित कर नारियों का निश्चित दिशा सरलता से प्रदान कर सकता है।[2] निम्नलिखित समस्याओं को नारी चित्रण के माध्यम से प्रस्तुत कर उनका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रायः सभी उपन्यासकार करते हैं—

१ अनमेल विवाह
२ वेश्या-वृत्ति
३ विधवा विवाह
४ नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता
५ पारिवारिक-जीवन
६ प्रेम

भारत में नारियों को विवाह सम्बन्धी वह स्वतन्त्रता नहीं थी, जो विदेशों में अत्यंत साधारण बात थी। नारियों पर अनेक पारिवारिक नियन्त्रण थे, जिसके कारण वह अपने पतियों को चुनने का स्वयं कोई अधिकार न था। बाल विवाह के कारण अल्पावस्था में ही लड़कियों का विवाह कर दिया जाता था, जिससे बड़ी होने पर उन लड़कियों का जीवन असंतोष एवं आत्म पीड़न का विचित्र सामंजस्य बन जाता था। अनमेल विवाह का एक और कारण भारत की शोचनीय आर्थिक अवस्था, तथा भारतीय समाज में विवाह सम्बन्धी त्रुटिपूर्ण रूढ़ परम्पराएं थीं। विवाह में दहेज की समस्या इतनी भीषण रूप में उपस्थित हो गई थी कि विवाह वस्तुतः दो मनुष्यों का वैवाहिक बंधनों में बंधने का नहीं, अपितु एक व्यापारिक प्रक्रिया का रूप धारण कर चुका था। प्रायः लोग अपनी लड़कियों के लिए योग्य वर इसलिए

१ प्रेमचन्द कुछ विचार, (१९४०), बनारस, पृष्ठ ८६—"जीवन में साहित्य का स्थान" नामक निबन्ध।
२ वायला क्लीन द फमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ १८३।

नहीं खोज पाते थे, क्योंकि मुँहमाँगी दहेज देने की उनमें सामर्थ्य न होती थी। अनमेल-विवाह की इस भीषण समस्या से उपन्यास अछूते न रह सके और उपन्यास-कारों ने इसी उद्देश्य से ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना की, जो अनमेल विवाह का शिकार होती थी, और जिनका जीवन पूर्णतया असंतोषपूर्ण होता था। प्रेमचन्द का "निर्मला" उपन्यास इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। "सेवासदन" में अनमेल विवाह के कारण ही सुमन वेश्या बनती है। जैनेन्द्र कुमार के "त्यागपत्र" में भी मृणाल की परिकल्पना जिन उद्देश्यों में की गई थी, उनमें यह उद्देश्य भी सर्व-प्रमुख था, और मृणाल इसी अनमेल विवाह के दोषों का संकेत देती है।

अनमेल विवाह की समस्या के साथ ही नारी जीवन में विधवा की समस्या भी प्रमुख रूप में सदैव उपस्थित रही है। विधवा नारियों की समाज में बराबर ही दुर्गति हुई है। प्रारम्भ में उन्हें अपने पति के शव के साथ ही सती हो जाना पड़ता था, क्योंकि पति की मृत्यु के पश्चात् उन्हें बड़ा अपमानजनक जीवन व्यतीत करना पड़ता था, विधवा से विवाह करने की तो कोई कल्पना भी नहीं करता था। एक पुरुष दो तीन चाहे जितने विवाह कर सकता था, पर नारियों का दूसरा विवाह करना जैसे स्वयं में ही एक विडम्बना मात्र थी। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो विधवा की समस्या केवल आर्थिक ही नहीं है। यदि इस समस्या के मूल में केवल आर्थिक प्रश्न ही होता तो, समाज में दो चार ऐसे धनी अवश्य निकल आते जो अपनी उदारता से इतना धन दान स्वरूप दे डालते, जिससे एक कोष स्थापित करके उनकी समस्या हल की जा सकती। सत्य स्थिति तो यह है कि विधवा समस्या मात्र आर्थिक ही नहीं वैयक्तिक भी है। यदि कोई उदार व्यक्ति किसी विधवा नारी की शोचनीय स्थिति से द्रवित होकर उसके प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रदान करता है तथा वह उसे अपने यहाँ शरण देकर उसके खान-पान की व्यवस्था कर देता है तो स्वाभाविक है कि वह नारी अपनी विवशता को ध्यान में रखकर उस व्यक्ति के कृतज्ञता के भार से दब जायगी। इस स्थिति का लाभ उठाकर यही 'उदार व्यक्ति' जब अपनी कुत्सित भावना को शान्त करना चाहता है, तो समस्या का एक भिन्न रूप हो जाता है। यदि उस व्यक्ति में निःस्वार्थता की भावना हो, तब तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पर प्रमुख प्रश्न तो यह कि समाज के निःस्वार्थ भाव से इस प्रकार की सेवा करने वाले व्यक्तियों की संख्या कितनी है? अधिकांश तो अपनी सहृदयता का बदला चाहते हैं, और फलस्वरूप वह विधवा नारी उसी उदारता का ऋण चुकाने के लिए बाध्य होती है। अतः विधवाश्रमों की स्थापना से अधिक श्रेयस्कर समाधान पुनर्विवाह ही हो सकता है। यद्यपि विधवा विवाह का समर्थन वैदिक काल में प्राप्त होता है[1] अथर्ववेद में भी एक विधवा नारी के पुनर्विवाह का प्रसंग प्राप्त होता

---

१. उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ॥　　—ऋग्वेद, १०,८

है[1] पर आगे इस व्यवस्था को समर्थन नही प्राप्त हुआ और यह प्राय समाप्त सी हो गई। उपन्यासकारो का ध्यान इस गम्भीर समस्या की ओर भी गया, और अपने उत्तरदायित्व को समझ कर उन्होने ऐसी नायिकाओ की कल्पना की, जिससे विधवा समस्या को यथार्थ मे वे समाज के सम्मुख उपस्थित कर सके तथा उसका समाधान खोज निकालने के लिए लोगो को प्रवृत्त कर सके। उपन्यासकारों का प्रमुख उद्देश्य ऐसी नायिकाओ की कल्पना कर केवल समाज को ही आकर्षित करना नही था, वरन् स्वय विधवा नारियो को भी अपनी गहराई से सोचने के लिए तथा आत्महत्या आदि कायरतापूर्ण मार्ग न अपना कर अपनी उस हीनावस्था मे भी जीवनगत गरिमा स्थापित करने की प्रेरणा देने का था। प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यास 'प्रतिज्ञा" मे पूर्णा की परिकल्पना इसी उद्देश्य से की गई थी, जिससे समाज के सम्मुख विधवा समस्या का एक पूर्ण चित्र उपस्थित हो सके।

नारी जीवन मे वेश्या समस्या भी कम महत्वपूर्ण नही है। आर्थिक विषम दशा तथा समाज की रूढ परम्पराओ के कारण नारियो के लिए वेश्यावृत्ति अपनाना एक प्रकार से आवश्यक सा हो जाता था। इसके निराकरण का एकमात्र उपाय था कि वे आत्महत्या कर लें। वेश्यावृत्ति के अनेक कारण समाज में प्रचलित थे। प्राचीन काल म प्रेम-सम्बन्धी स्वतन्त्रता न प्राप्त थी। जब दो व्यक्तियों मे प्रेम सम्बध स्थापित हो जाता था, और समाज मे वह रहस्य न रह कर चर्चा का विषय बन जाता था तो समाज पुरुष को तो क्षमा कर देता था, पर नारी को वह अधिकार न प्राप्त था। अत मृत्यु अथवा वेश्यावृत्ति के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग उसके सम्मुख नही रह जाता था। उपन्यासकारो ने इस सम्बन्ध मे अपना उत्तरदायित्व समझ ऐसी नायिकाओ की कल्पना केवल इसी उद्देश्य से की, जिससे वे वेश्या समस्या का सर्वांग चित्र समाज के सम्मुख उपस्थित कर सकें। इन उपन्यासकारों का ऐसी नायिकाओ की कल्पना के पीछे एक उद्देश्य यह भी था, कि वे समाज के युवको मे साहस तथा उत्साह की भावना उत्पन्न कर इन वेश्याओ के प्रति करुणा उत्पन्न करना चाहते थे, जिससे वे वेश्याओ से विवाह कर सकें और यह विवाह समस्या किसी न किसी रूप मे सुलझ सके। 'सेवासदन" म यद्यपि सुमन की कल्पना मात्र इसी उद्देश्य से नही की गई है पर अन्य नारी विषयक समस्याओ के साथ उसकी कल्पना के मूल म यह समस्या भी प्रमुख थी। यह बात स्पष्ट है कि वेश्या वृत्ति की समस्या का मूल समाज मे नही, वरन् व्यक्ति म निहित है। यह मूलत

---

१ या पूर्व पति वित्त्वा अथान्य विन्दते पतिम्।
पञ्चौदन च तौ अज ददातो न वियोजत ॥
समानलोको भवति पुनर्भुवा अपर पति।
योऽज पञ्चौदन दक्षिणाज्योतिष ददाति॥ —अथर्ववेद, ९—, २७—८

वैयक्तिक है, तथा व्यक्ति के मन की कुवासना और संस्कार ही नारियों को इस दलदल में खीच लाते है।

पारिवारिक जीवन तथा नारी पुरुष के प्रेम को सफलतापूर्वक चित्रित करने के लिए भी नायिकाओं की कल्पना की जाती है। पर इन सब समस्याओं के मूल मे नारी की आर्थिक-समस्या ही सर्वप्रमुख है। यदि समाज के रूप-विधान मे इस प्रकार का परिवर्तन हो जाए, जिसमें नारी केवल पुरुष के ही आश्रित न हो स्वयं भी स्वावलम्बी हो सके, तथा अपना स्वतन्त्र जीविकोपार्जन करने की स्थिति में आ जाए तो अनेक नारी समस्याओं का सरलतापूर्वक समाधान हो सकता है। यदि नारियां आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो जाए तो वेश्यावृत्ति की ओर स्वभावत वह अपना कदम न बढ़ाना चाहेंगी। अत नारियों की आर्थिक समस्या भी अत्यन्त चिन्ताजनक रूप मे समाज के सम्मुख उपस्थित रही है, जिससे अन्य लोगो के अतिरिक्त उपन्यासकारो का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित किया। उपन्यासकारो ने इस समस्या का समाधान अपने ढग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कुछ नायिकाओं की कल्पना इसी उद्देश्य से की है, जिससे वे नारियों की आर्थिक समस्या का चित्रण कर सकें और उन्हे कोई निश्चित मार्ग प्रस्तुत कर सकें। जैनेन्द्र कुमार के "त्यागपत्र' में मृणाल की परिकल्पना इसी उद्देश्य से की गई है। पति का घर अनमेल विवाह के कारण त्यागने पर यदि उसके जीविकोपार्जन का कोई साधन होता तो वह कदाचित् कोयले वाली की दुकान पर न बैठती। "कल्याणी" मे डा० असरानी के सम्मुख भी यही समस्या है। अपनी आर्थिक आवश्यकताओं (साथ पति की भी) की पूर्ति के लिए वह डाक्टरी करती है, अन्यथा उसमें उनकी रुचि नही थी, उन्हे मानसिक शान्ति भी प्राप्त होती थी।

नारी चित्रण से मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति में सहायता

आधुनिक युग मे उपन्यासकारो को मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति ने विशेष रूप से प्रभावित किया। प्रेमचन्द काल तक तो उपन्यासकार विशेष रूप जीवनगत बाह्य परिस्थितियों के चित्रण तक सीमित रहे, तथा जीवन की व्यापकतम सीमाओं को उपन्यासों में समेट युग का विराट चित्र उपस्थित करना चाहते थे, पर प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासकारो को प्रथम बार जैनेन्द्रकुमार ने "परख" की रचना से एक नवीन दृष्टि प्रदान की तथा उपन्यासो में पहली बार व्यक्ति की प्रतिष्ठा की गई और उसके अन्तरमन की भावनाओं की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया। वास्तव में सामाजिक नियन्त्रण के कारण यौन भावनाएं या इच्छाएं अन्तर्मुखी होकर अवचेतन मन मे दब जाती हैं। इन दमित और अतृप्त यौन सम्बन्धी कामनाओं से परिपूर्ण अवचेतन मन के समक्ष हमारा चेतन मन दुर्बल होता है। ये अवचेतन की कार्य प्रक्रियाएं वस्तुतः हैं क्या? इन्हीं के अध्ययन को मनोविश्लेषण के माध्यम से प्रकट करने का प्रयत्न उप-न्यासकारों ने किया है। मनोविश्लेषण की इस प्रवृत्ति में उन्हें नारी पात्रों से विशेष

सहायता प्राप्त होती है, इसलिए वे अनेक ऐसी ही नायिकाओं का चित्रण करते हैं। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि नारी पुरुष में सर्वाधिक प्रधान समस्या कामवासना (Sex) की है। नारी पुरुष की ओर, पुरुष नारी की ओर जो आकर्षित होता है उसके मूल में यह कामवासना ही है। पर समाज यौन वासना की स्वतन्त्रता की अनुमति नहीं देता, तथा नारी और पुरुष दोनों को अपनी काम वासना संबंधी भावनाओं का दमन करना पड़ता है। पर क्या सच ही वे इन भावनाओं का दमन कर सकने में सफल होते हैं? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। ये भावनाएं दमित नहीं होतीं अपितु उसी अवचेतन मन में एकत्रित होती रहती हैं तथा यह आभास सा होता है कि हमने उनका दमन कर दिया है। हम अपनी तर्क बुद्धि से उसकी सार्थकता भी सिद्ध कर देते हैं क्योंकि तर्क मस्तिष्क द्वारा निर्मित निर्माण प्रक्रिया का नियन्त्रित करता है[1] तथा तर्क की अनुपयोगिता स्वयं द्वारा प्रतिपादित नहीं की जा सकती।

अवचेतन मन की दमित शमित इन्हीं भावनाओं के चित्रण के लिए उपन्यासकार पुरुष पात्रों के साथ नारी पात्रों की कल्पना करता है तथा नारी पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण के माध्यम से वह अपना अध्ययन प्रस्तुत करता है। दोनों पर समाज का कठोर नियन्त्रण होता है। पश्चिमी समाज में नारी पुरुष सम्बन्धों में भले ही इधर समाज ने कुछ समाजवादी दृष्टिकोण अपनाया हो, और थोड़ी स्वच्छन्दता व्याप्त हो गई हो, पर कम से कम भारतीय समाज में ये नियन्त्रण अधिक कठोर हैं। परिणामस्वरूप नारी पुरुष दोनों में घुटन उत्पन्न हो जाती है, तथा आत्मपीड़न में ही वे अपने जीवन में अग्रसर होने लगते हैं। जैनेन्द्रकुमार ने अपने उपन्यासों में इसी उद्देश्य से अनेक नायिकाओं की परिकल्पना की है। कल्याणी असरानी का विवाहित जीवन सफल नहीं है, उसकी वासनात्मक भावनाएं अतृप्त हैं, कोई भी इच्छापूर्ण नहीं हो सकी है। उनके जीवन की सारी असंगतियां इसी कारण हैं। जैनेन्द्र ने इसे आत्मपीड़न के रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है, क्योंकि उसका स्वच्छन्द विकास समाज की मान्यताओं के अनुरूप नहीं होता। मृणाल की समस्या भी यही है। वह समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती बल्कि पीड़ा को आत्मसात कर उसे

१ "Intellectual construction meets similar inexorable condition in the written and unwritten law of logic, likewise determined by the building material of thought—Logic governs the construct ions that minds built in first aid and further support of the thinking enterprise Logic inspects the result, closly examining the criteria of evidence and the warrent of conclusions Logic is blind to dramatic appeal deaf to aesthetic satisfactions"

—फ्रायड हिज ड्रीम ऐंड सैक्स थ्यूरीज़, (मार्च, १९५९), न्यूयार्क, पृष्ठ १३६।

ही अपने जीवन की अनुपम निधि समझती है, क्योंकि पीड़ा में ही ईश्वर का वास है। उसके अन्तरमन की सारी भावनाओं को मनोविश्लेषण के माध्यम से प्रकट किया गया है, और उसी के अनुसार समाज से नारी की दयनीय स्थिति उसकी आर्थिक परतन्त्रता आदि को प्रकट करने का प्रयास किया गया है। आखिर मृणाल कोयले वाले के यहां कैसे पहुंची ? इसका स्पष्टीकरण मनो विश्लेषण द्वारा ही किया गया है कि मृणाल के माता-पिता उसकी बाल्यावस्था में ही चल बसे थे, तथा उनका वास्तविक स्नेह उसे प्राप्त नहीं हो सका था। भाई का प्रेम उस कमी को पूर्ण नहीं कर सका। शीला के भाई के प्रति उसका प्रेम भी एक विश्वासघात ही निकला। विवाहित जीवन ने रही सही उसकी आस्था तोड़ दी और इन सारी प्रक्रियाओं को पार कर वह उस गन्दी बस्ती में पहुंचती है। अज्ञेय के "शेखर : एक जीवनी" में भी मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति को पूर्ण करने के लिए ही शशि की कल्पना की गई है। वह शेखर के व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया में स्वयं टूट कर बिखर जाती है, उसे मनोविश्लेषण के आधार पर ही परखा गया है। इस प्रकार नायिकाओं की कल्पना का एक उद्देश्य यह भी होता है कि उनसे मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति में सहायता प्राप्त होती है।

नारी के माध्यम से अपनी व्यक्तिगत कुंठाओं तथा वर्जनाओं का प्रदर्शन

फ्रायड के अनुसार हमारे जीवन की अतृप्त वासनाएं, कामनाएं तथा अपूर्ण इच्छाएं अवचेतन मन में एकत्रित होती रहती हैं हम उनका पूर्ण रूप से दमन कर सकने में सफल नहीं हो पाते हैं। यह अवचेतन मन हमारे चेतन मन से अधिक शक्तिशाली होता है, तथा हमारे जीवन की गति को नियंत्रित करता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसके जीवन में कोई इच्छा न हो, उसके कोई सपने न हों, और उसने अपनी इंद्रियों पर पूर्ण रूप से निग्रह कर लिया हो। हर व्यक्ति इच्छाओं का दास होता है, पर उसका अन्तरमन जो चाहता है, वह सभी का सभी पूर्ण नहीं हो जाता। कुछ तो उसे सामाजिक लज्जा एवं नैतिकता के भय से नियन्त्रित करना पड़ता है, कुछ को अपनी विवशताओं के कारण दमित करना पड़ता है। यद्यपि व्यक्ति समझता है कि वह इन इच्छाओं का दमन कर देता है, पर वास्तव में यह सत्य नहीं है। वस्तुस्थिति तो यह है कि अवचेतन मन में इन दमित शमित भावनाओं को स्थान मिलता रहता है। उपन्यासकार भी वही जीवन जीता है, जो दूसरा व्यक्ति जीता है। उसकी भी लगभग वही इच्छाएं होती हैं, जो उसी स्तर पर दूसरे व्यक्तियों की होती हैं। उसके मन में भी वासना का भाव होता है जिसका पूर्ण नियन्त्रण वह नहीं कर पाता। चूंकि वह बुद्धिजीवी होता है, प्रखर चेतना सम्पन्न होता है, इसलिये साधारण व्यक्तियों की भांति उसका व्यक्तित्व खण्डित नहीं होने पाता। और अधिकांश अपने को नैतिकता की निम्नतम सीमा तक नहीं जाने देते और पूर्ण नैतिकता, संस्कृति तथा सभ्यता के विकास का चोला पहनकर अपने अवचेतन मन की शक्ति से नियन्त्रित हो अपनी सारी प्रवृत्तियों को उपन्यास में नायिका के

माध्यम से प्रकट करते हैं, जिससे उनकी आत्मा, साथ ही उनके अवचेतन मन को भी तुष्टि प्राप्त होती है। इन उपन्यासकारों का नायिका की परिकल्पना का एकमात्र उद्देश्य यही होता है कि अपने अवचेतन मन की सारी दमित शमित भावनाओं, मन की बाधाओं, कुण्ठाग्रस्त वर्जनाओं आदि को प्रकट कर सकें। यही कारण है कि आज उपन्यासों में हमें पत्नी अपने पति को दूसरी नारियों से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता देती है, यहाँ तक कि पुरुष अपनी बहन से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करता है। और यह सब मनोविज्ञान के नाम पर होता है, क्योंकि "मन में वासना को दबाये रहने से व्यक्तित्व खण्डित होता है, उससे बढ़कर और कोई पाप नहीं होता।" उपन्यासकार यहीं नहीं रुकता वह यहाँ तक कह डालता है कि, "इसीलिए कहा जाता है कि नारियाँ द्वितीय सम्भोग पसन्द करती हैं"। ऐसे प्रसंग में नायिका की परिकल्पना उसी उद्देश्य की पूर्ति करता है, जिसमें उपन्यासकार अपनी व्यक्तिगत कुण्ठाओं तथा वर्जनाओं का चित्रण कर पाता है। उपन्यासकार इन नायिकाओं को ऐसे प्रसंगों में रखता है, जिससे कि विलासिता का पूर्ण वातावरण निर्मित हो सके, कभी नायिकाएँ वस्त्रहीन होकर उपन्यास के नायकों (या निर्माता ?) को सन्तुष्ट करती हैं, कभी वे दार्जिलिंग की एक सर्द ठण्डी शाम को कम्बल के अन्दर नायकों (?) से लिपटती सुबकती फिर—सैसिल्य की बाहों में डूब जाती हैं, या फिर कभी पानी बरसने लगता है नायिका नायक के यहाँ शरण लेती है, वह पूर्ण रूप से भीग गई है, नायक के पास मलमल के झीने कुर्ते के अलावा कोई वस्त्र नहीं है। नायिका वही पहन लेती है पर नायक ग्लेशियर-सी पिंडलियों पर से अपनी दृष्टि नहीं हटा पाता और फिर ? फिर नायिका वही करती है, यानी कि आत्म समर्पण कर देती है, जिससे नायक की कामात्मक प्रवृत्तियाँ शान्त हो सकें उसके अवचेतन मन का विद्रोह समाप्त हो सके।

उपन्यासों में नारी चित्रण राजनीतिक उद्देश्य से भी किया जाता है। प्रायः उपन्यासकार किसी विशेष दर्शन या सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, तथा उन्हीं मतों का प्रचार अपने उपन्यासों के माध्यम से करने का प्रयत्न करते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति में नारी पात्र उतने ही सहायक होते हैं जितने पुरुष पात्र, इसीलिये प्रायः उपन्यासों में नायिकाओं को प्रचलित मान्यताओं से भिन्न किसी विशेष दिशा का पालन करते देखा जाता है। यशपाल के ऐतिहासिक कल्पना पर आधारित उपन्यास "दिव्या" में चार्वाक दर्शन की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया गया है। इसकी कहानी भारतीय इतिहास के उस युग से सम्बन्धित है, जब बौद्ध धर्म के तेज का प्रखर सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था, और देश के छोटे छोटे गणतन्त्र राज्य अपनी अभिजातीयता के मद में चूर होकर नष्ट हो रहे थे, और वश्य समाज की समृद्धि पर खड़े होने वाले साम्राज्य उनका स्थान ले रहे थे। इस उपन्यास का अंत 'दिव्या' के माध्यम से भौतिकवाद दर्शन की प्रतिष्ठा करके ही किया गया है। इस द्वा

के जिस कुलवधू पद की लालसा स्वर्ग की अप्सरायें भी करती हैं, उसका तिरस्कार करके, जिस निर्वाण पद के लिये उस समय सारा ऐशिया पागल हो रहा था, उस लोभ का त्याग कर दिव्या का साधारण दाम्पत्य जीवन को महत्व देना सचमुच ही भारतीय विचारधारा के अनुकूल नही हैं। यह विचार आज के भौतिकवादी मार्क्स-वाद के ही अधिक निकट है। यशपाल ने मार्क्सवादी दर्शन के प्रचार के लिए "दादा कामरेड" की शैला की कल्पना की है, जो अनैतिक सम्बन्ध स्थापित किये जाने के फलस्वरूप गर्भ में आये शिशु को लज्जाजनक नहीं, सम्मानजनक मानती है।

अध्याय ३

नायिका संबंधी कल्पना के मुख्य स्रोत

स्त्री पुरुष का आदिकाल से ही सम्बन्ध रहा है। पश्चिमी देशों में आदम और हौवा तथा भारत में अर्द्धनारीश्वर की कल्पना आदिकाल से ही की जाती रही है। चूंकि स्त्री पुरुष का सम्बन्ध सृष्टि क्रम का साधन है, अतः इस सम्बन्ध में वासना का प्रमुख स्थान हो जाता है। इस दृष्टि से नारी के दो रूपों की कल्पना की जा सकती है—वासनात्मक और अवासनात्मक। वासनात्मक रूप के अन्तर्गत नारी का पत्नी, प्रेमिका और वेश्या रूप आता है। पत्नी रूप के भी पारिवारिक और वैयक्तिक दो रूप हो सकते हैं। पारिवारिक के अन्तर्गत विधवा एवं सधवा रूप होते हैं, जिनमें नारी का परिवार के अन्य सदस्यों यथा सास ससुर, ननद, देवर आदि से सम्बन्ध तथा गृह कार्यों में कुशलता आदि का महत्व होता है। वैयक्तिक में नारी का अपना व्यक्तिगत जीवन होता है। अवासनात्मक रूप के अन्तर्गत माँ, बहन, सास आदि परम्परागत रूप और आधुनिक रूप, जैसे अध्यापिका, डाक्टर, वकील, मजदूरिन आदि रूप रखे जा सकते हैं। आज उपन्यासों में केवल उच्चवर्ग का ही चित्रण नहीं होता, निम्न वर्ग को भी प्रधानता दी जाती है। उपन्यासकार सामान्यतः अपने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं पारिवारिक स्थिति और अपने चारों तरफ के वातावरण से अत्यधिक प्रभावित होता है तथा उनसे प्रेरणा ग्रहण करता है। वह उन परिस्थितियों और ज्वलन्त समस्याओं में अपनी कल्पना के रंग भरता है। और उन्हें यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत कर उनका समाधान अपने ढंग से, अपनी विचारधारा एवं दर्शन के अनुरूप उपस्थित करता है। वह समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों में कुछ विशेष व्यक्तियों को चुन लेता है, जो एक प्रकार से विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व कर उस समाज की रचना,प्रक्रिया को पूर्ण करते हैं। उपन्यासकार अपनी कथावस्तु को उद्देश्य तक ले जाने का उत्तरदायित्व उन्हीं को सौंप देता है, और अपने लक्ष्य को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। इन्हीं पात्रों में से नायिकायें होती हैं। नायिका की परिकल्पना के सम्बन्ध में उपन्यासकारों को अनेक स्रोतों से प्रेरणा प्राप्त होती रही है। नारी के आदर्श पत्नी रूप, भगिनी रूप, माता, वीरांगना तथा विदुषी रूप आदि जिन रूपों की ऊपर चर्चा की गई है, उपन्यासकार उनसे आकर्षित होते रहे हैं, और उन्हीं के अनुरूप उन्होंने नायिका की परिकल्पना

कर नारी चरित्र के मूल्यांकन करने का प्रयास किया है । इस परिकल्पना की पृष्ठ-भूमि में नारी की सामाजिक, राजनीतिक, एवं पारिवारिक स्थिति का महत्वपूर्ण स्थान होता है, और उपन्यासकार ऐसी नायिका की परिकल्पना करता है, जिसमें नारी की तत्कालीन स्थिति का पूर्ण चित्रण सम्भव हो पाता है । अतः नायिका की कल्पना के विभिन्न स्रोत होते हैं, जिन्हें प्रमुख रूप में दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

क—परम्परागत

ख—आधुनिक

परम्परागत वर्ग के अन्तर्गत नारी का आदर्श पत्नी रूप, मातृ रूप, अन्यरूप यथा भगिनी आदि रूप, आदि रखा जा सकता है। राष्ट्रीय जागरण के लिए प्रसिद्ध पौराणिक एवं ऐतिहासिक पात्रों से प्रेरणा ग्रहण कर जिन नारी पात्रों की कल्पना की जाती है, तथा राष्ट्रीय उत्थान के लिए आदर्श चरित्रों की आवश्यकता ध्यान में रख कर जिन नारी पात्रों की कल्पना की जाती है, उन्हें भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है। आधुनिक वर्ग के अन्तर्गत नारी की नवीन चेतना और उस नवीन चेतना का परिणाम, नारी प्रेम तथा नवीन नारी मनोविज्ञान का अध्ययन किया जा सकता है।

मातृरूप

परम्परागत रूपों में नारी का मातृरूप प्राचीन काल से ही अत्यन्त महत्व-पूर्ण रहा है। हिन्दू विवाह का लक्ष्य पति-पत्नी का पूर्ण विकास तो है ही, साथ ही समाज की प्रगति एवं संरक्षण तथा सभ्यता एवं संस्कृति का विकास भी है। पत्नी बच्चों को जन्म देकर उन्हें शिक्षा देती है, उचित ढंग से उनके व्यक्तित्व के विकास का प्रयत्न करती है, और बच्चों को माँ के रूप में जीवन का समस्त वैभव और स्वर्ग प्राप्त होता है। प्रत्येक नारी की स्वाभाविक इच्छा माँ बनने की होती है। विवाहोपरान्त पुत्र-जन्म समाज में तथा परिवार में उसकी मान मर्यादा में वृद्धि करता है। किसा गौतमी जब तक माँ नहीं बन गई, उसके साथ परिवार में दुर्व्यवहार होता रहा, पर पुत्र जन्म के पश्चात् ही स्थिति में परिवर्तन हो गया और वह पूर्ण सम्मान की अधिकारिणी बन गई। पुत्र जन्म के लिए अनेक प्रार्थनाएं होती हैं, तथा मनौतियाँ मानी जाती हैं, क्योंकि संतानहीना नारी अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण समझी जाती है।[1] भारत में माँ का महत्व अधिक महत्वपूर्ण है। वह चाहे सामाजिक या धार्मिक रूप से बहिष्कृत क्यों न हो, पुत्र उसका साथ कभी नहीं छोड़ता था।[2] वह अपने

१. या वाऽपुत्रा पत्नी सा परिवृत्ती। सा निर्ऋतिगृहीता।
तद्यदेवास्या नैर्ऋतं रूपं तदेवैतच्छमयति। सतपथ ब्राह्मण—३, १, १३।

२. डा० ए० एस० अल्टेकर, : द पोजीशन, ऑव वीमेन इन हिन्दू सिविलीजेशन, (१९५६), बनारस, पृ० १०१।

पिता से भी अधिक माँ का सम्मान करता था। अपनी सन्तानों से दूर रह कर माँ कभी प्रसन्न नहीं रह सकती। कुन्ती के पुत्रों को जब तेरह वर्ष का वनवास दिया गया, तो उसने अत्यन्त मार्मिक संदेश में भगवान कृष्ण से कहा था कि न तो उसकी निर्धनता और न उसका वैधव्य उसके लिए इतना कष्टप्रद था जितना पुत्रों का इतना दीर्घावधि के लिए बिछोह। वास्तव में प्राचीन काल से ही नारी जीवन की सफलता एवं सार्थकता उसके मातृत्व रूप में सिद्ध होती है। भारत में जब समाज निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में था, तो उर्वरता की उपासना करते हुए नारी को क्षेत्र की संज्ञा दी गई थी।[1] नारी को 'सीता' (पृथ्वी) तथा पुत्र को नरक से तारने वाली भी कहा गया था।[2] बाद में परिवर्तित परिस्थितियों में पुत्र जन्म देना अथवा माँ बन जाना ही नारी की प्रमुख विशेषता नहीं रह गई। नारी के स्वभाव में ममता का अथाह सागर निहित रहता है। उसके अन्तरमन में जो ममता का भाव रहता है, उसे वह निर्दोष पुष्पों की भाँति सारी मानवता पर बिखेर कर अपने मातृत्व का विकास करती है। पालन पोषण, स्नेह, वात्सल्य तथा सद्भाव आदि मातृरूपा नारी की सर्वप्रमुख विशेषताएं होती हैं, जिनसे वह संसार में सुख, सन्तोष एवं उल्लासपूर्ण वातावरण का निर्माण करती है और मानवता उसके बन्धन में सुख प्राप्त करती है, विकसित होती है और अपनी सार्थकता सिद्ध करती है। मातृत्व में नारी का चरमोत्कर्ष है तथा वात्सल्य में पूर्णता है। यशोदा, देवकी, कुन्ती, सुमित्रा, कौशल्या, सीता आदि के आदर्श इस कथन की पुष्टि करते हैं। वास्तव में माँ स्वयं कर्तव्य पालन, उत्तरदायित्व को समझने की शक्ति और उसके सफल निर्वाह की भावना का विकास अपने आप में करती है तथा अपनी सन्तान में भी उन्हीं भावनाओं का विकास कर प्रगतिशील समाज की रचना प्रक्रिया में सहयोग प्रदान करती है। कुन्ती में इसी कर्तव्य पालन और उत्तरदायित्व का चरमोत्कर्ष है। गरकारक ब्राह्मण के पुत्र की रक्षा हेतु वह अपने पुत्र का बलिदान करने को सहज ही प्रस्तुत हो जाती है। परिवार में पिता की अनुपस्थिति में माता उसकी प्रतिनिधि होती है, और धैर्य एवं विश्वास से परिवार का पालन पोषण एवं संचालन करती है। वह अपनी सन्तानों को अभाव का आभास नहीं होने देती, तथा उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने का प्रयत्न करती है। गर्भावस्था में वह पीड़ा सहन करती है, अपना रक्त देती है, पर अपने पुत्रों से उसका कुछ भी प्रतिदान नहीं माँगती। अपनी सारी प्रसन्नता, वैभव, उल्लास, सुख एवं सन्तोष वह अपनी सन्तानों के जीवन निर्माण के हेतु निछावर कर देती है हँसते हँसते, पर कभी भूल से भी उसके मन में यह भावना नहीं पनपती कि वह इसका मूल्य भी कभी पायगी। वह तो इसे मात्र अपना कर्तव्य समझ कर पूर्ण करती है। त्याग ही उसका जीवन होता है और अन्त तक वह

१ स्त्रीक्षेत्रबीजिनो नराः नारदस्मृति, १२, १६।

२ पुन्नाम नरकात् त्रायत इति पुत्रः।

अपनी उसी पवित्र त्याग भावना का प्रदर्शन करती जाती है। स्नेह की अमित भावना का प्रसाद रूप मे वितरित करती रहती है, तथा अपने अन्तरमन की सारी पवित्र भावनाओ को अपने परिवार, अपने पुत्रों के लिए संचित करती जाती है, इसी से वह अत्यन्त गरिमामयी हो जाती है, और समाज में उसका पद अत्यन्त गौरवपूर्ण हो जाता है। हिन्दी उपन्यासकारो को भारतीय समाज मे नारियो के इस महत्वपूर्ण स्थान ने सदैव ही आकर्षित किया है और उन्होने अपनी नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत इस गौरवशाली परम्परा में निहित पाया है। प्राय. जब भी उपन्यासकारो ने अपने उपन्यासो के कथानक की पृष्ठभूमि भारतीय समाज एव परिवार की आधार-शिला पर निर्मित की है, मातृत्व की इन्ही भावनाओ को अपनी नायिकाओ मे प्रतिबिम्बित किया है।

प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास "गोदान" में मातृत्व के ऊपर जो विचार प्रकट किये हैं, उसी से मिलते-जुलते विचार उनके तत्कालीन सभी उपन्यासकारो ने नारी के मातृ-रूप के सम्बन्ध में अपनाए हैं। प्रेमचन्द के पूर्व और उनके बाद भी कुछ वर्षो तक, जब तक फ्रायड, एडलर, युंग तथा हैवलाक आदि द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक धारणाओ के अन्तर्गत नवीन नारी मनोविज्ञान का हिन्दी उपन्यास साहित्य मे पूर्ण विकास नही हो गया, नारी की मर्यादा, उसका गौरव तथा उसकी महत्ता, सभी कुछ उसके स्नेह वात्सल्य एवं मातृत्व के पवित्र गुणो से आँकी जाती थी। गोदान मे ही मालती प्रारम्भ मे विलासिनी, फैशन परस्त प्रेमिका के रूप मे दृष्टि-गोचर होती है। पर धीरे-धीरे उसके चरित्र में क्रमशः परिवर्तन होता जाता है, और अन्त में वह पूर्णतया भिन्न प्रकार की मालती बन जाती है। भारतीय परम्परा के अनुसार मालती के लिए यह अत्यन्त स्वाभाविक भी था, क्योंकि, नारी केवल माँ है, और उसके उपरान्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बडी तपस्या, सबसे बडा त्याग और सबसे महान् विजय है। एक शब्द में उसे कहूँगा जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी।[1] यह दूसरी बात है कि कही माँ पर लाँछन लगे, उसे अपमानित किया जाय, उसकी निन्दा हो, पर यह कटु सत्य है कि, "मातृत्व महान् गौरव का पद है—और गौरव के पद में कहाँ अपमान और धिक्कार और तिरस्कार नही मिला? माता का काम जीवनदान देना है। जिसके हाथो मे इतनी अतुल शक्ति है, उसे इसकी क्या परवाह कि कौन उससे रूठता है, कौन बिगडता है। प्राण के बिना जैसे देह नही रह सकती, उसी तरह प्राण को भी देह ही सबसे उपयुक्त स्थान है।"[2] नारी का यही गौरवपूर्ण मातृ-रूप उपन्यासो के लिए सदैव ही प्रेरणा का स्रोत रहा है।

१. प्रेमचन्द : गोदान, (१९३६), बनारस, पृ० ३१०।
२. वही, पृ० ३०९।

जैनेन्द्र कुमार के "त्यागपत्र" में मृणाल का जीवन वस्तुतः संघर्ष और पराजय की तीखी कहानी है। उसके जीवन में सदैव ही असंतोष रहा है, कभी उसे वास्तविक सुख नहीं प्राप्त हुआ, किसी का हार्दिक स्नेह नहीं प्राप्त हुआ, सभी मिल कर उसे सलाखों पर चढ़ाते गए और वे शोल हृदय के फफोलों के साथ भभकते गए और परिस्थिति यहाँ तक आ पहुँचती है कि सभ्य एवं सुशिक्षित समाज की नारी अपने भाई के घर से पतिगृह के माध्यम से (!) कोयले वाले की दुकान पर आ बैठती है। यात यहीं नहीं समाप्त हो जाती, वह अभागिनी नारी गर्भवती भी हो जाती है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते पारा इतना गर्म हो चुका था कि वह किसी भी क्षण टूट कर बिखर सकता था। मृणाल के मन में अनेक बार अपने जीवन को समाप्त करने का हीन और निन्दनीय भाव उत्पन्न भी हुआ, फिर भी उसने आत्महत्या नहीं की ? आखिर क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर यद्यपि जैनेन्द्र स्पष्ट रूप से देना नहीं चाहते थे[1] पर यह सत्य है कि मृणाल के अन्तरमन में अंकुरित उसके मातृत्व के भाव ने उसे आत्महत्या करने से बराबर रोका। यद्यपि उपन्यासकार ने इसकी ओर संकेत नहीं किया है, फिर भी यह हो सकता है कि मृणाल ने अपने जीवन को समाप्त करने के लिए एकाध बार प्रयास किया भी हो, पर अन्तिम क्षण उसके मातृत्व ने उसे ऐसा निन्दनीय कार्य करने से विवश कर दिया होगा, और वह अपने पेट के बच्चे के लिए जीती रही संघर्ष करती रही। सियारामशरण गुप्त के "नारी" की जमना में भी ममत्व का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। अपने पति की अनुपस्थिति में वह निराश नहीं होती, उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व कर परिवार में उसकी कमी स्वयं पूर्ण करने का प्रयास करती है। अपने एकमात्र पुत्र हल्ली को वह जी जान से प्यार करती है, अच्छी शिक्षा देने का प्रयत्न करती है तथा उसके चरित्र निर्माण पर बल देती है। भारत में नारियों में मातृत्व का इतना विकास हो गया था, और उसकी महत्ता इतनी वृद्धि प्राप्त कर गई थी, कि विश्व के अन्य भागों में भी नारियों में ममत्व के विकास पर बल दिया जाने लगा[2] तथा उसकी शिक्षा का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किए जाने का विचार प्रकट किया गया,

---

१ वास्तव में मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण के आधार पर जैनेन्द्र नारी की उस समस्या को प्रस्तुत करना चाहते थे कि नारी की मुक्ति किसमें है ? क्या वह केवल इसीलिए दयनीय है कि वह आर्थिक रूप से परतन्त्र है, पर मृणाल का चरित्र इतना ऊँचा उठ गया था, कि मातृत्व का भाव पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुआ।

२ We cannot yield in our belief that woman's greatest function is motherhood, but recognition of this should increase not diminish, strength of her position in the State—पोप सो एण्ड जॉनसन फेमिनाइन ईवार्जेनिक्स, (लन्दन), पृ० ३६२।

जिससे वह इस महान् उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सके।[1]

नारी का पत्नी रूप

परम्परागत रूपों में नारी का आदर्श पत्नी रूप भी उपन्यासकारों की नायिका सम्बन्धी परिकल्पना का प्रमुख स्रोत रहा है। भारतीय परम्परा में पत्नी की स्थिति विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न रही है। वैदिक कालीन युग में परिवार में पत्नी को सम्माननीय स्थान प्राप्त था। इस युग में पत्नी युवावस्था में प्रायः शिक्षित होने के पश्चात् ही अपने पितृ-गृह को त्याग नए घर में प्रवेश करती थी, अतः विवाह के पश्चात् शीघ्र ही पति-गृह का सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर स्वीकार कर लेती थी, और गृह-व्यवस्था साधारणतया उसी की विचारधारा के अनुरूप निर्धारित होती थी। परिवार के अन्य वृद्धजन नई बहू से स्नेह और सम्मान पूर्ण ढंग से व्यवहार करते थे। बुद्ध के समय में भी विवाह के समय पत्नी की आयु लगभग १६ वर्ष रहती थी, पर कुछ उदाहरणों से अनेक प्रति होने वाले कटु व्यवहारों का संकेत प्राप्त होता है। यद्यपि उनके अपने नवीन परिवार में अब भी सम्मान और स्नेह प्राप्त होता था, और गृह-व्यवस्था का संचालन अब भी लगभग उन्हीं के हाथों था, फिर भी उनकी स्थिति की दयनीयता के प्रसंग प्राप्त होते हैं। आगे जब बाल विवाह की प्रथा को बल प्राप्त हुआ, और लड़कियों में शिक्षा की न्यूनता आने लगी, तब पत्नी की यह सम्मानपूर्ण स्थिति परिवर्तित हो गई, और गृह-व्यवस्था के संचालन का भार उसके हाथों से जाता रहा, और उसके प्रति वृद्धजनों तथा अन्य बड़ों के व्यवहार में भी अंतर आने लगा। उनका महत्व अब अपने पतियों के शिष्याओं से कुछ अधिक न रह गया, जो विवाह के समय भी स्वयं मात्र शिष्य ही रहते थे। लड़कियों की अल्पायु, अशिक्षा और अनुभवहीनता के कारण गृह के कामकाज में यदा-कदा त्रुटियाँ की संभावना बराबर बनी रहती थी और ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर सासें उनके साथ अत्यन्त निर्दय एवं कठोर व्यवहार प्रदर्शित कर उन पर अपना अधिकार एवं नियंत्रण सिद्ध करती थीं। ऐसी विषम परिस्थिति में लड़कियों को अपने पति से सांत्वना का कोई शब्द भी नहीं प्राप्त होता था, क्योंकि अल्पायु के कारण यथेष्ट समय तक पति-पत्नी एकांत में नहीं मिल सकते थे, और एक दूसरे की व्यथा में भागीदार नहीं बन सकते थे। वस्तुतः उनमें परस्पर आत्मीयता अथवा एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से समझने का भाव न था। अवेस्ता के अनुसार अपने पति के प्रति आज्ञाकारिणी रहना ही पत्नी की सर्व-प्रमुख विशेषता होती है। पर वैदिक विवाह परम्परा में इसे समर्थन नहीं प्राप्त हुआ, और पति-पत्नी दोनों को एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी रहने की शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी यद्यपि परिवार में पति सर्वोपरि होता था। वे इस बात की प्रतिज्ञा करते थे कि दोनों एक दूसरे को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सहयोग प्रदान करेंगे और आत्मिक, आर्थिक विकास तथा जीवन के उद्देश्य की

---

१. एल्फ्रेड एडलर : प्रोब्लम्स ऑव न्यूरोसिस (लन्दन), पृ० ४२-४३।

पूर्ति में साधक सिद्ध होंगे। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में वैवाहिक निश्चयों का किसी दम्पत्ति द्वारा ईमानदारी से पालन करने पर उसे निरादर एवं अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता था।

पति पत्नी में परस्पर सहयोग और सद्भावना की स्थिति आगे चलकर सुधरी। बाद में यह कहा गया कि मनुष्य एक नारी से सम्बन्ध स्थापित कर जब तक एक सन्तान को जन्म नहीं देता, तब तक वह अधूरा है, उसका जीवन अपूर्ण है।[1] अतः स्वभावतः एक दूसरे का सुख संतोष एक दूसरे पर आश्रित समझा गया। दोनों के परस्पर सहयोग एवं समन्वय में गृह को स्वर्ग रूप में तथा इसके अभाव में नरक-रूप में कल्पित किया जाने लगा। पति के सुख का मूलाधार पत्नी ही समझी जाने लगी। पति चाहे कितना ही अवसाद ग्रस्त क्यों न हो, चाहे कितना ही चिंताग्रस्त क्यों न हो, पत्नी के सहयोग से वह अपनी सारी कठिनाईयों का साहसपूर्वक सामना कर सकता था और उन पर विजय प्राप्त कर सकता था। पत्नी ही एकमात्र एसी सहयोगिनी अथवा मित्र समझी जाती थी, जो किन्हीं भी परिस्थितियों में पति को अकेला नहीं छोड़ती थी। वास्तव में पत्नी का महत्व अत्यधिक बढ़ गया था और बिना पत्नी के जीवन धन के सदृश समझा जाने लगा। अतः अपनी पत्नी को अपने सबसे निकटतम मित्र के रूप में समझने लगा और वह बिना उसके सहयोग के किसी भी व्यक्तिगत सुख संतोष की कल्पना नहीं कर पाता था। अपनी पत्नी का भरण पोषण करना, उसे सम्मानीय ढंग से रखना पति का प्रमुख कर्तव्य समझा जाता था, जिसके अभाव में उसे पति कहलाने का कोई अधिकार नहीं था। पत्नी इसके बदले अपने पति के प्रति हार्दिक रूप से कृतज्ञ होती थी तथा अपने को पति की विश्वास पात्री बनाकर वैवाहिक प्रतिज्ञाओं का पालन करते हुए पातिव्रत जीवन की दिशा में अग्रसर होती थी। वह अपने पति के सुख की अधिकाधिक वृद्धि का प्रयास करती थी। स्वयं उसका वास्तविक सुख एवं संतोष पति में ही केन्द्रित माना जाता था। और अपने पति से सम्बन्ध विच्छेद होने की अवस्था में वह किसी सुख, प्रसन्नता या स्वर्ग की कामना न कर मृत्यु की ही कामना करती थी। अतः पति के सुख दुख में वह समान रूप से अपने पति के साथ ही रहती थी। गृह व्यवस्था का उत्तरदायित्व मुख्य रूप से पत्नी के ऊपर होता था जिसे वह अपने पति के परामर्श से पूर्ण करती थी। जिससे परिवार में सुख समृद्धि और पूर्ण सन्तोष व्याप्त होता था, और आदर्श परिवार की कल्पना साकार होती थी। पति के सर्वोन्ति होने पर उस पर आदर्श पूर्ण ढंग से नियन्त्रण रखना उसका प्रमुख कर्तव्य होता था। वस्तुओं के मूल्य घटने पर वह उन्हें क्रय करती थी, और वर्ष भर प्रयोग के लिए सुरक्षित रखती थी। परिवार

---

१ अर्धो ह वै एष आत्मनस्तस्माद्यावज्जायां न विन्दते अर्धो हि तावदभवति अथ यदैव जायां विन्दते अथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति।

—शतपथ ब्राह्मण १, ६, १०

में सभी खर्चों को वही चुकाती थी और नौकरों की अनिवार्य आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उन्हें पुराने वस्त्र और अन्य सामग्री भी वही देती थी। जानवरों और कृषि का निरीक्षण भी उसकी अधिकार सीमा के अंतर्गत था।[1] अपने अवकाश के क्षणों में वह सीने-पिरोने, तथा रस्सी बनाने का कार्य करती थी। कठिनाइयों के कि समय में वह अपने पति की प्रमुख परामर्शदायत्री होती थी, और यदि पति सत्य और कर्तव्य-पथ का पालन करने में असमर्थ रहता था, या अपनी अनिच्छा प्रकट करता था तो पत्नी का प्रमुख कर्तव्य उसे उचित राह पर आदर्शपूर्ण ढंग से वापस लाने का होता था।[2] पत्नी की ये प्रमुख विशेषताएं थी और इन्हें पूर्ण करने पर उसे पतिव्रता कहा जाता था। पतिव्रता में यह वसुन्धरा स्वर्ग बन जाती है। सारे तीर्थ, सारी धार्मिक भावनाएं पवित्रता आदर्श पत्नी के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं, और संसार में कोई ऐसा पाप नहीं है, जिसका निराकरण केवल नारी की उपस्थिति मात्र से न किया जा सके। यह भावना सशक्त रूप में विद्यमान थी। निष्कर्ष रूप में परिवार में पत्नी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान होता था। एक प्रकार से वह परिवार के सुख सतोष का केन्द्र बिन्दु होती थी और पति की प्रसन्नता और चिंतारहित मानसिक शांति का कारण होती थी। पत्नी में चिंतनशीलता, दूरदर्शिता, परिवार के व्यय को सामान्यतः सन्तुलित रूप में चलाने का गुण तथा स्वभाव की मृदुता, दयाशीलता, सहिष्णुता आदि अनेक गुण होते थे, और तभी पत्नी का श्रेष्ठ रूप समझा जाता था। पत्नी को लेकर मनुष्य की ही नहीं, परिवार की भी पूर्णता एक प्रकार से सम्भव हो पाती थी तथा मानव जीवन सुखी होता था।

इस प्रकार भारतीय परम्परा में नारी के पत्नी रूप का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। नारी ने इस रूप में सभ्यता के प्रारम्भ से ही गौरव एवं प्रतिष्ठा प्राप्त की है, और अपनी समस्त विशेषताओं का प्रदर्शन किया है। अतः नारी का यह प्रधान रूप उपन्यासकारों की दृष्टि से न बच सका और वे इससे विशेष रूप से अनुप्राणित हुए। उन्होंने नारी के इस रूप से प्रेरणा ग्रहण की और आदर्श पत्नी रूप में अनेक नायिकाओं की कल्पना की। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास "निर्मला" में निर्मला के रूप में आदर्श-पत्नी का एक गौरवशाली रूप चित्रित किया है। प्रेमचन्द के अन्य "कर्मभूमि" की प्रधान नारी पात्र सुखदा में भी इसी आदर्श पत्नी की परम्परा का निर्वाह हुआ है। जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास "कल्याणी" की नायिका की कल्पना का स्रोत भी आदर्श पत्नी की इसी गौरवशाली परम्परा में निहित है। यद्यपि जैनेन्द्र

---

१. न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादति रिच्यते ॥

—महाभारत १८८, ६

२. डा० ए० एस० अल्टेकर : द पोजीशन आॅव वीमन इन हिन्दू सिविलीजेशन, (१९५६), बनारस, पृष्ठ ८६ ।

कुमार का उद्देश्य मुख्यत कल्याणी की अन्तरमन की वृत्तियों का उद्घाटन, उसकी विवशताओं, घुटन आदि का वर्णन ही रहा है, फिर भी कल्याणी का वैवाहिक जीवन इसी परम्परा से कुछ भिन्न नही है। वस्तुत कल्याणी का आन्तरिक विद्रोह अन्दर ही दबा रहता है, उसका मुक्त प्रवाह नही होता और आत्मपीडन में ही उसकी मृत्यु होती है। यद्यपि उसका सघर्ष मनोवैज्ञानिक स्तर पर चित्रित किया गया है, फिर भी उसकी आत्मनिष्ठा, उसका गौरव, आदर्श पत्नीत्व का उसका गुण किंचित-मात्र भी न्यून नही होता। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के कारण परम्परागत रूप से भिन्न उसमें प्रेमचन्द काल की आदर्शपत्नी नायिकाओं से थोड़ा अन्तर है, पर यह नवीन दृष्टि ही है, कल्याणी के चरित्रगत दोष के कारण नही। जयशंकर प्रसाद कृत 'तितली' की नायिका की कल्पना का स्रोत भी यही परम्परा है। तितली जिस प्रकार मधुबन के विषमतापूर्ण जीवन को सुखमय बनाने का और अपने कर्तव्य का पालन करने का यत्न करती है, वह आदर्श के अनुरूप ही है। सियारामशरण गुप्त कृत "नारी" में भी इसी परम्परा से प्रेरणा ग्रहण की गई है। इस प्रकार भारतीय नारी की गौरवशाली परम्परा में आर्य पत्नी का एकात, स्थिर, त्याग एवं महत्व-पूर्ण तथा कर्तव्य एवं धर्मनिष्ठ तथा पवित्र प्रेम का गुण उपन्यासकारों के लिए सदैव प्रेरणा का स्रोत रहा है।

अन्य रूप

नारी के आदर्श पत्नी रूप तथा मातृ रूप के अतिरिक्त अन्य परम्परागत रूपों में भी उपन्यासकार अपनी नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत प्राप्त करता रहा है। नारी का भगिनी रूप, अविवाहित बड़ी पुत्री का रूप भाभी, तथा अन्य पारिवारिक रूप भी उपन्यासकारों ने प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया है। इसमें भगिनी रूप अधिक महत्वपूर्ण रहा है। भारतीय आदर्श में सभ्यता एवं संस्कृति के प्रारम्भ से ही बहनों को परिवार में महत्व प्राप्त रहा है। परिवार में बहन का स्थान अत्यन्त पवित्र होता है। वह अपने भाइयों के लिए प्रेरणा एवं शक्ति का केन्द्र रही है। संकट के समय भाई उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाकर, अपने को पूर्ण संकट में डाल बहन की रक्षा करता था तथा बदले में बहन अपने भाइयों को प्रेरणा देती थी, उत्साह देती थी, उन्हें परिवार में सुख एवं सतोष देने का प्रयत्न करती थी। भाइयों के लिये ही नहीं दो बहनें स्वय एक दूसरे के लिए पवित्र और विश्वास का रूप होती थी। जीवन में निःस्वार्थ सहयोग की भावना की नितात आवश्यकता होती है, उसका जन्म वास्तव में परिवार में ही होता है और भाई-बहन मिलकर उस सहयोग की भावना को पुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। नारी का यह भगिनी रूप भी उपन्यासकारों को प्रभावित करता है और अनेक उपन्यासकारों ने नारी के इस पवित्र रूप का अकन अपने उपन्यास में करने का प्रयत्न किया है। बहनों का अनुपम त्याग, अमित स्नेह, भाई के विकास की कामना, अपनी बड़ी या छोटी बहन के लिए

भी उसी प्रकार की समान भावना आदि के प्रति उपन्यासकार विशेष रूप से आकृष्ट रहे है। जैनेन्द्र कुमार के "सुनीता" में उपन्यासकार का उद्देश्य भले ही भगिनी की समस्त विशेषताओं का चित्रण न होकर कुछ और ही रहा हो, पर सुनीता और सत्या के रूप मे जाने-अनजाने ये विशेषताए आकर्षक ढग से चित्रित हुई है। भगवतीप्रसाद बाजपेयी के उपन्यास "दो बहने" मे भी इसी प्रकार की भावनाओं का परिचय प्राप्त होता है। इस प्रकार नारी के अनेक परम्परागत रूपो मे उपन्यासकारो को अपनी नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत प्राप्त होता रहा।

राष्ट्रीय जागरण के लिए प्रसिद्ध पौराणिक एवं ऐतिहासिक पात्रों से प्रेरणा

जिस समय हिन्दी उपन्यास साहित्य का आविर्भाव हुआ, भारत दासता की शृखलाओं मे जकडा था। ब्रिटिश साम्राज्य की पूर्ण स्थापना हो चुकी थी, अग्रेजो ने अपने स्वार्थ साधन की धुन मे भारत के हितो को ठुकरा दिया था। परिणामस्वरूप भारत अधोगति की अवस्था को पहुच रहा था। भारतीयों में चेतना और जागृति के प्रति विशेष उत्साह न था। अपनी शोचनीय अवस्था को अपना दुर्भाग्य तथा नियति का विधान मान वे चुपचाप अग्रेजो के प्रति अपनी स्वामिभक्ति का परिचय दे रहे थे। नारियो की स्थिति तो और भी शोचनीय थी। उनमे नाममात्र को भी उत्साह न था, और न उन्हे विशेष राजनीतिक अथवा सामाजिक सम्मान ही प्राप्त थे। वे अपने जन्मजात अधिकारो के प्रति सचेत एव सचेष्ट भी नही थी। ऐसे प्रयत्न भी विशेष नहीं हो रहे थे जिससे उनमे अपने अतीत के गौरव से प्रेरणा प्राप्त हो सके। धार्मिक सुधार आन्दोलनों में अवश्य ही क्रियाशीलता थी, पर उन्हे पूर्ण सफलता नही प्राप्त हो रही थी। आवश्यकता थी कि साहित्य के माध्यम से इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों मे से नारी के अनुकरणीय आदर्शों को पुन. एक नए सिरे से प्रस्तुत किया जाय, जिससे नारियो को एक दिशा प्राप्त हो सके, और वे अपने अधिकारो के प्रति सचेष्ट होकर राष्ट्र के नवनिर्माण के दायित्व मे सामूहिक रूप से जुट जाएं। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब तो होता ही है, उसकी आवश्यकताओं को भी साथ लेकर चलता है, जिससे समाज मे गतिशीलता की भावना वर्तमान रहे, और उसके सदस्य अपने जीवन मे नवीन प्रतिमाओं की स्थापना करते हुए चले। हिन्दी में उपन्यास साहित्य एक प्रकार से इसी भावना को आत्मसात करके सुधारवादी भावना लेकर आया ही था। तत्कालीन समाज की आवश्यकताओं को प्रस्तुत करने एव नवीन चेतना तथा जागरण के प्रसार की दिशा मे उपन्यास एक शक्तिशाली माध्यम निसंदेह सिद्ध हो सकते है। वास्तव में उपन्यासकारो का दायित्व मात्र मनोरजक कथा का वर्णन करना ही नहीं, निर्माण का भी होता है। व्यक्ति का, समाज का, राष्ट्र का निर्माण करना इनका प्रमुख उत्तरदायित्व होता है। इस काल में नारियां अपना अतीत का गौरव विस्मरण कर चुकी थी और उनमे चेतना तथा जागृति की न्यूनता अत्यन्त शोचनीय अवस्था को स्पर्श कर चुकी थी। ऐसी अवस्था मे उपन्यासकारो ने इतिहास के पृष्ठों

में ऐसे नारी पात्रों को खोज निकाल अपने उपन्यासों में स्थान देने का लक्ष्य बनाया, जिससे नारियों को प्रेरणा तो प्राप्त हो ही सके, अपने अतीत के गौरव के स्मरण से उनके उत्साह के साथ ऊपर उठने का भाव भी जन्म ले सके। नारियों का सतीत्व, उनका शक्ति रूप उनकी वीरता, धैर्य, साहस एवं सहिष्णुता आदि के भाव सभ्यता के प्रारम्भ से ही अत्यन्त प्रसिद्ध रहे हैं, और प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। सावित्री, अहिल्याबाई, सीता, उर्मिला आदि पौराणिक पात्र तथा बाद में राजपूती नारियों का अपने सतीत्व की रक्षा एवं अनुपम त्याग के उदाहरण सहज भुलाए नहीं जा सकते। इन इतिहास प्रसिद्ध नारियों का चरित्र वस्तुतः भारतीय नारियों की महानतम गौरवशाली परम्परा का ही प्रतीक है और प्राचीनकाल से ही नारियों की श्रेष्ठता और उनकी चरित्रगत महत्ता को प्रतिपादित करता है। सावित्री का अपने पति के प्रति दृढ़ आस्था पातिव्रत धर्म का पालन, सीता का राम के सुख दुख में साथ देने की पवित्र भावना, मदालसा का सुख और ऐश्वर्य, त्याग जगत के कल्याण दुख सहने के लिए निकल पड़ना, उर्मिला का विरहाग्नि में जलकर भी अपने कर्तव्य का पालन और पति के प्रति विश्वास की अभिव्यक्ति, पद्मिनी का जौहर, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का शौर्य प्रदर्शन आदि सभी कुछ ने इतिहास के इतने स्वर्णिम पृष्ठों की रचना की थी, कि उपन्यासकार उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। बंगाल में बंकिमचन्द्र चटर्जी (१८३८-१८९४) अपने उपन्यासों में ऐसे ही पात्रों की अवतारणा करके राष्ट्रीय जागृति के प्रसारण काम में सफल हो रहे थे।[1] हिन्दी उपन्यासकारों को उनसे भी बहुत प्रेरणा मिली साथ ही हिन्दी में स्वयं जयशंकर प्रसाद अपने नाटकों में इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों को उलटकर इसी उद्देश्य की पूर्ति कर रहे थे। अतः अनेक उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत इसी गौरवशाली परम्परा में निहित पाया क्योंकि नारियों में अतीत के गौरव का स्मरण कराने तथा राष्ट्रीय जागरण का अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व उन पर था। अपने उपन्यासों में इन्हीं इतिहास प्रसिद्ध नारियों की समस्त विशेषताओं का अंकन कर ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना की, जिनमें नारियों ने इतिहास प्रसिद्ध पात्रों से कम प्रबल आकर्षण नहीं प्राप्त किया, वरन एक नये सिरे से उनके मन में उत्साह की लहर व्याप्त होने लगी।

हिन्दी उपन्यासों के प्रारम्भ में किशोरीलाल गोस्वामी ने "तारा" नामक ऐतिहासिक उपन्यास में कुछ ऐसे नारी पात्रों को उपस्थित करने का प्रयत्न किया था, जिससे नारियों को प्रेरणा प्राप्त हो सके और अतीत के गौरव के प्रति उनमें जागरूकता का भाव उत्पन्न हो सके। बाद में मिश्रबन्धुओं ने "विक्रमादित्य" और "पुष्यमित्र" में भी यही उद्देश्य अपने सामने रखा था, पर चूंकि तब उपन्यास कला का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था, चरित्र चित्रण की पद्धति में भी कुशलता

---

1 ए० युसुफ अली ए कल्चरल हिस्ट्री ऑव इंडिया, (१९४०), बम्बई, पृष्ठ २२०

उपन्यासकारों में नहीं थी, अतः वे पात्र विशेष प्रभाव डालने में असमर्थ ही रहे। जयशंकर प्रसाद ने अपने "इरावती" उपन्यास में शुंग संस्कृति को प्रस्तुत करने तथा इरावती के चरित्र में गरिमा की स्थापना से जागृति उत्पन्न करने की दिशा में प्रयास किया था। महारानी झाँसी की वीरता, उनका अदम्य साहस, शौर्य प्रदर्शन न केवल नारियों के लिए वरन् पुरुषों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत रहा है। वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने "झाँसी की रानी" में लक्ष्मीबाई का अत्यन्त विशद चित्र अंकित करने में इसी गौरवशाली परम्परा से प्रेरणा प्राप्त की है। लक्ष्मीबाई में वीरता, आत्मगौरव, कठोरता के साथ दया, अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण करने का उत्साह तथा उत्तरदायित्व के निर्वाह का संकल्प-सब कुछ उनके चरित्र को इतनी गरिमा प्रदान करता है, जो किसी के लिए भी प्रेरणा का अनुपम स्रोत हो सकता है। स्वाधीनता उनका लक्ष्य था पर वह जानती थी कि इतने बड़े साम्राज्य का अन्त यों ही नहीं किया जा सकता। वे सोचती थी कि हमको केवल कर्म करने का अधिकार है, उसके परिणाम पर अधिकार नहीं और कर्त्तव्य पालन करते हुये मरना ही वे जीवन का दूसरा नाम समझती थी। उन्होंने अपने जीवन को इसी आदर्श में ढाल लिया था, और उनका सम्पूर्ण जीवन इसका साक्षी है। उनमें दूरदर्शिता की कमी नहीं थी। रोज की विशाल सेना को इतने दिनों तक अटकाए रखना और धैर्यपूर्वक सामना करना उनकी कुशल रण-नीति का परिचायक है। यदि पीर अली तथा दूल्हाजू दगाबाजी न करते तो परिणाम कुछ और ही होता। वे संघर्ष......निरन्तर संघर्ष चाहती थी,और उसी में मृत्यु चाहती थी। वे सम्मान और प्रतिष्ठा की भूखी न थी। वे केवल रचनात्मक कार्य चाहती थी, क्रियाशीलता चाहती थी, सेना में अनुशासन और प्रेरणा चाहती थी, और कर्त्तव्य-पथ पर मर मिटने की भावना चाहती थी। इसका परिणाम क्या होगा, इसकी चिन्ता उन्हें न थी। क्योंकि वे जानती थी कि स्वाधीनता प्राप्ति का संघर्ष एक तपस्या है और तपस्या में क्षय पहले होता है, अक्षय पीछे। उनका युद्ध स्वराज्य की अन्तिम साधना नहीं थी, यह वह जानती थी, और उन्हें यह भी ज्ञात था कि वे उसकी अन्तिम साधक नहीं हैं। वे तो केवल स्वराज्य की नींव में एक कंकड़ी बन जाना चाहती थी, क्योंकि वे जानती थी कि ऐसे ही प्रयासों से एक दिन महान् लक्ष्य पूर्ण होगा। रानी लक्ष्मीबाई आज मृत्यु के पश्चात् भी अमर है। वे भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्परा की दृढ़ आधार-स्तम्भ हैं। वे प्रकाश के एक ऐसे देदीप्यमान पुंज की भाँति आज भी अमर हैं, जिनसे आगे आने वाली शताब्दियों में न केवल नारियों को ही वरन् पुरुष को भी अनुपम प्रेरणा प्राप्त होगी—राष्ट्र की रक्षा की, कर्तव्य पालन की और साहस एवं वीरता की। वृन्दावन लाल वर्मा के अन्य उपन्यास "अहिल्याबाई" की नायिका की परिकल्पना का स्रोत भी यही गौरवशाली ऐतिहासिक परम्परा रही है। अहिल्याबाई के रूप में सतीत्व, चारित्रिकनिष्ठा और दृढ़ता आदि का सजीव चित्रण नारियों में उत्साह जागरित करने के उद्देश्य को पूर्ण करता है। हिन्दी उपन्यासकारों के ये

प्रयत्न निष्फल नहीं गए। उन्होंने इन नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत जिस शक्तिशाली परम्परा में प्राप्त किया था, उसने अपने युग में भी सफलता प्राप्त की थी तथा तत्कालीन समाज और युग को एक नवीन मोड प्रदान कर नारियों को एक विशेष दिशा प्रदान की थी। उसी परम्परा को जब युग की आवश्यकताओं का ध्यान में रखते हुए उपन्यासकारों ने पुनर्जीवित करने का प्रयास किया तो इतिहास प्रसिद्ध उन नारियों की विशेषताएं पुन नवीन आवरण में इन उपन्यासों में उपस्थित हुई थी, साथ ही आधुनिक काल में नारियों को अपने जीवन के नवनिर्माण तथा उन सभी विशेषताओं का आत्मसात करने की दिशा में प्रेरणा प्राप्त हुई। स्वाधीनता प्राप्ति के आन्दोलन में नारियों का लाठियों की बौछारों के सम्मुख निश्चल रूप में खड़ी रहना, अपूर्व साहस, धैर्य एवं असीम त्याग की भावना का परिचय देना आदि इसी गौरवशाली परम्परा के परिचायक थे, जिन्होंने नारियों की चेतना में नवीन प्रेरणा भर दी थी। उपन्यासकारों को अपनी नायिकाओं की परिकल्पना के सम्बन्ध में इससे अत्यन्त प्रेरणा प्राप्त हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही उपन्यासों में इन्हीं इतिहास प्रसिद्ध नारियों की समस्त विशेषताओं को आत्मसात किए हुए नायिकाओं की अवतारणा दृष्टिगोचर होने लगी। वृन्दावन लाल वर्मा ऐसे उपन्यासकारों में अग्रगण्य हैं, और उन्होंने अपने अनेक उपन्यासों की नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत इसी परम्परा में स्वीकार किया है।

राष्ट्रीय उत्थान के लिए आदर्श चरित्रों की आवश्यकता

किसी भी राष्ट्र के उत्थान के लिए वहाँ के निवासियों में तप और साधना, त्याग एवं संयम आवश्यक होता है। नारियों में तो यह और भी अनिवार्य हो जाता है क्योंकि उन पर परिवार का वास्तविक उत्तरदायित्व होता है और वस्तुत जीवन निर्माण की प्रक्रिया परिवार से ही प्रारम्भ होती है। प्रत्येक राष्ट्र अथवा समाज का विकास अन्य बातों के अतिरिक्त वहाँ के निवासियों की चरित्रगत निष्ठा, कमठता, तप एवं संयमशीलता से अंकित किया जाता है। यदि एक समाज या राष्ट्र में नैतिकता अपने निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी है, लोगों का चारित्रिक पतन हो गया है, उनमें कर्मठता या दृढ़ निश्चयात्मक स्वर समाप्त हो गया है, तथा उच्च लक्ष्यों को स्पर्श करने की प्रेरणा मर चुकी हो तो उस राष्ट्र के पूर्णरूपेण नष्ट होने में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। स्वयं भारत में ही दासता की शृंखलाएं इसीलिए मजबूत हो पाई थीं कि मुसलमान शासकों में पूर्णतया चारित्रिक पतन हो गया था, उनकी संयमशीलता समाप्त हो गई थी, पद लालसा, भोग लिप्सा एवं स्वार्थ भावना के साथ मदान्धता ने उनके सम्मुख गहनतम का ऐसा आवरण बुन दिया था, जिसे चीरकर नव-प्रकाश की ओर अग्रसर होने में वे पूर्णतया असमर्थ थे, और अन्त में विवश होकर मुसलमानों ने इस गौरवशाली देश को ब्रिटिश अधिकारियों के हाथ बेच दिया। इसके विपरीत यदि लोगों में निरन्तर चारित्रिक विकास होता रहता है

कर्मठ भावनाएं, दृढ निश्चय एवं संयमशीलता के भाव पलते रहते है, तो वह राष्ट्र या समाज निरन्तर प्रगति की दिशा मे गतिशील होता रहता है। जापान जैसे छोटे से राष्ट्र की रूस पर विजय, अमेरिका की स्वाधीनता प्राप्ति, बाद मे रूस और चीन द्वारा थोड़े ही समय मे अपना नव निर्माण कर एक सर्वथा नवीन प्रतिमान, राजनैतिक एव ऐतिहासिक दोनो ही दृष्टियो से स्थापित किए जाने से इस भावना को यथेष्ट बल प्राप्त हुआ, और दृढ चारित्रिक गठन की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित हुआ। भारत में ही अत्यन्त प्राचीन काल से सभ्यता एव सस्कृति का विकास मात्र इसीलिए होता रहा कि प्रारम्भ मे यहां लोगो का जीवन बड़ा संयमशील था। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक "मध्य देश" मे प्राचीन आर्य जीवन का एक सांस्कृतिक सिंहावलोकन करते हुए बताया है कि आर्य सभ्यता के प्रारम्भ से ही भारत मे लोगो का जीवन अत्यन्त सीधा सादा था, तप एवं सयम का प्राधान्य था, लोगों में कर्मठता थी, तथा दृढ निश्चय एव कर्त्तव्य-पालन के साथ अपने उत्तरदायित्व के सफल निर्वाह की भावना थी। नारियों मे यह भावना प्रमुख थी, और अपने परिवार को स्वर्ग सदृश बनाने का वह पूर्ण प्रयत्न करती थीं। यदि अपनी सभ्यता एव संस्कृति के विकास के प्रारम्भिक पृष्ठों पर दृष्टि डाली जाय तो नारियो के उच्च जीवनगत दृष्टिकोण तथा उनके द्वारा सामाजिक नव-निर्माण की दिशा में अनुकरणीय योगदान का परिचय प्राप्त होता है। यही कारण है कि प्राचीन आर्य जीवन इतना सुख संतोषपूर्ण तथा गौरवपूर्ण था। उसके पश्चात् भी काफी अवधि तक यही स्थिति बनी रही, जब तक यवनों का प्रवेश भारत में नही हो पाया और मुसलमानो का पूर्ण प्रभुत्व भारत पर स्थापित हो गया।

जब हिन्दी में उपन्यास साहित्य का जन्म हुआ तो भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य की पूर्ण स्थापना हो चुकी थी, और समाज गत चारित्रिक पतन और परिणामस्वरूप चतुर्दिक अवनति की जो परम्परा मुस्लिम शासकों ने पाली पोसी थी, उसका पूर्ण विकास हो गया था। प्रत्येक दिशा मे अन्धकार छाया हुआ था, नारियों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी और उनमे नवीन चेतना का पूर्ण अभाव था। आवश्यकता इस बात की थी कि नारियो में जागरूकता का भाव उत्पन्न हो, उनमें चारित्रिक दृढ़ता उत्पन्न हो, संयमशीलता का भाव दृढ़ हो और उनमें दृढ़ निश्चय की भावना जन्म ले सके, जिससे वे विकास के चरम लक्ष्य की ओर प्रगतिशील हो सकें। यह आवश्यकता समाज को बराबर प्रत्येक काल और परिस्थिति मे होती है। उपन्यासकार यह कार्य सहज ही सम्भव कर दिखा सकते थे[१]। इन्होंने अपने उपन्यास मे ऐसी

१. ...."The novel can be used as a social document only with certain qualifications. It is obviously useless if one wishes to ascertain facts, but it may be of great value if the task is to reconstruct the "Mental climate" of an age with the prevailing attitudes and valuations. The author often reproduces impre-

नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत इन्हीं परिस्थितियों के मूल में प्राप्त किया, जिनके माध्यम से वे नारियों के सम्मुख जीवन की उच्चता एवं महती भावना का महान आदर्श उपस्थित कर सकें। अपने उपन्यास की नायिकाओं में चारित्रिक दृढ़ता, संयम का भाव धर्मनीष्ठ आदि अनेक विशेषताएं कल्पित कर उपन्यासकार तत्कालीन समाज की नारियों को प्रेरणा प्रदान कर सकता है।

हिन्दी में ऐसे अनेक उपन्यासों की रचना हुई है जिनमें नारी की इन्हीं विशेषताओं के अंकन का प्रयत्न किया गया है जिससे आदर्श चरित्रों की अवतारणा हो सके। प्रेमचन्द के उपन्यास "कर्मभूमि" की प्रधान नारीपात्र सुखदा में इन्हीं भावनाओं का प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है। इसी प्रकार के अनेक उपन्यासों में नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत यही परिस्थितियां रही हैं जिनके मूल में कर्मठ चरित्रों को प्रस्तुत कर नारियों को विकास के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर करने की भावना वर्तमान रही है।

नारी की नवीन चेतना

प्रेमचन्दोत्तर कालीन में उपन्यास साहित्य की परिस्थितियाँ क्रमशः परिवर्तित हो गई थीं। उपन्यासों का सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ ही व्यक्ति की महत्ता वृद्धि प्राप्त कर रही थी। शताब्दियों से पराधीन रहने के कारण भारत ने एक प्रकार से भिन्न राह का अनुगमन करना प्रारम्भ कर दिया था। वह राह प्रगति से भिन्न घोर अवनति का था। मुगल शासकों की परम्परा की अंतिम शक्तिपूर्ण कड़ी अकबर के रूप में १७०७ में उसकी मृत्यु के साथ ही टूट चुकी थी। उसके पश्चात् दुर्बल उत्तराधिकारियों के कारण मुगल साम्राज्य पूर्णतया नष्ट हो गया और उसके स्थान पर उससे भी शक्तिशाली अधिक संतुलित तथा सुदृढ़ ब्रिटिश शासन १७५७ प्लासी के युद्ध और १७६४ में बक्सर के युद्ध के साथ स्थापित हो गया था। किन्तु पराधीनता का यह प्रारम्भ न था। सत्य स्थिति तो यह है कि यहाँ की हिन्दू मुस्लिम संस्कृति की शक्ति ही एक प्रकार से समाप्त हो गई थी। धार्मिक आडम्बर, रूढ़िगत विचार, परम्परागत सामाजिक संस्कार सभी ने मिलकर अधकार का ऐसा परिवेश भारतीय जीवन के चारों तरफ निर्मित कर दिया था कि उसे तोड़ सकना सहज सम्भव न रह गया था। रही सही स्थिति भी घोरतम निराशा के कारण और भी शोचनीय हो गई थी। वास्तव में समकालीन कट्टरता के फलस्वरूप जीवन की

---

ssions which he has gathered either as a 'participant observer" or as a student of life documents The advantages of this combination is that he provides us with data of an intimate character which otherwise would be inaccessible, and the method of his presentation has the additional virtue of condensation i e he gives us in a few examples the essentials of a process"
—वायला क्लीन दि फेमिनिन करेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ १८३।

गति एक प्रकार से समाप्त हो गई थी। विज्ञान, प्रगति और नवीनता भी कोई चीज है, इससे भारतीय पूर्णतया अनभिज्ञ थे। उनके जीवन मे विचित्र सी स्थिरता आ गई थी। इसके विपरीत यूरोप मे नित नवीन परिवर्तन हो रहे थे। औद्योगिक क्रान्ति ने वहाँ के रूप विधान में पूर्णतया उलटफेर उपस्थित कर दिया था। धीरे-धीरे भारत मे अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से, यूरोपीय ज्ञान से भारतीय परिचित होने लगे, और अपनी स्थिति मे परिवर्तन के महत्व को समझने लगे। परिवर्तन की इसी प्रक्रिया में नारी आन्दोलनो का सूत्रपात हुआ और नारियों की स्थिति मे सुधार लाने के प्रयत्न प्रारम्भ हुए। भारत मे अभी तक नारियो की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। उन्हें अपने जन्मजात अधिकार न थे। उनमे शिक्षा तथा नवीन चेतना का पूर्ण अभाव था। राजनीतिक जीवन तथा सामाजिक जीवन से इनका सम्बन्ध टूट चुका था। वे घर की चार-दीवारी में बन्द रहने वाली गठरियों की भाँति समझी जाने लगीं थी। धार्मिक रूप से भी उनका स्थान निम्नकोटि का हो गया था। उन्हे मोक्ष मे बाधा स्वरूप समझा जाता था। इसके अनेक दुष्परिणाम हुए। नारियों मे केवल प्राण स्पन्दन शेष था, जीवन गति अवरुद्ध हो गई थी। इसके विपरीत यूरोप मे नारियो की स्थिति में परिवर्तन हो रहे थे, उनके प्राचीन प्रतिमान टूटते जा रहे थे, तथा नवीन भावनाओं का उदय हो रहा था।[1] भारत इससे अप्रभावित न रह सका और यहाँ नारियो ने अपनी स्थिति मे परिवर्तन लाने के लिए आवाज उठाई। वे अब घर की चारदीवारी मे बन्द रहने वाली गठरियाँ न रहना चाहती थी। अभी तक की भारतीय परम्परा में नारी का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न था। वह आर्थिक तथा सामाजिक दोनों रूपों मे पुरुषों पर ही आश्रित थी। उनका एकमात्र कार्य जीवन के प्रत्येक कार्य में अपने पति को सहयोग प्रदान कर उन्हे सुख एवं सन्तोष की उपलब्धि प्रदान करना था। बाल-विवाह पर नियन्त्रण होने के पश्चात् भी वह पूर्णरूप से बन्द नही हो पाया था। साधारण रूप मे अभिभावक व्यापारिक लाभ के हेतु अपनी पुत्रियो का विवाह

१. 'Even more of them felt humiliated by the fact that their sex was their only means of getting a livelihood and thought it a degradation of marriage that it should first of all, have to be considered a business arrangement securing their income and social status Love and marriage being the main concern of women it was only natural that their revolt should not have sprung from thirst for knowledge or a desire for freedom or adventures, but that, first of all, it should have been, expressed as a protest against the humiliation of having to barter their love for support"

—वायला क्लीन : फैमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ २०।

उस समय ही कर देते थे जब व अधिक नहीं केवल अबोध बच्चियां रहती थी। विवाहोपरान्त उन्हें केवल अपने पति की आज्ञा का पालन करना होता था, और पति का उन पर अधिकार होता था। वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उन्हें बाध्य कर सकते थे। नारियों की शिक्षा कम पत्र पढ लिख लेने तक ही पर्याप्त समझी जाती थी, इसके आगे शिक्षा की उपयोगिता तत्कालीन विचारधारा म व्यर्थ थी। वस्तुस्थिति तो यह थी कि नारी केवल पुरुष के लिए ही निर्मित समझी जाती थी। नारी का अपना व्यक्तित्व चाहे जितना आकर्षक हो, उसकी तक बुद्धि चाहे जितनी कुशाग्र हो, और उसके गुण चाहे जिस स्तर तक उच्च हो पुरुषों के समक्ष नकारात्मक थे, मूल्यहीन थे। एक प्रकार स उनकी स्थिति पुरुषों को प्रसन्न करने, उन्हें सन्तुष्ट करने तथा उनके भोग विलास के साधन मात्र के रूप म हो रह गई। केवल उनके रूप और अप्रतिम सौन्दय का ही महत्त्व समझा जाता था।

पर नवीन चेतना के अतगत नारियाँ अब केवल विलास की सामग्री ही न रहना चाहती थीं। प्राचीन मान्यताओं एव धारणाओं म परिवतन कर उन्होंने आर्थिक रूप मे स्वतन्त्र होने की माग समाज के सम्मुख उपस्थित की। उन्होंने अपनी निर्धनता, दासता और मानसिक रुग्णता के प्रति जो सघर्ष प्रारम्भ किया, उसमे उनकी स्थिति मे आमूल चूल परिवतन लाने का भाव भी सन्निहित था। अधिकांश नारियों ने इसी विचार को प्रश्रय दिया कि नारी जीवन से नए विचार एव भाव उत्पन्न कर नारियों की स्थिति म परिवतन लाया जा सकता है, और उन्होंने सगठन काय के माध्यम से राजनीतिक और पत्रकारिता से सम्बन्धित काय प्रणाली को प्राथमिकता प्रदान की। सामाजिक सेवा, पत्र-कारिता और साहित्य के माध्यम से "सामाजिक व्यापार" म नारियों के प्रवेश से एक सवथा नवीन सत्य प्रतिपादित हुआ, वह यह कि नारियों को सामाजिक स्तर पर मान्यता प्राप्त होन लगी। विश्व के प्राय प्रत्येक भागो मे १९१४-१८ के महायुद्ध मे नारियों की स्थिति म क्रान्तिकारी परिवतन हुआ। युद्धकाल मे प्राय सभी महत्त्वपूर्ण सवाओं म नारियों की आवश्यकता का अनुभव किया गया, और नारियों ने अनेक पदों पर अत्यन्त सफलतापूर्वक काय कर महत्त्वपूर्ण एव उत्तरदायी कार्यों के लिए अपने आपको सिद्ध किया। अच्छे एव प्रगतिशील परिवारों की लडकियों द्वारा बाहर काय करने और "सकुशल" लौट आने को शान्तिपूर्वक बिना किसी वाद विवाद के स्वीकृत कर लिया गया।[1] वास्तव मे बाहर काय करने से परिवार म यह आशका प्रकट की जाती थी कि बाहर लडकियों की पवित्रता की रक्षा सम्भव न हो सकेगी, और एक प्रकार की अज्ञात आशका सबके मन म समाई हुई थी। पर धीरे धीरे यह धारणा भ्रांति सिद्ध हुई और प्रगतिशीलता की दिशा म नारियों को इससे उचित प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। घर से बाहर आकर काय करने से इन्हें एक सवथा नवीन दृष्टि प्राप्त हुई। घर मे सीमित ससार मे

---

१ वायला क्लीन ' दि फमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ २७।

कार्यक्षेत्र से भी अधिक विस्तृत एवं व्यापक कार्यक्षेत्र में जब उन्हे कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ, तो वे प्राचीन विरासतें स्वत. ही धराशायी हो गई जिन पर नारी का प्राचीन आदर्श स्थित था इससे नारियो की आर्थिक स्वतन्त्रता की माँग भी कुछ सीमा तक पूर्ण होने लगी। वास्तव मे नारियो ने अपने को विलास की साधन सामग्री के रूप से निकाल कर जिस दोराहे पर ला खडा कर दिया था, उसमे परतन्त्रता जैसी किसी भी भाव के लिए स्थान न था। नारियाँ किसी भी रूप मे पुरुषो के आधीन न रहना चाहती थी। भारत की स्थिति ऐसी थी जिसमे नारियो ने अन्य क्षेत्रो मे तो सफलता अनेक सीमाओ तक प्राप्त कर ली थी, पर आर्थिक रूप से अभी भी उन्हे स्वतन्त्रता प्राप्त करने अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ रहा था, जिसमे प्रमुख तो था कार्य की गुरुता एव लघुता के सम्बन्ध मे नारी पुरुष गत भेद के दृष्टिकोण की प्रमुखता। अनेक कार्य ऐसे थे, जिनके सम्बन्ध मे यह धारणा निर्मित कर ली गई थी कि यह नारियाँ नही कर सकती, बल्कि पुरुषों के योग्य ही ये कार्य हैं। पर नारियो ने इस क्षेत्र मे भी सफलता प्राप्त करने और अपने को आर्थिक रूप से पूर्ण स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न शिथिल नही होने दिया। आर्थिक स्वतन्त्रता ही नही, वे विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग करने लगी थी। वे अपने जीवन के उस भाग को अत्यन्त गौरवपूर्ण समझती थी, जिसमे उन पर किसी प्रकार का अकुश न हो, और उनका स्वतन्त्र अस्तित्व पूर्ण रूप से विकसित हो सके।[१] पर यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि इन उपलब्धियो मे नारी जीवन का पूर्ण विकास हुआ है, और वह सुख सन्तोष की अधिकाधिक उपलब्धि कर सकी है, तो यह नितान्त भ्रमपूर्ण होगा। ईवा तार्वेल ने अपनी पुस्तक "दि बिजनैस ऑव बिईंग ए वोमन" (१९१९) मे इसकी पुष्टि करते हुए कहा है कि जिस काल में नारी अत्यधिक स्वतन्त्र हो जाती हैं, तभी वह सबसे अधिक अवसाद ग्रस्त भी रहती है। आज नारियाँ प्रत्येक बात में पुरुषो के समान ही बनना चाहती हैं।[२] उनकी बातचीत उनके

१ The most satisfying relationships in life, are those which, entered upon with complete freedom of choice, thereafter absorb the personality to the full, employing our mental as well as our physical faculties...We have to evolve a system of laws and custom that will produce men and women capable of clear and definite choice, passionate sincerity and honesty in love, yet equally capable of giving and exercising freedom without becoming trivial and socially irresponsible."

—डोरा रसेल : सेक्सुअल रिफॉर्म कांग्रेस प्रोसिडिंग, (१९२९), मे मैरेज एण्ड फ्रीडम (निबन्ध) पृष्ठ २० ।

२. वाई० एम० रीग : व्हीदर वुमन ? (१९३८), बम्बई, पृष्ठ १०५।

रहन सहन का ढग, उनके वस्त्र, व्यवहार सभी कुछ पुरुष रूप धारण करते जा रहे हैं, और वे पुरुषों को पीछे छोड उनसे आगे निकल जाना चाहती है।

अत नारी आन्दोलन के फलस्वरूप उनकी स्थिति मे जो परिवर्तन उपस्थित हुआ था, और उसके परिणामस्वरूप नारी का जो नवीन रूप निर्मित हो रहा था, उसने हिन्दी उपन्यासकारो को परम्परागत रूपो से सर्वथा भिन्न नए प्रकार की नायिकाओ की कल्पना की प्रेरणा दी। आदर्श पत्नी, माँ या भगिनी आदि रूपो को नायिका मे प्रतिबिंबित करने के बजाय उपन्यासकार इस नवीन रूप से अत्यधिक प्रभावित हुए और इसी के सन्दर्भ मे उन्होने नायिकाओ की परिकल्पना की। प्रेमचन्द के उपन्यास 'कर्मभूमि' की प्रधान नारी पात्र सुखदा मे इन्ही नवीन भावनाओ की उद्भावना हुई है। सुखदा का चित्रित रूप लगभग वही है जिसके लिए नारी आन्दोलन हो रहे थे। अत यह स्पष्ट था कि नारी अब केवल भोग या विलास की सामग्री न रहना चाहती थी, वरन सार्वजनिक क्षेत्र मे आकर पुरुषो से कन्धे से कन्धा मिला कर सघर्ष करते आगे बढना चाहती थी। 'गबन' भी नारियो की इन्ही परिवर्तित परिस्थितियो का प्रतीक है। नारियाँ, जो पुरुषो का रूप धारण करती जा रही थी, और अपने भारतीय आदर्श का त्याग पश्चिम की नारियो की भाँति बनना चाहती थी, प्रेमचन्द उसके विरोधी थे और नारियो को अपने भारतीय आदर्श को न त्यागने के पक्षपाती थे।

नारियो के आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने की भावना का चित्रण इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यास 'प्रेत और छाया' की नायिका मजरी के रूप मे किया है। नारियाँ अपने पैरो पर स्वय खडी हो सकती हैं तथा वास्तविक लगन एव परिश्रम से आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकती है, पुरुष चाहे जितना ही उनके मार्ग मे बाधाएं उपस्थित करे। मजरी पारसनाथ से कहती है,—" तुम उसी सनातन पुरुष समाज के नवीन प्रतिनिधि हो जिसने युगों से नारी को छल से ठग कर बल से दबाकर, विनय से बहका कर और करुणा से गलाकर उसे हाड मास की एक निर्जीव पुतली का रूप देने मे कोई बात उठा नही रखी है। पर याद रखो, विश्वव्यापी क्रान्ति के इस युग मे आततायी और नामाचारी पुरुष जाति की सत्ता अब निश्चित रूप से मूलत ढहने को है और युगो से दलित नारी जाति आज तक अपनी छायात्मकता के भीतर भी शक्ति का जो महाबीज सुरक्षित रखे हुए थी, उसके विस्फोट का दबाव की समयता अब ब्रह्मा मे भी नही रह गई है।'[1] इस प्रकार नारी आन्दोलन के कारण नारी की स्थिति मे जो परिवर्तन हो रहा था, उससे अनुप्राणित होकर उपन्यासकारो ने अपनी नायिकाओ की भिन्न भिन्न रूपो मे कल्पना की। नारी आन्दोलन की अच्छाई बुराइयो को भी उन्होने साथ ही साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, पर अन्त मे अधिकाश का निष्कर्ष किसी न किसी प्रकार से भारतीय आदर्श

१ इलाचन्द जोशी प्रेत और छाया, (१९४६), इलाहाबाद, पृ० २०८।

की रक्षा था। वे नारियों की स्थिति में परिवर्तन तो चाहते थे, पर वे पाश्चात्य प्रभावित रूप नहीं, भारतीय परम्परागत रूप ही चाहते थे. हाँ, उसकी रूढ़िता समाप्त कर उसमें नवीनता का रंग अवश्य भरना चाहते थे। नारी आन्दोलन वस्तुत: नारियों की स्थिति में नवीन प्रतिमान स्थापित करने के प्रयत्न कर रहे थे और उसमें उन्हें अधिकांश रूप में सफलता भी प्राप्त हुई। अल्पता के कारण सेनाओं तक में नारियों का समावेश हो गया है।[1] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस नवीन आर्थिक चेतना के विकास के बावजूद भी वह परम्परा अभी तक समाप्त नहीं हो पाई थी जिसमें श्रम संगठनों में नारियों को पुरुषों की तुलना में कम वेतन प्राप्त होता था। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से दो महायुद्धों के मध्य आर्थिक संकट के समय नारियाँ श्रम के क्षेत्र में पुरुषों की प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बन गईं। दूसरी ओर यद्यपि आर्थिक क्षेत्र में नारियों का अधिकाधिक प्रवेश होता जा रहा था, नारियों में पुरुषों से कम वेतन पाने के कारण अपना जीवन स्तर विकसित कर पुरुषों से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने की भावना का भी उदय होने लगा। इसमें भावनात्मक संतोष की भी वृद्धि हुई।[2] राजनीतिक चेतना के कारण भी नारियों की स्थिति में आशातीत परिवर्तन हुआ और उनकी माँगों को राजनीतिक मान्यताएं प्राप्त होने लगी, जिससे उनकी स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। "धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है, अर्थात् वह गत युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटाना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझ कर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही है।[3] और इस प्रकार सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक चेतना के परिणामस्वरूप नारियों की स्थिति में पूर्णतया परिवर्तन हो रहा है।

इस परिवर्तन ने उपन्यासकारों को अनेक नवीन स्तर की नायिकाओं की परिकल्पना की प्रेरणा दी और उपन्यासों में ऐसी नायिकाएं आने लगी, जो किसी भी स्थल पर पुरुषों के समक्ष झुकना नहीं चाहती थी। वे न पुरुष की यंत्रणाएं अथवा उसका कठोर शासन ही सहना चाहती थी और न आर्थिक रूप से परतंत्र रहकर अवसाद-ग्रस्त जीवन ही व्यतीत करना चाहती थी। इलाचन्द्र जोशी के प्रथम उपन्यास 'लज्जा' की नायिका समाज की उस क्रान्तिकारी अवस्था का चित्रण प्रस्तुत करती है, जिसमें वैवाहिक स्वतंत्रता की माँग नारियों द्वारा की जा रही थी। 'प्रेत और छाया' के मंजरी तथा नन्दिनी दोनों ही पारसनाथ के प्रति विद्रोह भाव

---

१. वायला क्लीन : द फैमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृ० २७।
२. जोजेफ किर्क फोल्सम : द फैमिली, इट्स सोशियोलोजी एन्ड सोशल सिकिएट्री, (१९३८), लन्दन, पृ० ७।
३. इलाचन्द्र जोशी : विवेचना, (१९४६), इलाहाबाद पृ० १२४।

को धारण करती हैं और जीवन पथ त पुरुष (पारसनाथ) के अत्याचार, दमन एव दुव्यवहार के कारण उसे क्षमा नही करतीं। 'संन्यासी' की शान्ति भी इसी प्रकार की नारी है जो पुरुषो के अत्याचार के सम्मुख झुकने को तत्पर नही रहती। जैनेन्द्रकुमार के 'मृणाल' के रूप म भी सक्रान्ति काल की उसी नारी की परिकल्पना की गई है। यशपाल न 'दादा कामरेड' मे शैला भी नारी की स्वतन्त्रता की भावना व्यक्त करती हैं। वह विवाह से घृणा करती ह और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहती हैं। विवाह कर एक सीमित दायरे मे नही रहना चाहती। इसी उपन्यास मे यह भी सिद्ध किया गया ह कि स्त्री पुरुष के विकास मे जरा भी बाधक नही हैं। क्योंकि, "यदि पुरुष के जीवन विकास म स्त्री का आकर्षण विनाशकारी होता, तो प्रकृति यह आकर्षण पैदा ही क्या करती ? जिन वस्तुओ से मनुष्य क जीवन को भय ह, उनसे वह डरता हैं दूर भागता ह, परन्तु पुरुष-स्त्री की ओर दौडता है, मानों उसके जीवन म कोई कमी है जिसे वह पूर्ण करना चाहता हैं।" अत इस युग मे ऐसी नायिकाओ की कल्पना अधिकाश रूप मे की गई जो अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का विकास चाहती थी, आर्थिक स्वतन्त्रता चाहती थी, सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार चाहती थी। इन नायिकाओ म यह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रमुख होती थी कि नारी पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण क कारण वे पुरुष की ओर आकर्षित तो होती हैं और उनसे प्रेम-सम्बन्ध भी स्थापित करती हैं। पर जब पुरुष उन पर अपना अधिकार जताना चाहता ह तभी नारियो म विद्रोह भाव उत्पन्न होता है और वे पुरुषो का पूर्ण तिरस्कार कर स्वय स्वावलम्बी बनने और अपना जीवन निर्माण करने को प्रस्तुत हो जाती हैं। यह नारीगत नवीन चेतना का ही परिणाम था, जिसने उपन्यासकारो को प्रभावित किया था।

नवीन चेतना का परिणाम

नारी सुधार आन्दोलनो के परिणाम-स्वरूप नारियो म नवीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। अभी तक राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन मे उन्हे विशेष अधिकार न प्राप्त थे, और न इसक प्रति व सचेत ही थी। पीछे इसका वर्णन हो चुका है कि इसके लिए प्रयास प्रारम्भ हो गया था और अनेक सामाजिक तथा धार्मिक सगठनों के साथ स्वय नारी सगठन ही नारियों की स्थिति मे सुधार लाने का प्रयत्न कर रहे थ। धीरे-धीरे पश्चिम मे नारियों की परिवर्तित परिस्थिति के सम्पर्क मे आने पर नारियो न इस समाज की नवीन रचना की माँग उठाई। वे समाज की ऐसी व्यवस्था चाहती थीं, जिसम उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके वे उपेक्षणीय न रह सक। अभी तक यह धारणा बनाई जा चुकी थी कि पुरुषो की तुलना मे नारी की विशेषताए कम हैं, और उसे समाज मे पुरुषो के बाद द्वितीय स्थान प्राप्त होना चाहिए। पर नवीन सामाजिक चेतना के अन्तगत नारियाँ इस किसी भी अवस्था में स्वीकृत करने को तत्पर नही थी। उनके

अनुसार केवल इस मान्यता के आधार पर नारी और पुरुषगत भेद के कारण ही अन्तर न होना चाहिए, वरन् एक समता का दृष्टिकोण निश्चित हो, उसमे जो भी अधिक विशेषता सम्पन्न हो, उसे ही स्थान प्राप्त होना चाहिए, चाहे वह पुरुष हो, या नारी। वास्तव मे समाज के विकास, उसकी रचना प्रक्रिया तथा उसके कार्य व्यापार में नारियाँ अपना समान अधिकार समझती थी, और उसे वह पूर्ण भी करना चाहती थी। केवल पुरुषो का नियन्त्रण, या पग-पग पर उनका मार्ग निर्देशन अब उन्हे स्वीकार न था, वे तो स्वय अपनी योग्यता से अपना मार्ग आप निर्धारित कर गतिशील होना चाहती थी। उन्होने विवाह सम्बन्धी नियमो मे परिवर्तन की ओर भी ध्यान दिया तथा विवाह में अपने जीवन साथी के निर्वाचन मे अपनी रुचि को सर्वोपरि प्रधानता देने की माँग की, क्योकि उनके तर्कों के अनुसार सारा विवाहित जीवन पति के साथ उन्हे व्यतीत करना है, न कि माता-पिता को, अतः विवाह सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओं के स्थान पर नवीन विचारो की स्थापना का प्रयत्न किया।[१] मध्यम वर्ग के परिवारो में यह कुछ अशो तक सफल भी हुआ, और पति के निर्वाचन मे लड़कियो की रुचि को प्राथमिकता दी जाने लगी, पर वह पूर्ण रूप मे सफल हुआ हो, ऐसी बात नही। आर्थिक चेतना के अन्तर्गत भी नारियो की स्थिति में परिवर्तन हुआ। औद्योगिक युग के आगमन के फलस्वरूप सयुक्त परिवार आर्थिक विषमताओं के कारण टूटने लगे थे, और पुरुषो को जीवन निर्वाह के अच्छे साधन खोजने के लिए इधर-उधर जाना पड़ा। उनकी अनुपस्थिति मे नारियाँ ही अपने परिवार का संचालन करती थी, इसके साथ ही मशीनो के विकास हो जाने के कारण कठोर श्रम की आवश्यकता पड़ने लगी। मूल्यो की वृद्धि और आय की कमी के कारण नारियाँ स्वय इन कार्यों को करने लगी, इससे पुरुषो का एकमात्र नियन्त्रण स्वत. ही समाप्त होने लगा। इसका नारियो की स्थिति पर भी प्रभाव पड़ा और नारी पुरुष का अन्तर न्यून होने लगा। परन्तु वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा मूलतः समाप्त नही हो पाई और नारी का एक पुरुष से सम्बन्ध स्थापित रहना भी आवश्यक बना रहा। हाँ अब वह पुरुष की दासी नही, सहयोगिनी कहलाती थी।

---

१. If the personal life of women is to be fulfilled it also demands that the old ideas about marriage ought to change If society recognises that sexual satisfication as an end in itself for the enrichment of erotic life, marriage will come to mean only an institution for the procreation of children. A girl who is brought up in an atmosphere of freedom and knowledge about sexual matters who is impressed with her role and responsibilities in life, will not abuse her opportunities if she is allowed to contract the marriage on the basis of freedom.

वाई० एम० रीग : व्हीदर वुमन ?, (१९३८), बम्बई, पृष्ठ २८४।

पर इसमें यह रूढ़ता अथवा कठोरता न रह गई थी जो प्राचीन काल में पुरुष शासन की प्रमुख विशेषता बन गई थी। नारियों के सम्मुख स्वभावतः ही यह प्रश्न उठने लगा कि क्या वे यंत्रणाएं अथवा ठोकरें इसीलिए सहन करें, कि वह पुरुषों पर आश्रित हैं, आर्थिक रूप से परतन्त्र हैं? अनमेल विवाह, बाल विवाह, विधवा की दयनीय स्थिति, परिवार में नारी की अत्यधिक उपेक्षणीय स्थिति का दोषारोपण नारियों ने पुरुषों पर लगाया, साथ ही अपनी आर्थिक परतन्त्रता की शृंखलाओं को तोड़ने की इच्छा भी जाग्रत होने लगी। आर्थिक स्वतन्त्रता के वातावरण में न तो पुरुषों का कठोर शासन ही उन्हें सहना होगा न उनकी हार्दिक इच्छाएं तथा भावनाएं ही कुंठित होंगी, और समाज उन्हें अवहेलना अथवा निरादर की दृष्टि से देखेगा यह भावना नारियों में व्याप्त हो गई थी तथा इसे प्राप्त करने के प्रयत्न भी प्रारम्भ हो गए थे। इसके परिणाम स्वरूप इच्छित या अनिच्छित रूप से नारियाँ अधिक संख्या में अन्य कार्यों में प्रवेश पाने लगीं तथा श्रम के विभाजन में नारी तथा पुरुषगत भेद की दृष्टि क्षीण पड़ने लगी। आज कदाचित् कोई ऐसा कार्य नहीं है, जिसमें केवल सिद्धान्त रूप से नारियाँ बहिष्कृत हों।

नारी प्रेम

नर और नारी का आकर्षण साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही नर और नारी का प्रेम रहा है। आदम और हौवा के प्रेम से लेकर आज तक के जीवन में यह बात सामान्य रूप से प्राप्त होती है कि नर और नारी में परस्पर आकर्षण होता है। प्रेम होता है, जिससे कभी जीवन को गति प्राप्त होती है, कभी अवरुद्धता आती है। प्रारम्भ में प्रेम में पवित्रता की रक्षा सर्वोपरि होती थी। पौराणिक आख्यानों में राधा कृष्ण का प्रेम अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। राधा का त्याग, पतिव्रता एवं आदर्श ने कृष्ण के प्रति प्रेम को उच्चता प्रदान की थी। उस प्रेम ने बराबर ही साहित्य में विभिन्न रूपों में स्थान प्राप्त किया है, और साहित्यकारों के लिए एक विशेष आकर्षण की वस्तु रही है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने जानकी को पुष्प वाटिका में प्रथम बार देखा था, साथ ही जानकी ने भी, दोनों नहीं जानते थे एक दूसरे के सम्बन्ध में, और दोनों के अन्तर्मन में पवित्र प्रेम का एक भाव उमड़ पड़ा था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में प्रेम का रूप आज के प्रेम से भिन्न था। तब प्रेम में अत्यन्त पवित्रता का भाव होता था। नर और नारी दोनों में त्याग की प्रवृत्ति होती थी, और प्रेम में मात्र प्राप्य ही सब कुछ नहीं समझा जाता था। प्रेम की श्रेष्ठता ही प्रेम की वास्तविक सार्थकता समझी जाती थी। नारी से इस बात की माँग की जाती थी कि वह पुरुष की अपेक्षा अधिक त्याग की भावना प्रदर्शित करेगी, और एक आदर्श का निर्माण करेगी। प्रेम कभी कर्त्तव्य-पथ में बाधा स्वरूप नहीं उपस्थित होगा, और उससे जीवन को गति ही प्राप्त होगी, नवीन दिशाएं प्राप्त होंगी। अतः प्रेम को नारी जीवन में अधिक

महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वह प्रेम अपने प्रेमी के प्रति ही नहीं, परिवार के अन्य व्यक्तियों, समाज और राष्ट्र के व्यापक सन्दर्भ में भी ग्रहण किया जाता था। वस्तुत प्रेम के ही माध्यम से नारी अपने जीवन में सुख एवं संतोष की उपलब्धि करती थी, तथा अपने जीवन की वास्तविक निर्माण प्रक्रिया में सलग्न होती थी। पर नारी जीवन में प्रेम के इतने अधिक महत्व के बावजूद भी प्राचीन काल में प्रेम को स्वतन्त्रता न प्राप्त थी। तब आज के युग की भाँति प्रेम, विरह, वासना का ज्वार और फिर निराश प्रेमियों द्वारा आत्म-हत्या (?) आदि विकृत रूप प्रचलित न थे, और एक प्रकार से स्वच्छन्द प्रेम पर प्रतिबन्ध था। पर आधुनिक युग में परिस्थितियाँ परिवर्तित हो गई। पश्चिमी विचारों के प्रभाव से प्रेम के स्वरूप में परिवर्तन उपस्थित हुआ, और प्रेम सम्बन्धी मान्यताओं ने नवीन ताना-बाना ग्रहण किया। अब प्रेम में अधिक स्वच्छन्दता का भाव आने लगा, तथा सामाजिक प्रतिबन्धों में शिथिलता आने लगी। पाश्चात्य विचारकों ने नारी जीवन का एकमात्र उद्देश्य केवल वासना की पूर्ति ही बताया।[1] उनके अनुसार नारी में कोई चेतना नही होती है, उसकी निर्णय शक्ति क्षीण होती है, दूरदर्शिता का भाव न्यून होता है, और उसके जीवन की सारी कार्य-प्रक्रियाएं केवल एक ही स्थल पर केन्द्रित होती है, वह वासना पूर्ति है। अत प्रेम के परिवर्तित प्रतिमानों के सन्दर्भ में इस बात की कल्पना की जाने लगी कि नारी केवल वासनात्मक उद्देश्य को ही प्रमुख रूप से ध्यान में रख कर पुरुष की ओर आकर्षित होती है। उससे प्रेम करती है। प्रेम में पवित्रता का जो भाव अभी तक प्रचलित था, त्याग की जो वृत्ति प्रेम को श्रेष्ठता प्रदान करती थी, पाश्चात्य विचारों की छाया में उनके अस्तित्व का लोप हो गया और उसके स्थान पर प्रेम का अत्यन्त वासनात्मक रूप सामने आया। इस नए प्रेम में प्राप्य ही सब कुछ था, और वह वासना पूर्ति पर आकर ही समाप्त हो जाता

१. "Woman has one purpose in life and only one essential interest, sexuality. Both in the type of mother and in that of courtesan she is either indirectly or directly concerned with matters of sex. She has no moral standards of her own, and the constant compliance with extraneous standards has produced in her mendacity, hypocrisy, and the disposition to hysteria She has no capacity for clear thought, no memory other than the ability to repeat memorized matter. Her judgement is undertain and her sensibility poor except for tactile sensations She is sentimental but incapable of deep emotions She has no intellectual conscience, no relation to logic and she lacks individuality and an independant will"

ओटो वेनिन्जर : सेक्स एन्ड कैरेक्टर (वियना, १९०३)—वायला क्लीन कृत-फैमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृ० १६७ में उद्धृत।

था। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि वह मात्र वासनात्मक दृष्टिकोण से प्रारम्भ ही होना था। प्रेम में अभी तक नारी को जो श्रेष्ठता प्राप्त थी प्रेम नारी जीवन का महत्वपूर्ण अंग समझा जाता था उसकी छीछालेदर भी प्रारम्भ हुई, और नारी को विलास पूर्ण दृष्टि से भी परखा जाने लगा, उसका मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ।

नारी प्रेम का यह रूप भी उपन्यासकारों के लिए सदैव ही प्रेरणा का स्रोत रहा है। उन्होंने अपनी नायिकाओं में बराबर ही प्रेम के विभिन्न स्वरूपों को चित्रित करने का प्रयास किया है, यही कारण है कि आज अधिकांश रूप से कोई भी ऐसा उपन्यास नहीं प्राप्त होता, जिसमें प्रेम का चित्रण न हो।[1] प्रेमचन्द ने प्रेम समस्या को अपनी अन्य सामाजिक समस्याओं की भाँति महत्ता प्रदान की थी, पर उन्होंने प्रेम का आदर्श बनाए रखने का बराबर यत्न किया। उन्होंने अपनी नायिकाओं को प्रेम में सामाजिक विद्रोह नहीं करने दिया और न परम्परागत सीमाओं को तोड़ने ही दिया। जहाँ कहीं उनकी नायिकाएं प्रेम में सामाजिक विद्रोह की सीमा तक पहुँचती हैं, उन्हें अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है।[2] वास्तव में प्रेमचन्द ने व्यक्ति को समाज की इकाई के रूप में ही लिया था इसीलिए वे अधिकांश रूप में समाज और समाजगत समस्याओं का चित्रण करने की ओर ही प्रवृत्त रहे वैयक्तिक भाव प्रतिक्रियाओं के विश्लेषण की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया। पर इतना होते हुए भी उनकी नायिकाओं में प्रेम का जो स्वरूप प्राप्त होता है उसका आंतरिक विश्लेषण यत्र-तत्र प्राप्त होता है। पर प्रेम में वासना की जो महत्ता पाश्चात्य विचारकों ने सिद्ध की थी, स्वयं प्रेमचन्द भी उससे अप्रभावित नहीं रह पाए। सोफिया का विनय के प्रति प्रेम केवल प्रेम की उच्चता ही नहीं मन की मलिनता भी है। वासना की झिलमिल छाया उस प्रेम को अपने में लपेट हुए हैं। सकीना और अमरकान्त में जो भावपरा है वह केवल मन की भूख ही नहीं, उसमें सेक्स की भूख भी मिश्रित है। गायत्री का ही ज्ञानशंकर के प्रति प्रेम पवित्रता का एक ढकोसला मात्र था यदि उसी प्रेम को यशपाल का चित्रित करना होता तो काम शास्त्र की अच्छी खासी व्याख्या भी हो गई होती। जैनेन्द्र के अधिकांश उपन्यास नारी और पुरुष की प्रेम समस्या पर ही आधारित है उनकी अधिकांश नायिकाएं दो व्यक्तियों से प्रेम कर अपने कर्त्तव्य से संघर्ष करती हैं। जैनेन्द्र सामाजिक दृष्टि की क्षीणता के कारण सामाजिक समस्याओं एवं नैतिक वर्जनाओं से उतना प्रभावित नहीं हैं, जितना नर नारी की अतृप्त वासनाजनित कुंठाओं और मानसिक ग्रंथियों की ओर। सुनीता अपने पति और प्रेमी हरिप्रसन्न दोनों से एक साथ प्रेम करती है। वह अपने वैवाहिक जीवन को भी सफल बनाए रखना चाहती है साथ ही हरिप्रसन्न को दुनियादारी की तरफ मोड़ कर उसका जीवन निर्माण भी। सुनीता

१ ई० एम० फार्स्टर एस्पेक्ट्स ऑव द नॉवल, (लन्दन, १९५४), पृ० १८।

२ विशेष विवरण के लिए देखिए अध्याय आठ।

पर मात्र पति का ही प्रभाव नहीं है कि वह उनके कथनानुसार हरि प्रसन्न को नवीन जीवन प्रदान करने की ओर प्रवृत्त हो जाती है, अपितु इससे भी अधिक गहराई में कुछ और है, जिसे उपन्यासकार के आदर्श ने स्पष्ट नहीं होने दिया है—वह है प्रेम में सुनीता की दमित अमित भावनाएं और उनकी कराह जो उनके वैवाहिक जीवन की असन्तुष्टि के कारण ही निर्मित हुई थी। जैनेन्द्र के एक नारीपात्र के अनुसार प्रेम (नारी पक्ष) एक दूसरे में अपना विलय खोजना होता नहीं तो सफलता नहीं, परिपूर्णता नहीं है। पर अज्ञेय ने इसमें अपना विश्वास नहीं प्रकट किया। इसके विपरीत नारी के इस आत्मलय को वह नारीत्व की सबसे बड़ी विडम्बना स्वीकृत करते हैं। उनके अनुसार, कैसी विडम्बना है स्त्री की शक्ति भी, कि उसका श्रेष्ठ-दान है—स्वयं अपना लय—अपना विनाश। शशि 'शेखर एक जीवनी' में अपने पति को छोड़ कर शेखर के पास चली आती है, और उसे अतीव सुख सतोष प्रदान कर शेखर के जीवन निर्माण का प्रयत्न करती है, जिसमें वह एक प्रकार से स्वयं टूट जाती है। यशपाल ने अपनी अधिकांश नायिकाओं में प्रेम चित्रित किया है, और सभी वासना के तीव्र ज्वर से पीड़ित हैं। "दादा कामरेड" में शैला को यद्यपि लेखक ने इस रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है, जैसे वह सामाजिक कार्यों और नैतिक दायित्वों के प्रति अपना कर्त्तव्य समझ कर ही सार्वजनिक कार्यों में भाग ले रही है। पर यह सत्य नहीं है। सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का इसका एक-मात्र कारण उसका हरीश के प्रति आकर्षण और प्रेम है। यहाँ प्रेम में पूर्ण स्वच्छन्दता प्रदर्शित की गई है, और विवाह के पूर्व ही शैला अनेकों बार अपनी वासना की तृप्ति करती है, जिसे यशपाल का प्रगतिशील समाज श्रेयस्कर समझता है। वास्तव में मनोविज्ञान का साहित्य और समाज पर ऐसा प्रभाव पड़ा, जिसके कारण सामाजिक रूप विधान ही नहीं, मानव दृष्टिकोण में भी आमूल चूल परि-वर्तन उपस्थित हुआ। प्रेम के नैतिक मूल्य भी इसी सन्दर्भ में परिवर्तित हुए। इसके परिणामस्वरूप उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं में प्रेम का ऐसा वासना परक, घृणित स्वरूप चित्रित करने की प्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं, जिसका आधार इन्द्रिय-लोलुप मनोवृत्ति की उत्तेजना तथा शारीरिक सुख की तृप्ति की कामना है। इस नवीन स्रोत से नारी अब मात्र विवाह बन्धन के भीतर रह कर अपनी प्रेममयी मूल प्रकृति की तृप्ति करने की इच्छुक नहीं है, वरन् वह अब स्वच्छन्द रूप से समाज में आकर अपनी इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास चाहती है और अपनी वासना की तृप्ति चाहती है। अधिकांश उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं की परिकल्पना इसी नवीन सन्दर्भ में की है, और जाने अनजाने सभी नायिकाओं में ये गुण समाए हुए हैं।

नवीन नारी मनोविज्ञान

हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द के आगमन के साथ ही मनोविज्ञान

का भी प्रवेश हुआ। प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यास में पात्रों के बाह्य क्रिया कलापों पर ही अधिक बल दिया जाता था। मानव के अन्तर्मन में भी एक अत्यन्त रोचक एवं रहस्यमय लोक है जिसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और मनुष्य अपने अवचेतन मन में व्यक्तिगत जीवन में नियन्त्रित होता है, इसका उपन्यास के प्रारम्भिक युग में विशेष महत्त्व न था, तब केवल घटना के वैचित्र्य, रोचकता, चरम कौतूहल और मनोरंजक कथानकों के निर्माण पर ही अधिक बल दिया जाता था। पर बाद में प्रेमचन्द के आगमन से इस स्थिति में परिवर्तन हुआ और मनोविज्ञान के माध्यम से व्यक्ति का नवीन अध्ययन प्रारम्भ हुआ। व्यक्ति के बाह्य क्रिया-कलाप मात्र ही नहीं, वरन् उसके अन्तर्मन की प्रक्रियाओं का मनोविश्लेषण नवीन युग की प्रमुख विशेषता बन गई। फ्रायड, एडलर, युंग आदि पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय उपन्यासकारों के सम्मुख नवीन आदर्श उपस्थित किया जिससे उनमें एक नवीन मनोविज्ञान का जन्म हुआ। इनमें प्रो० सिगमंड फ्रायड (१८५६-१९३९) का मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा, जिससे एक नवीन नारी मनोविज्ञान प्रतिफलित हुआ।

फ्रायड मन की सक्रियता में विश्वास प्रकट करते हैं। मन का वास्तविक कार्य बुद्धिपरक नहीं अपितु आवेगात्मक है तथा चेतन और अचेतन दोनों ही अवस्थाओं में मन प्रयत्नशील रहता है। फ्रायड ने अचेतन पर अधिक बल दिया है। उनके अनुसार मन एक गम्भीर और तरंगित सागर है, वह प्रत्यक्षों, बौद्धिक प्रक्रियाओं, विचारों और संवेदनाओं का ही समूह नहीं है और न विचार या संवेदना आदि से युक्त एक आध्यात्मिक पदार्थ ही है। फ्रायड ने चेतन (Con cious) पूर्व चेतन (Pre-con ciou·) और अचेतन (unconscious) की बात कही है। पूर्व चेतन तथा चेतन का निकटतम सम्बन्ध होता है। यह वह है जो तुरन्त चेतन बनाया जा सकता है, यद्यपि किसी एक क्षण में वस्तुतः चेतन नहीं होता। पूर्व चेतन अत्यधिक चेतन से लेकर न्यूनतम चेतन तक अथवा उससे नीचे जिसका जाग्रत अवस्था में पूरी तरह स्मरण हो सकता है। जिसका दमन होता है वह अचेतन है। एक क्षण के लिए जो चेतन होता है और जिसका दमन नहीं होता है वह पूर्व चेतन है। फ्रायड ने चेतन और अचेतन को एक अविच्छिन्न पैमाने की सीमाओं के रूप में नहीं अपितु परस्पर विरोधियों के रूप में स्वीकार किया है। दोनों के मध्य वात्रुभाव है। पूर्व चेतन से मुक्त चेतन नियन्त्रित इच्छाओं का स्तर नहीं है। अचेतन दबी हुई इच्छाओं ((Repressed Libido) का स्तर है। मन अथवा अहं (Ego) चेतनस्तर में वास्तविकता के नियमों का अनुगमन करता है तथा सामाजिक परिवेश में प्रचलित नैतिक नियमों का पालन करता है। मस्तिष्क का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग अचेतन होता है जिसमें जीवन के प्रारम्भ से प्राप्त हुई अनुभूतियों का संग्रह होता है। इनमें कुछ ऐसी होती हैं जिन्हें प्राप्त कर सकना सहज सम्भव नहीं होता। जाग्रतावस्था के समस्त विचार एवं प्रवृत्तियाँ सभी इसी मूल स्रोत से उत्पन्न होकर

अर्द्धचेतन से होते हुए चेतन तक पहुँच जाती है। ऐसे विचार, जिनसे व्यक्ति को यह आशंका होती है कि यह हास्यास्पद और लज्जाप्रद है, सामाजिक मान्यताएं उसे स्वीकृत नहीं करतीं अपितु निन्दनीय समझती हैं तथा इसके कारण समाज में उसकी स्थिति निन्दा योग्य समझी जाने लगेगी, सर्वदा नियन्त्रित किये जाते हैं। चेतन और अचेतन के मध्य एक प्रहरी (Censor) होता है, जो ऐसे विचारों को बहिष्कृत करता है। दमन एवं नियंत्रण की यह प्रक्रिया अज्ञात अवस्था में क्रियाशील रहती है। हम अपने जीवन में कुछ निन्दनीय बातों पर ज्ञात रूप से जिस प्रकार नियंत्रण रखते हैं, यह उससे सर्वथा भिन्न है, और यह अज्ञात अवस्था में ही क्रियाशील रहता है। फ्रायड ने ज्ञात रूप वाले प्रतिबन्ध व्यापार को निरोध (Supression) और अज्ञात रूप वाले प्रतिबंध व्यापार को दमन (Repression) कहा है। सामाजिक नियम विधान मन को सुख-नियम का अनुसरण करने तथा अपनी इच्छाओं को तुरन्त तृप्त करने का प्रयत्न करने से नियंत्रित करती है। पर अहं (Ego) अचेतन स्तर में सुख के नियम (Pleasure Principle) का अनुसरण करता है। नियंत्रित इच्छाएं, जो अचेतन का रूप होती हैं, अपनी तृप्ति खोजती हैं और सुख नियम का अनुगमन करती हैं। पर भौतिक प्रकृति और सामाजिक परिवेश की विभिन्न विधाओं से उसका संघर्ष होता है।

मानवीय चेतना एवं मानव व्यक्तित्व को संचालित करने वाली शक्ति काम प्रत्यय (Libido) है।[1] इसका अर्थ शारीरिक सुख के प्रत्येक अर्थ में निहित है। फ्रायड ने "काम" शब्द का प्रेम के लिए अत्यधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है, तथा काम के नियंत्रण का प्रबल विरोध किया है। फ्रायड के अनुसार शिशु में आत्मरति (Auto-Eroticism) होता है, वह अपने शरीर से प्रेम करता है और स्वाभाविक प्रवृत्तियों की तृप्ति से सुख लाभ करता है। इस अवस्था को आत्मासक्ति (Narcissism) की अवस्था कहते हैं। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों वह समलिंग कामुक (Homo-sexual) या समलिंगीय के साथ व्यभिचार करने लग जाता है, एक लड़का ज्यों-ज्यों प्रौढ़ होता जाता है त्यों-त्यों वह विषमलिंग कामुक (Hetero-sexual) होता जाता है, एक युवक युवती से प्रेम करता है। इस प्रकार आत्मरति समलिंगीय रति और विषमलिंगीय रति, ये काम के विकास के विभिन्न चरण हैं। काम की एक अन्य अभिव्यक्ति भी है जो मातृ ग्रंथि (OEDIPUS COMPLEX) और पितृ ग्रंथि (Electra Complex) का रूप लेती है। मातृ ग्रंथि पुरुष शिशु का अपनी माता के प्रति आकर्षण और अपने पिता के प्रति द्वेष की प्रवृत्ति है। पितृ ग्रंथि बालिका का अपने पिता के प्रति आकर्षण और माता के प्रति द्वेष की प्रवृत्ति है। जब विषमलिंगीय रति के आगमन के साथ वास्तविक लिंगीय कामुकता का उदय होता है, उसके पूर्व ही ये ग्रन्थियां निर्मित

१. फ्रायड : हिज ड्रीम एन्ड सेक्स थ्यूरीज, (मार्च, १९५९) न्यूयार्क, पृष्ठ ३८।

हो जाती हैं। जैसे-जैसे बालिका की आयु वृद्धि होती जाती है सामाजिक नियन्त्रण के कारण पिता के प्रति उसकी कामना का दमन होता जाता है और यह एक अचेतन इच्छा का रूप धारण कर लेती है। यह दबी हुई अचेतन पित ग्रंथि अनेक मानसिक विकृतियों को जन्म देती है। फ्रायड ने दो अन्य अभिव्यक्तियों की बात भी कही है जो स्वपीडन जनित कामानन्द (Masochism) और परपीडन जनित कामानन्द (Sadism) का रूप लेती हैं। पहली अपने को पीडित करने की प्रवृत्ति है, दूसरी प्रेम के विषय को पीडित करने की प्रवृत्ति है। फ्रायड निर्दयता और विनाशकता के सभी अन्य रूपों का समावेश परपीडन प्रियता (sadism) में करता है तथा काम प्रवृत्ति में आत्मरक्षण की प्रवृत्तियों का समावेश करके काम प्रत्यय को व्यापक बना देता है। इस उसने जीवन प्रवृत्ति (Eros) कहा है, जिसकी विरोधिनी मृत्यु प्रवृत्ति है। कुछ व्यक्तियों में आत्मसात की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। शाश्वत शान्ति या निर्वाण की इच्छा मृत्यु प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है। व्यक्ति के अन्दर कोई प्रवृत्ति ऐसी होती है जिसका लक्ष्य मृत्यु होना है। वह आत्म-पीडन और प्रेमी व्यक्ति के पीडन तत्व को जीवन प्रवृत्ति और मृत्यु प्रवृत्ति का सम्मिलित फल मानता है और दोनों के विरोध को स्वीकार करता है।

प्रारम्भ में फ्रायड ने मन को अहं अचेतन में विभाजित किया था। उसका विचार था कि अहं चेतन होता है, और जो इच्छाएं (काम) उसे अस्वीकार्य हैं, उनका वह दमन करता है, और प्रतिरोध पूर्वक इन्हें अचेतन बनाए रखता है। किन्तु कई रोगियों में प्रतिरोध अचेतन माना गया। अतएव प्रारम्भ से दमन को भी अचेतन होना चाहिए। इस प्रकार, अहं को दमन और प्रतिरोध करने में अचेतन रूप से काम करता हुआ माना गया। फलत अहं अंशत चेतन और अंशत अचेतन है। चेतन पहलू में वह परिवेश के सम्पर्क में रहता है। मन का अचेतन अन्त:प्रदेश सक्रिय मूल प्रवृत्तियों तथा उन विशेष विघ्नकारी इच्छाओं और अनुभवों का निवास स्थान है, जिनका दमन कर दिया गया है। अहं परिवेश के सम्पर्क में रहता है, परन्तु उसका विकास ID से हुआ है जो आतरिक भाग है। ID में व्यक्ति जीवन की मूल प्रवृत्तियों को प्रेरणा प्रदान करने वाली शक्तियों का जीवन और मृत्यु दोनों प्रवृत्तियों का समावेश होता है जो विशेष इच्छाओं का रूप धारण करती हैं। जब भी अहं इन विशेष इच्छाओं का दमन करता है, वे ID में वापस चली जाती हैं। ID सदैव अचेतन और अव्यवस्थित रहता है। इसमें व्यक्ति जीवन की समस्त मूल प्रेरक शक्तियों का निवास रहता है। अहं और ID का द्वन्द्व उच्च अहं के कारण और भी जटिल बन जाता है। यह अहं का आदर्श है और अन्तःकरण के समान है। यह दूरदर्शी है। ID असंस्कृत विद्रोही मूल प्रवृत्तियों का समुच्चय है। उच्च अहं केवल मनुष्य में पाया जाता है तथा इसका उद्भव शिशु की अतृप्त कामवासना (Libido) में होती है। वस्तुत फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धांत कामुकता, दमन

और शैशवावस्था के तीन स्तम्भों पर आधारित है। शैशवावस्था में बालिका की अतृप्त कामुकता दबी हुई अचेतन इच्छा का रूप धारण कर लेती है। इससे स्थायी ग्रन्थि का निर्माण हो जाता है। ये ग्रन्थियां पीड़ा की अनुभूति से रंगे हुए विचारों के समुच्चय हैं। इस प्रकार फ्रायड के अनुसार अचेतन मन की सबसे प्रबल वासना काम वासना है। काम वासना सम्बन्धी भावनाओं पर सामाजिक नियन्त्रण रहता है।

एडलर ने इससे भिन्न अपना विचार प्रकट किया। उनके अनुसार प्रभुत्व-कामना या आत्माभिव्यक्ति ही मनुष्य की प्रबल आकांक्षा होती है। मानव जन्म लेने के कुछ समय पश्चात् ही अपनी हीनता या असहायावस्था की अनुभूति से पीड़ित होने लगता है। वह अज्ञात रूप से अपनी हीनता और विवशता से मुक्ति पाने के लिए प्रयास करना प्रारम्भ कर देता है। जाने-अनजाने प्रत्येक व्यक्ति दूसरे पर विजय प्राप्त कर उस पर अपनी महत्ता प्रतिपादित करने का प्रयास करता है। इसमें महत्वाकांक्षाए होती है, सबसे ऊंचा बनने का स्वप्न होता है, उसे ही साकारता प्रदान करने का वह प्रयत्न करता है। अपने व्यक्तित्व में न्यूनताओं को छिपाकर अपनी विशेषताओं को अधिकाधिक विकसित कर वह समाज मे दूसरो की श्रद्धा का पात्र बनना चाहता है। प्राय. पढने-लिखने मे कमज़ोर विद्यार्थी सफल खिलाड़ी बन जाते हैं, इसका कारण यही है कि विद्यार्थी की मन स्थिति में शिक्षा के प्रति कोई रुचि नहीं है, और अपनी असफलताओं से भी वह अनभिज्ञ नहीं रहता। अतः वह अपने खेलने की कला का अधिकाधिक विकास कर अपनी शिक्षा की कमी को पूर्ण कर मानसिक तुष्टि प्राप्त करता है। यही पौरुष विरोध (Masculine Protest) है, जिससे मानव जीवन संचालित होता है। वास्तव में मानव अपनी कमियों को छिपाकर अपनी विशेषताओं में वृद्धि कर दूसरों को प्रभावित करने का जो प्रयत्न करता रहता है, उसी में जीवन की गति भी सन्निहित होती है, और मानव जीवन के संचालन का सूत्र उन्ही के हाथो रहता है। मनुष्य अपने अन्दर एक जीवन शैली का निर्माण कर लेता है, और उसी के अनुरूप जीवन को गतिशील करने का प्रयास करता है। फ्रायड ने मानसिक विकृतियों की पृष्ठभूमि मे दमित-शमित काम-वासनाओं की क्रियाशीलता स्वीकृत की थी। उनके अनुसार मानसिक सतुलन इसलिए विनष्ट हो जाता है, क्योंकि दमित-शमित काम भावनाएं अचेतन से मुक्त हो चेतन के साम्राज्य में घोर-अराजकता और प्रबल अशान्ति की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। किन्तु एडलर ने उसे स्वीकृत नहीं किया। मानसिक विकृतियों का कारण, उसके अनुसार यह है, कि अपने को अत्यन्त श्रेष्ठ और सबकी श्रद्धा का पात्र बनाने की जिस जीवन शैली का निर्माण मनुष्य के अन्दर हुआ है, उसमे सामाजिक और वैयक्तिक आदर्शों का सामंजस्य सम्भव नहीं हो सकता। उस जीवन शैली का निर्माण सभी में होता है, क्योंकि सभी हीनता की भावना (Inferiority Complex) से पीड़ित होते है।

युग ने समाज प्रेम की भावना पर अपना अधिक ध्यान केन्द्रित किया है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में अपने प्रभुत्व, आत्मपर व्यक्तित्व, और दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता का भाव जमाने की प्रबल आकांक्षा होती है, उसी भाँति समाज के साथ ऐक्य स्थापित करके समाज के साथ अपने आदर्श सम्बन्ध बनाने की इच्छा भी वर्तमान रहती है। युग ने मानव को दो वर्गों में विभाजित किया है—बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी व्यक्ति में सामाजिक वृत्तियाँ, दूसरों से निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने की भावना प्रबल रहती है। इसके विपरीत अन्तर्मुखी व्यक्ति में सामाजिक भावनाओं की न्यूनता होती है। वह अपने को अपने तक ही सीमित रखता है।

इसी समय गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान भी अधिक प्रचलित हुआ। उसके अनुसार अनुभव या व्यवहार का प्रत्येक रूप एक अपूर्व समष्टि (Unity) है, जिसका तत्त्वों में विश्लेषण नहीं हो सकता। इसने संगठित समष्टियों (Organized wholes) पर बल दिया। मानव तन एक गेस्टाल्ट है, वह भागों या अवयवों का योग मात्र ही नहीं है। हम किसी वस्तु को एक समष्टि या इकाई के रूप में ही देखते हैं, हम उसे भागों के समूह के रूप में नहीं देखते। प्रत्यक्ष का विषय सदैव एक समष्टि, एक गेस्टाल्ट होता है। प्रत्यक्ष में आकृति और पृष्ठभूमि में अन्तर है। पृष्ठभूमि में आकृति का प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रकार ध्वनि आकृति होती है, नभ पृष्ठभूमि। पृष्ठभूमि की सीमा अनन्त होती है जो आकृति की अपेक्षा महत्वहीन होती है क्योंकि आकृति अधिक ध्यान आकर्षित करती है।

मनोविज्ञान की इन नवीन विचारधाराओं ने हिन्दी उपन्यासकारों को एक नवीन दृष्टि दी और उनमें एक नवीन नारी भावना का जन्म हुआ। अभी तक उनकी नायिकाओं की कल्पना का स्रोत परम्परागत रूपों में अथवा समाज की समस्याओं में निहित था पर अब उपन्यासकारों ने इन पश्चिमी विचारकों को अपना आदर्श बनाया और नायिका की परिकल्पना का सम्बन्ध मनोविज्ञान के इन नवीन सिद्धान्तों से सूत्रबद्ध किया। उन्होंने अब केवल नायिका के बाह्य क्रिया-कलापों अथवा मात्र गौरवपूर्ण परम्पराओं को ही चित्रण का उद्देश्य नहीं बनाया वरन् अब नायिकाओं की मनःस्थिति और उनके अन्तरमन की भावनाओं का अध्ययन कर उनके चरित्रों को स्पष्ट करने का प्रयास किया। फ्रायड ने नारियों में सेक्स ईर्ष्या के परिणामस्वरूप ईर्ष्या द्वेष तथा सामाजिक अन्याय की प्रवृत्ति पाई थी। उनमें पुरुषों से अधिक आत्मसंयम होता है तथा उनमें सांस्कृतिक कार्यों को करने के प्रति उत्साह नहीं होता, एवं उनके उदात्तीकरण में वे असमर्थ रहती हैं। नारी परिवार में लैंगिक जीवन से सम्बन्धित हितों का प्रतिनिधित्व करती है। सभ्यता के विकास का उत्तरदायित्व पुरुषों पर ही होता है। वह नारी की अधिकार सीमा के बाहर होता है। इससे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, तथा नैसर्गिक प्रवृत्तियों के

उदात्तीकरण की नितान्त आवश्यकता होती है, जिसे कार्यान्वित करने में नारियाँ असमर्थ रहती हैं, और पुरुष प्रयास द्वारा उसे सम्भव कर दिखाता है। सभ्यता के विकास का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, इसीलिए पुरुष उसे सम्पादित करता है, क्योंकि उसमें प्रखर चेतनाशक्ति होती है और सारे महत्वपूर्ण कार्य वही करता है, नारियाँ उसे नहीं कर सकती। अतः सभ्यता के विकास में पुरुषों की अपेक्षा अपने को उपेक्षणीय पाकर उसके प्रति उसमें ईर्ष्या और द्वेष की भावना व्युत्पन्न होती है।[1] वास्तव में मनोविश्लेषण की सहायता से मनुष्य अपने को और भी भली-भाँति समझने और स्वयं अपना अध्ययन करने की लालसा प्रकट करता है,[2] और इसी के आधार पर जब नारियों ने अपने मन में पुरुषों की अपेक्षा हीनता के भाव (Inferiority Complex) को जन्म लेते देखा, तो उनके मन में सभ्यता के अधिकारों के प्रति ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होता है। नारी के आकर्षण का सर्वप्रमुख केन्द्र उसका परिवार और कामभावना ही है। फ्रायड ने यौन इच्छाओं को स्वाभाविक और अनिवार्य बताया था, और जीवन के विकास में उसकी सापेक्षता प्रमाणित की थी। उसके विचार से काम वासना के आधार पर निर्मित पाप-पुण्य, नीति-अनीति आदि की मान्यताएं असत्य एवं भ्रमोत्पादक हैं। काम भावना जीवन की अनिवार्यता है, जिससे मानव विशेषतया नारी विमुख नहीं रह सकती। अतः फ्रायड

---

१. "Women represent the interests of the family and sexual life; the work of civilization has become more and more men's business; it confronts them with ever harder tasks, compels them to sublimations of instincts which women are not easily to achieve Since man has not an unlimited amount of mental energy at his disposal, he must accomplish his tasks by distributing his libido to the best advantage What he employs for cultural purposes he withdraws to a great extent from women and his sexual life; his constant association with men and his dependance on his relations with them even strange him from his duties as husband and father. Woman finds herself thus forced into the background by the claims of culture and she adopts and inimical attitude towards it"

सिगमंड फ्रायड . सिविलिजेशन एंड इट्स डिस्कंटेंट्स, (होगर्थ प्रेस, लन्दन, १९३९) पृ० ७३।

२. "Our civilization is brought into the clinic for psychoanalysis with the patients' hope of emerging with a better understanding of himself The conflict is between the life of impulse and the life of reason."

फ्रायड : हिज होम एन्ड नेक्स्ट्स व्यूरोज, (मार्च, १९५९), न्यूयार्क, पृ० १३१।

के विचारों के परिणाम स्वरूप सामाजिक बन्धन उत्तरोत्तर शिथिल होते गये और काम भावनाओं की गोपनीयता समाप्त होकर उनकी स्पष्टता सिद्ध होती गई। लुडोविची ने नारी की इस मूल प्रेरणा शक्ति (Primus Mobile) पर बल देते हुए बताया है कि इसके परिणाम-स्वरूप नारी में जीवन के संरक्षण और पोषण के तत्व प्रधान हो जाते हैं जिससे जीवन में गतिशीलता का भाव उत्पन्न होता है, और उसका विकास होता है।[1] नारी के अन्य कार्यों की अपेक्षा इन दो कार्यों का महत्व अधिक होता है। फ्रायड के अनुसार नारी के स्वभाव में अनेक तत्व प्रमुख होते हैं। जैसे कोमलता, स्वभावगत तृष्णा, सामाजिक चेतना और न्याय की न्यूनता, साधारणतया दुर्बल नैतिक भाव, हीनतापूर्ण सामर्थ्य, उदात्तीकरण (Sublimation) के प्रति सीमित दृष्टिकोण (विशेषतया सांस्कृतिक तत्वों के प्रति), मनोवैज्ञानिक विकास का प्रारम्भिक नियन्त्रण परिवार और वासनात्मक जीवन के रूप में सभ्यता के प्रति विनाशपूर्ण दृष्टि अति लज्जाशीलता तथा गर्व की भावना आदि इस प्रकार का रूप प्रदान करता है कि उसका चरित्र एक विचित्र प्रकार की प्रवृत्तियों का समन्वय सा बन जाता। मनोविश्लेषणात्मक प्रक्रिया के माध्यम से यह बात प्रायः निश्चित सी है, कि प्रत्येक नारियाँ इस बात का अनुभव करती हैं कि बाल्यावस्था में उनकी भावनाओं को आघात पहुँचा है, और अपने किसी भी दोष के न होने के बावजूद भी वे अपने स्वाभाविक विकास से वंचित रह गई हैं। अधिकांश लड़कियाँ को अपनी माँ से मात्र इसी के कारण घृणा हो जाती है कि उन्हें इस सृष्टि में लड़के के बजाय लड़की के रूप में उन्होंने क्यों जन्मा है। आयु-वृद्धि के साथ नारी में वासनात्मक जीवन (Sexual Life) के प्रति अभिरुचि भी वृद्धि प्राप्त करती जाती है, विशेष रूप से जब वह एक बच्चे की माँ हो जाती है। समाज में नारी की निम्नावस्था से नारी में हीनता की ग्रंथि (Inferiority Complex) उत्पन्न हो जाती है। यह उन सारी विषमताओं तथा बाधाओं की प्रतीक है, जो हमारी प्रगति तथा सामाजिक सफलता को अवरुद्ध करती हैं। लज्जाशीलता जिसे नारियों का सर्वाधिक प्रधान गुण माना जाता है, सभ्य मान्यताओं में उसकी नवीन व्याख्या इस प्रकार की गई है कि नारियों में लज्जाशीलता का यह गुण केवल इसीलिए होता है, जिससे वह अपनी कमियों और दोषों को छिपा सके।[2] वास्तव में मनोविश्लेषण सिद्धान्त के अन्दर यह स्वीकृत किया गया कि लड़कियाँ अपनी बाल्यावस्था में अपने अन्य भाइयों तथा पिता को देखकर यह निष्कर्ष निकालती हैं कि उनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो उनमें नहीं हैं। इसका उनकी चेतना शक्ति पर गहन प्रभाव पड़ता है, जो उनके स्वाभाविक विकास, चारित्रिक निर्माण की प्रक्रिया पर अमिट प्रभाव छोड़ जाता है, तथा अधिकांश रूप से बिना

१ ए० एम० लुडोविची वूमन ए विंडिकेशन, पृष्ठ ३०३।
२ सिगमंड फ्रायड द साइकोलॉजी ऑफ वीमेन, (१६३३) लन्दन, पृ० १७०।

अत्यधिक मात्रा मे मानसिक शक्ति व्यय किए उन्हे नियत्रित नही किया जा सकता।[1] इससे पुरुषो के प्रति उनके मन में जो स्थायी द्वेष का भाव उत्पन्न हो जाता है, उसका नारियों की चेतना पर गहरा प्रभाव पड़ता है, तथा बाद मे और भी अधिक द्वेष तथा ईर्ष्या उनके मानसिक जीवन मे उत्पन्न होती है, जिनमे न्यायपूर्ण भावना की न्यूनता ही उत्तरदायी होती है। उनके जीवन मे वासना के आधिक्य के प्रति कहा गया, कि वस्तुत. वही उनका जीवन है, और उनकी जीवन प्रक्रियाओं का एकमात्र उद्देश्य वासना तृप्ति ही रहता है। पर बाद मे इस धारणा मे परिवर्तन हुआ और यह विचार प्रकट किया जाने लगा कि वस्तुतः नारी सर्वप्रथम अपने को व्यक्तिगत रूप मे ही देखती है, वासना परक भावनाओं की पूर्ति की दिशा मे साधन मात्र नही।[2] अतः वासना के आधिक्य को वैज्ञानिक ढग से सोचा जाना चाहिए। यहाँ तक कहा गया कि नारियो मे क्षीण स्मृति होती है, तथा वह अपने अतीत के प्रति कभी दुखी नही होती, उसे खेद नही होता। जीवन के स्थायी मूल्यों के प्रति उसकी कोई रुचि नही होती। बस उसके जीवन मे वासना की प्रधानता तथा पुरुषो के प्रति द्वेष की भावना होती है। छोटी लडकी का अपने पिता के प्रति, अधिक आयु की स्त्री का अपने पुत्र के प्रति आकर्षण, एक पुत्र के जन्म होने पर माँ की सन्तुष्टि इसी द्वेष की भावना की अभिव्यक्ति करती है, जो अपनी हीनता की ग्रथि को दूर करने तथा द्वेष के परिणाम होते है। वास्तव मे नारी अपनी हीनता की ग्रथि का निराकरण कर अपने को उच्चता की भावना से ओत-प्रोत करना चाहती है।

हिन्दी उपन्यासकारो ने इन्ही विशेषताओ को उपस्थित करने के लिए नायिकाओ की परिकल्पना की। नारी के अभी तक जो परम्परागत प्रतिमान थे, उनमे इन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रक्रियाओ ने परिवर्तन उपस्थित कर दिया और जिस नवीन नारी मनोविज्ञान का इसके परिणामस्वरूप जन्म हुआ, वह नायिका की परिकल्पना का स्रोत बन गया। अब नारी के आदर्श पत्नी रूप, माँ या भगिनी रूप अथवा विधवा एव वेश्या रूप के चित्रण के प्रति उपन्यासकारों की विशेष रुचि न

१. वही, पृष्ठ १६०।

२. "Unpleasant as the reminder of this connection may be to the emancipated woman, who think of herself first of all as an individual and not as an object of merely or mainly sexual interest, the fact must not be over looked that the scientific interest in the personality of woman developed alongside the scientific interest in sex. Only when sex ceased to be considered a sin could woman be regarded as a human being and not as either a "temptress" or as the incorporation of a necessary evil."

—वायला क्लीन : द फैमिनिन करैक्टर, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ ८६।

रही। उन्होंने नारी के चरित्र की आंतरिक वृत्तियों का उद्घाटन कर उनके मनोविज्ञान की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया और उसमें यथार्थ का रंग भरने का भी प्रयास किया। नारी का मात्र आदर्शवादी रूप नायिकाओं के रूप में अब प्रकाशित नहीं होने लगा वरन् उसके स्थान पर नारी का जो यथार्थ रूप था, नवीन चेतना के आधीन उसका जो मनोवैज्ञानिक स्वरूप था तथा उसकी ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, प्रेम तथा वासना का स्पष्ट चित्रण होने लगा और एक प्रकार से नैतिकता और अनैतिकता का संकोच उपन्यासकारों में समाप्त सा होने लगा। इसका कारण स्पष्ट था। फ्रायड ने जिस वासना की प्रधानता व्यक्तियों में प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध की थी, उसके प्रति आधुनिक उपन्यासकार विशेष रूप से प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यासकार) अत्यधिक आस्थावान् हो गया था और परम्पराओं के प्रति उसका मोह समाप्त हो गया था। इसी प्रसंग में एक बात और भी उल्लेखनीय है, कि इस परिवर्तन में केवल मात्र फ्रायड अथवा उसके सहयोगियों का ही प्रभाव नहीं पड़ा, अपितु स्वयं भारतीय समाज में नारियों की परिवर्तित परिस्थितियों का भी मुख्य हाथ था। समाज में नैतिक तथा सांस्कृतिक मर्यादाएं खण्डित हो रही थी तथा पश्चिम के प्रभाव से एक विचित्र-सी उच्छृंखलता, नग्नता प्रदर्शन, कामोत्तेजक हाव भावों के प्रदर्शन, चित्रपट का प्रसार एवं लोकप्रियता तथा दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली के कारण नारियों का गलत दिशा में प्रमाण आदि ने नायिका की परिकल्पना के सम्बन्ध में नई मान्यताएं स्थापित की। इन्हें निम्नवर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) आत्मपीडन सहन करने का भाव,

(ख) विद्रोह का भाव,

(ग) अतीव वासनात्मक।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना की गई, जिसमें एक के पश्चात् एक ठोकर सहने से एक विचित्र सी तटस्थता का भाव आ जाता है, और जो आत्मपीडन में ही अपना जीवन व्यतीत करती हैं। न उनमें विद्रोह का भाव रहता है और न ऐसे भावों को वह उत्पन्न होने देती है। अपनी पीडा, अपनी कुण्ठाओं, तथा व्यथा को चुपचाप पीते रहने में ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझती है। इस वर्ग में परम्परागत नारी रूपों का पूर्ण तिरस्कार नहीं हो पाया था, अपितु नायिकाओं की परिकल्पना पर परम्परागत तथा नवीन नारी मनोविज्ञान का साथ ही प्रभाव पड़ा था और एक प्रकार से उनमें दोनों का विचित्र प्रकार का सामंजस्य उपस्थित हो गया था। जैनेन्द्रकुमार के "त्यागपत्र" में मृणाल इसी प्रकार की नायिका है जो आत्मपीडन में ही अपना विश्वास प्रकट करती है। एक के पश्चात् एक व्यथा को सहन करने के पश्चात् भी वह अपने मन में विद्रोह भाव को पनपने नहीं देती। वह इस समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती, क्योंकि यदि वह टूट गया तो उसे आशंका है कि वह किसकी सीमा के अन्तर्गत टूटगी, बनगी। वह पति का घर

छोडती है, कोयले वाले के यहाँ आश्रय ग्रहण करती है, फिर प्रमोद के लाख समझाने के बावजूद भी वह वहाँ से नही जाती, उसे नियति का विधान मान स्वीकार कर लेती है और कोयले वाले के यहा वह गर्भवती होना अधिक श्रेयस्कर समझती है। प्रेमचन्द काल मे या उसके पूर्व इस स्थिति की कल्पना भी नही की जा सकती थी। इसके विपरीत दूसरे वर्ग मे नारियों की परम्परा के प्रति स्पष्ट विद्रोह की भावना प्राप्त होती है। उनमें वासना के बन्धन भी कुछ मात्रा तक शिथिल हैं, तथा उनमे अनैतिकता अथवा नैतिकता के प्रति संकोच की भावना भी शून्य है। यशपाल के उपन्यास "दादा कामरेड" की नायिका शैला मे परम्परा के प्रति जरा भी मोह नही है। वह अपने प्रेमी के समक्ष पूर्ण रूप से नग्न हो जाती है क्योकि वह मौत के मुँह मे पड़ा हुआ है, और उसकी बात किस प्रकार टाली जा सकती है। शैला के जीवन मे सब कुछ सेक्स ही है। वह महेन्द्र से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करती है, फिर हरीश से। वह राबर्ट्‌स की बाहों मे भी आ जाने से नही हिचकती क्योकि यशपाल की दृष्टि मे नारी-पुरुष मे स्वाभाविक आकर्षण होता है। शैला प्रेम के सम्मुख अपने कर्त्तव्य को प्रधानता नही देती, बल्कि ठुकरा देती है। हरीश के प्रति प्रेम और वफादारी को वह अपने पिता के प्रति कर्त्तव्य मे अधिक महत्वपूर्ण समझती है। यही नही अविवाहित जीवन मे गर्भ रह जाना कदाचित कल का समाज स्वीकार न करता, पर आज के समाज को उसे स्वीकार करना पड़ेगा, शैला इसके लिए समाज को विवश करेगी क्योकि वह गलत नहीं है। शैला अविवाहित होने पर भी गर्भवती हो जाने के पश्चात् कहती है "मेरा मार्ग साधारण प्रथा के मार्ग से अलग रहा है। जो कुछ भी मैंने किया, विचारों के भेद के कारण ही......मैं अपने किसी भी काम के लिए अपनी बुद्धि के सामने लज्जित नही हूँ। मुझे पछतावा भी नही है[1]।" इस प्रकार उन मान्यताओं का अब कोई स्थान नही रह गया जिसमें नारी केवल गृह की शोभा अथवा आदर्श पत्नी, माँ या भगिनी रूप में कल्पित की जाती थी। तीसरे वर्ग में नायिकाओं का अतीव वासनात्मक रूप प्रस्तुत किया गया। यह विश्वास किया गया कि नारियों मे पुरुषों की अपेक्षा वासना की प्रबल इच्छा होती है, और उनके सारे कार्य व्यापार केवल एक ही उद्देश्य के लिए होते हैं—वासना की पूर्ति के लिए। ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना करने वाले उपन्यासकार उच्छृंखलता, असंयमशीलता, भोगवादी तथा पाप पुण्य की सीमाओं के प्रति अत्यन्त असहिष्णु होते हैं, और वैयक्तिक जीवन की निराशाओं (Frustration) का प्रतिबिम्ब वासनात्मक नायिकाओं मे प्रतिबिम्बित होता है। उसका प्रबल यौनोत्पीड़न (Sex-obsession) वासना सम्बन्धी रहे सहे नियमों को शिथिल ही नही एक प्रकार से समाप्त कर देता है, और वह सेक्स सबधी

---

१. यशपाल - दादा कामरेड, (लखनऊ), पृष्ठ १७६।

स्वतन्त्रता की माँग करता है जिससे सभ्यता का पूर्ण विकास (या पतन ?) हो सके[१]। अत इन नवीन मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं में उपन्यासकारों को अपनी नायिकाओं का प्रबल एव आकर्षक स्रोत परिकल्पना के लिए प्राप्त हुआ।

---

१ द्वारिका प्रसाद कृत "घेरे के बाहर" इसी प्रकार का विचित्र उपन्यास १९४७ में प्रकाशित हुआ है, जिसमें काम शास्त्र की अच्छी खासी व्याख्या की गई है। जहाँ उपन्यासकार का दायित्व होता है कि वह ऐसे प्रसंगों को सकेतो से चित्रित करे, वहाँ लेखक ने इस उपन्यास में इसका 'रसमय' चित्रण किया है जो साहित्य के लिए अवाछनीय है और अश्लीलता की सीमा पार कर गया है।

अध्याय ४

नायिकाओं का वर्गीकरण

नायिकाओं का वर्गीकरण करने के पूर्व यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि यहाँ नायिकाओं का वही अर्थ ग्रहण किया है, जो अंग्रेजी भाषा में (Heroine) का है। यह बात पीछे भी स्पष्ट की जा चुकी है[1] कि नायिकाओं को ही फलागम की अवस्था प्राप्त होती है। इस शोध-प्रबन्ध में उन्हीं नारी पात्रों को नायिका माना गया है, जिनके हाथ में कथानक के सूत्र रहते हैं, और जो उसकी अंतिम परिणति की अवस्था से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध रहती हैं। यों साधारण रूप में नायक की पत्नी को भी नायिका की संज्ञा दी जाती है, भले ही उसका कथानक में कोई प्रमुख स्थान न हो, और वह अंतिम परिणति की अवस्था भी प्राप्त न करे। उदाहरणार्थ प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास "गोदान" में नायक होरी है, अतः उसकी पत्नी धनिया ही नायिका हो सकती है। पर उपन्यास के कथानक से स्पष्ट है कि धनिया के हाथों में कथानक के सम्पूर्ण सूत्र नहीं हैं, और न वह अंतिम परिणति की अवस्था ही प्राप्त करती है। यद्यपि धनिया को नायिका का स्थान प्रदान किया जाता रहा है, पर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में ऐसी नायिकाओं पर विचार नहीं किया गया है। नायिका का जो अर्थ यहाँ ग्रहण किया गया है, उसके उदाहरण-स्वरूप यशपाल की दिव्या भगवती चरण वर्मा की चित्रलेखा तथा जैनेन्द्र की कल्याणी आदि बताई जा सकती हैं। ये कथानक के प्रत्येक मोड़ पर उपस्थित होती हैं, उसे नवीन दिशाएं प्रदान करती हैं, और फलागम की स्थिति भी उन्हें ही प्राप्त होती है।

नायिकाओं के वर्गीकरण का आधार

नायिकाओं का वर्गीकरण करते समय सर्वाधिक प्रमुख प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार के वर्गीकरण के आधार कौन-कौन हैं? पिछले अध्याय में नायिकाओं के दो मोटे वर्ग किए गए हैं, यथा वासनात्मक तथा अवासनात्मक। नायिकाओं के वर्गीकरण का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार है। अवासनात्मक वर्ग के अंतर्गत नारी के मां, बहन आदि रूप तथा वासनात्मक वर्ग के अंतर्गत प्रेमिकाएं, वेश्याएं, नर्तकियां, विवाहिताएं आदि रूप रखे जा सकते हैं। अभी तक नायिका का ऐसा रूप, जो अवासनात्मक वर्ग के अंतर्गत रखा जा सके, नहीं देखने में आया। माँ, बहन

१. देखिए, अध्याय २

आदि रूप में नायिकाओं की कल्पना हिन्दी उपन्यासों में अभी तक नहीं की गई है। यद्यपि यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि भारतीय जीवन में भी माँ, बहन की आर्थिक महत्ता होते हुए भी उन्हें उपन्यासों में नायिकाओं का स्थान नहीं प्राप्त हो सका। इसका सर्वाधिक प्रमुख कारण यह था कि पारिवारिक जीवन में तो उन्हें महत्व प्राप्त था पर सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से वे प्रायः उपेक्षणीय ही रहीं और जब नारियों को उनके अधिकार कुछ सीमा तक प्राप्त हो भी गए तो भी नारी का अवासनात्मक रूप सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में अधिक प्रमुख न हो सका।

नायिकाओं की जिन विशेषताओं का ऊपर उल्लेख किया गया है उनके अनुसार यदि हिन्दी उपन्यासों का अध्ययन किया जाए तो बहुत कम ऐसे उपन्यास होंगे, जिनमें नायिकाओं की परिकल्पना परिभाषित रूप में की गई है। उपन्यासों में प्रमुख नारी पात्रों का बाहुल्य होता है[1] पर सही अर्थों में नायिकाओं की कल्पना कम ही की गई है। इसके भी वस्तुतः अनेक कारण हैं।

सर्वाधिक प्रमुख कारण तो यह है कि नारियों को काफी समय तक उनके सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। समाज में उनकी स्थिति अधिक सम्मानजनक न थी, और उनके जीवन की सार्थकता केवल इतनी ही समझी जाती थी कि वे पुरुषों की वासना की पूर्ति में साधन मात्र हैं। समाज के संचालन का सारा सूत्र पुरुषों के ही हाथों में था और वे ही समाज के विधायक थे। समाज की सारी गतिविधियों का नेतृत्व पुरुष ही कर रहे थे और वे नहीं चाहते थे कि उनके अपने अधिकारों का हनन हो, और नारियाँ उनकी समकक्षता प्राप्त कर लें। पुरुष-वर्ग इस सम्बन्ध में उदारवादी नीति अपनाने को तत्पर न था और इसीलिए उसका प्रयत्न यही होता था कि नारियाँ सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में अधिक महत्वपूर्ण स्थान न प्राप्त कर सकें। पिछले अध्यायों में हम देख आए हैं कि किस प्रकार धीरे धीरे नारियों की स्थिति में परिवर्तन हुआ और हमारे सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में वे बराबर की भागीदार बन गईं। पर यह सत्य है कि आलोच्य-काल में नारियों की वह स्थिति न थी जो १९४७ ई० में स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् नवीन परिस्थितियों में निर्मित हुई। नारियों की इसी उपेक्षणीय स्थिति के कारण प्रारम्भ में बहुत कम ऐसे उपन्यास देखने को मिलते हैं जिनमें नायिकाओं की सही ढंग से कल्पना की गई हो, क्योंकि उपन्यास में मानव जीवन का ही चित्रण प्रमुख रूप में होता है और उस काल में मानव-जीवन में नारियों की स्थिति विशेष उन्नतिशील न थी। चूँकि नायिकाओं के हाथों में नायक की ही भाँति कथानक के संचालन का सूत्र होता है इसीलिए अधिक संख्या में नायिकाएँ प्रारम्भ में दृष्टिगोचर नहीं होतीं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रारम्भिक काल में नायिकाओं

1 विशेष विवरण के लिए देखिए अध्याय आठ।

की परिकल्पना हुई ही नहीं है। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने अनेक उपन्यासों की रचना कर हिन्दी साहित्य के इस अंग की पुष्टि करना और राष्ट्र-प्रेम का प्रचार और प्रचलित सामाजिक कुरीतियों का मूलोच्छेदन करना आरम्भ कर दिया था।[1] उन्होंने भी नायिकाओं की सही ढंग से कल्पना अपने उपन्यासों में नहीं की है। नायिकाओं का महत्व भारतेन्दु की भाँति अन्य उपन्यास-लेखकों के लिए भी उतना ही था, जिससे उनकी सुधारवादी प्रवृत्तियों का अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से चित्रण किया जा सके। उदाहरणार्थ, किशोरी गोस्वामी के "त्रिवेणी" (१८८८) की नायिका तेरह वर्षीया त्रिवेणी है। उपन्यास में वह कुछ ही स्थलों पर आती है। उसका प्रारम्भ में मनोहरदास वैश्य से विवाह हो जाता है, और अंत में उसे अपने पति से कुम्भ के अवसर पर मिलते भर दिखाया गया है। "स्वर्गीय कुसुम" में भी कुसुम-कुमारी नायिका की परिकल्पना की गई है। पर यह स्पष्ट है कि इन उपन्यासों में नायिकाओं की परिकल्पना का वह उद्देश्य न था जो भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्र-लेखा", यशपाल कृत "दिव्या" या जैनेन्द्र कृत "कल्याणी" आदि उपन्यासों में दृष्टि-गोचर होता है। इस प्रारम्भिक युग में सास-बहू, देवरानी-जिठानी, भाई-भाई के झगड़े घर-घर में फैल रहे थे, और उन्होंने समाज की एक प्रमुख समस्या का रूप धारण कर लिया था। तत्कालीन उपन्यासकारों को इन परिस्थितियों ने विशेष रूप से प्रभावित किया और वे ऐसी नायिकाओं की कल्पना विशेष रूप में करने लगे। अधिकांश उपन्यासों में नायिकाएं पढ़ी लिखी होती थी, जो रूढ़िवादी परम्पराओं में विश्वास रखने वाले परिवार में बहू बन कर आती थी, जहाँ उनका सरलता से सामंजस्य नहीं हो पाता था। उपन्यासकार इसी सन्दर्भ में नायिकाओं की परिकल्पना कर झगड़ों और सामाजिक कुरीतियों का मनोरंजक वर्णन करते थे। नायिकाओं का महत्व उनके लिए मात्र इतना ही होता था, इससे अधिक उसका सूक्ष्म चित्रण कर एवं उनके चरित्र का पूर्ण विकास प्रदर्शित करने का उनका कोई लक्ष्य नहीं होता था उनके सम्मुख उस सम्बन्ध में कोई आदर्श न था, और न तब उपन्यास कला का पूर्ण विकास ही हो पाया था। जिससे उपन्यासकार सारे तथ्यों का कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर पाते। वे तो भावी दिशा के स्वयं ही निर्माता थे। उनका यह उद्देश्य था कि वे उपन्यास साहित्य को अधिक लोकप्रिय बना सकें। पिछले अध्याय में हम यह भी कह आए हैं कि नायिकाओं की परिकल्पना पर समाज की स्थिति का भी यथेष्ट मात्रा में प्रभाव पड़ता है। यदि समाज में नारियों की स्थिति सम्मानजनक एवं प्रगतिशील हुई, उनके सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार उन्हें प्राप्त होंगे, तथा वे पुरुष के बराबर की भागीदार होंगी तो उपन्यासों में भी उन्हें नायिकाओं के रूप में वही स्थान प्राप्त होगा। पर यदि दुर्भाग्यवश ऐसा न हुआ, तो स्थिति उसके

१. डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य, (१९४८), इलाहाबाद पृष्ठ २०३।

विपरीत ही होगी, तथा उपन्यासों की नायिकाओं के रूप में उन्हें अधिक महत्व न प्राप्त हो सकेगा। वास्तव में आलोच्य काल में यही हुआ।

उपन्यासों में नायिकाओं की अधिक संख्या न मिलने का एक अन्य कारण यह भी था कि आलोच्य काल में उपन्यास लेखिकाओं का पूर्णतया अभाव दृष्टिगोचर होता है। पूरे आलोच्य काल में एक भी ऐसी प्रमुख उपन्यास लेखिका नहीं है, जिसने नारी जीवन की समस्याओं और उसकी वास्तविक स्थिति का नारी-दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने की चेष्टा की हो। उपन्यास साहित्य में साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति पुरुषों का ही आधिपत्य रहा और वे अपने ही दृष्टिकोण से नायिकाओं की कल्पना करते रहे। चूँकि प्रारम्भिक काल में नारियों की स्थिति सन्तोषप्रद न थी, इसीलिए उन्होंने अनेक नारी पात्रों की अवतारणा तो की पर ऐसे कम ही नारी पात्रों का चित्रण कर सके जो नायिका का स्थान प्राप्त करने में सफल हो पाती क्योंकि वे पुरुष लेखक अपनी जातीय भावना की सबलता के कारण अपने आगे नारियों की महत्ता स्वीकार करने को कदाचित् तत्पर नहीं थे।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द का आगमन एक महत्वपूर्ण घटना थी। उनके आगमन के समय भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थिति में अनेक परिवर्तन लक्षित होने लगे थे। नारियों में स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने, उच्च शिक्षा प्राप्त करने और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने की भावना का पूर्ण विकास हो रहा था जिससे नारियों में नवीन चेतना और सतत जागरूकता उत्पन्न हो गई थी। इस नवीन परिस्थिति ने उपन्यासकारों को एक नवीन दृष्टि दी, और विशेष रूप से प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में समूचे युग को समेट लिया। उन्होंने अपनी नायिकाओं का निर्वाचन इस प्रकार किया कि उनके माध्यम से तत्कालीन नारी समाज और उसकी भावनाओं का पूर्ण स्वाभाविक चित्रण हो सके। उन्होंने ही नहीं, उनकी देखा-देखी उनके समकालीन अनेक उपन्यासकारों ने नायिकाओं के माध्यम से नारियों के विभिन्न स्वरूप प्रस्तुत किए। इस युग में नायिकाओं के इसीलिए अनेक विविध और पूर्ण चित्र प्राप्त होते हैं। इस युग में नायिकाओं का वह अभाव नहीं लक्षित होता है, जैसा कि प्रारम्भिक युग में था, और नारियों के जितने रूप सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में प्रमुख हो सके, उपन्यासों की नायिकाओं में उनका महत्वपूर्ण स्थान हो गया, और वे रूप चित्रित किये गये। आगे चलकर जैनेन्द्र कुमार के आगमन के साथ इस स्थिति में और भी परिवर्तन हुआ। "परख" के प्रकाशन से ही हिन्दी उपन्यास साहित्य में नवीन संकेत प्राप्त होने लगे थे, और कदाचित् प्रेमचन्द कुछ दिन और जीवित होते तो वे भी उन सर्वथा नवीन प्रवृत्तियों को आत्मसात् कर उपन्यासों की रचना करते, जैसा कि जैनेन्द्रकुमार आदि ने किया। इस नये दौर में पात्रों के अन्तरमन की भावनाओं के अध्ययन एवं उनके मनोविश्लेषण पर अधिक बल दिया जाने लगा। इसमें अधिकांश रूप में उन पात्रों के सम्बन्ध में, जिन्हें ऊपरी

सतह से ही जानने के कारण हम उच्च प्रवृत्तियों के एवं आदर्शपूर्ण समझते थे, इन लेखकों ने उनकी बाकायदा चीरफाड़ की, जिससे हमें उनके सम्बन्ध में कोई रहस्य अपरिचित नहीं रह गया। अभी तक अन्तर्मन की भावनाओं को स्पष्ट न करने के कारण नायिकाओं के चरित्र की अनेक बातें हमसे अज्ञात रहती थीं। हम केवल अनुमान भर ही कर सकते थे कि अमुक नायिका का इस नायक से प्रेम है तो वह अवश्य ही इस प्रेम का अन्त विवाह में ही चाहती होगी, पर यह हमारे अनुमान भर ही होते थे, और यह कोई आवश्यक नहीं, कि वे सत्य ही सिद्ध हों, वे गलत भी हो सकते थे। पर इस नवीन युग में जब लेखकों ने मनोविश्लेषण के माध्यम से नायिकाओं की परीक्षा की, तो हमें ज्ञात हुआ कि प्रेम का अन्त वे विवाह में चाहती हों, यह अनिवार्य शर्त नहीं है। वे किसी भयंकर प्रतिहिंसा के भाव से प्रेरित होकर किसी को नीचा दिखाने के लिए भी स्वांग रच सकती हैं, अपने सेक्स की भूख शान्त करने के लिए भी प्रेम का नाटक खेल सकती हैं। और नहीं तो, इस युग में प्रेम एक फैशन बन गया था, सब प्रेम करते हैं, तो नायिका भी अन्य फैशन करने की भाँति यह प्रेम का फैशन भी पूरा कर लेने के लिए ही किसी से प्रेम कर बैठती थी। अतः मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के नवीन सिद्धांतों ने नायिकाओं का ऐसा स्वरूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया, पिछले युग में हम जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। कदाचित् इसका कारण यही था कि पिछले दौर के लेखक आदर्शवादी भावना में अत्यधिक ओत-प्रोत थे, और वे नारी को सम्मान एवं श्रद्धापूर्ण भावना से देखने के सिवाय कोई अन्य बात सोच भी नहीं सकते थे।[1] पर नवीन युग में लेखकों ने आदर्शवाद का जबरदस्ती का यह चोला उतार फेंका, और प्रत्येक सत्य को मनोवैज्ञानिक परीक्षा एवं व्यवहारिकता की कसौटी पर मूल्यांकन करने लगे, जिससे पाठकों को किसी प्रकार का सन्देह न हो सके, और वे सहज ही उस पर विश्वास करने लगे।

इन्हीं परिस्थितियों ने इस युग में नायिकाओं की परिकल्पना को प्रभावित किया, और नायिकाओं के अनेक रूप प्रकाश में आने लगे तथा उनके विकसित रूप प्रस्तुत किये गये। इस दृष्टि से जैनेन्द्र की कट्टो मृणाल, कल्याणी, सुनीता, यशपाल की शैला, राजदुलारी दिव्या, इलाचन्द्र जोशी की लज्जा, मजरी, निरंजना आदि नायिकाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके रूप में हमें नारियों के ऐसे नवीन रूप प्राप्त हुए, जो कट्टरपंथी परम्परावादियों के लिए सर्वथा नवीन, और इसीलिये तीव्र विरोध के कारण थे। साथ ही उदारवादियों के लिये जो परम्पराओं के उतने पोषक न थे, भी एक नया अनुभव था। अब लेखकों के लिए समस्या को स्पर्श करना भर ही रुचिकर न था, वे अब नवीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में नायिकाओं का अध्ययन करना चाहते थे। इसीलिये नवीन नारी चरित्रों की रचना हुई। जैनेन्द्र ने ऐसी कुछ नायिकाओं की कल्पना की, जो विवाहित थीं, और जिनके प्रेमी भी थे। इस प्रकार

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिये : अध्याय आठ।

उन्होंने प्रेम और कर्तव्य के मध्य उन्हें रखकर उनकी परीक्षा की है, तथा उन्हें अपने कर्तव्य की ओर ईमानदारी से अग्रसर होते दिखाया है। कुछ ऐसी भी नायिकाओं की कल्पना की गई, जिनसे यह ज्ञात होता है कि जीवन के किसी क्षेत्र में पराजित होने एवं अपमानित होने पर केवल पुरुष ही प्रतिहिंसा की भावना से अभिभूत हो मरने मारने को तत्पर हो जाते, बल्कि नारियाँ भी उसी दिशा में आगे बढ़ने लगती हैं। इलाचन्द्र जोशी के "पर्दे की रानी" की नायिका निरंजना इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। अतः इस युग में नारियों का पूर्णतया परिवर्तित रूप ही हमारे सम्मुख प्राप्त होता है और लगभग सभी में अपने अहं भाव को गौरव देने की जबदस्त भावना वर्तमान है। वे अपने अहं भाव को पराजित होते नहीं देखना चाहती थीं। उनमें पूर्ण आधुनिकता की भावना थी पर साथ ही उन्होंने अपनी परम्पराओं का पूर्ण रूप से त्याग भी नहीं कर दिया था, वह किसी न किसी अंश में उनमें वर्तमान थीं। इसी नवीनता के साथ ही आगे चलकर कुछ उपन्यासकारों ने नारियों के अत्यन्त चरम रूप की कल्पना की, जो सर्वथा नवीन और हमारी अपनी भारतीय परम्पराओं के विपरीत था। इस दृष्टि से अंचल का उपन्यास "चढ़ती धूप" प्रमुख है।

नायिकाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में एक तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि हम समाज में नारियों को जिन रूपों में नित्य प्रति देखते हैं, नायिकाओं के भी प्रायः उतने ही रूप होते हैं। इस पर स्थानीयता का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। भारतीय जीवन में आलोच्य काल के अन्तर्गत नारियाँ सरकारी नौकरियों में अधिक संख्या में नहीं आई थीं, डाक्टरी और वकालत का पेशा भी उन्होंने अधिक अपनाया था। १९४७ ई० के पश्चात् तो यह साधारण सी बात हो गई, पर उसके पूर्व कुछ ही नारियाँ ऐसे पेशों में आई थीं, इसीलिए समाज में उनका यह रूप भी प्रचलित नहीं था, जो उपन्यासकारों को अत्यधिक मात्रा में अपनी ओर आकर्षित कर सकता और परिणाम स्वरूप वे ऐसी नायिकाओं की कल्पना कर सकते। यही कारण है कि आलोच्य-काल में ऐसी कम ही नायिकाएं मिलती हैं, जो सरकारी नौकरियों में टाई-पिस्ट या क्लर्क हों, अथवा डाक्टरी या वकालत के पेशे में हों, जबकि विदेशी उपन्यासों में इस प्रकार की नायिकाएं बहुत प्राप्त होती हैं। भारत में आलोच्य-काल में कोई भी ऐसा युद्ध नहीं हुआ जिसमें नारियाँ नर्सों के रूप में सेवाएं कर सकतीं। विदेशों में तो युद्ध एक साधारण सी बात थी, और इसीलिए नर्सों आदि के रूप में वहाँ नारियों की बड़ी आवश्यकता होती थी। और सच तो यह है कि युद्ध की अनिवार्य आवश्यकताएं भी थीं जिनमें नारियों ने अथक सेवा भाव प्रदर्शित कर अपने को सबकी श्रद्धा की पात्री बना लिया था और वे अब मृत्यु का द्वार नहीं, अपितु सम्मानपूर्ण समझी जाने लगी थीं।[1] इसका प्रभाव वहाँ के उपन्यासकारों पर भी अत्यधिक पड़ा था, और इसीलिए वहाँ उपन्यासों में ऐसी ही अनेक नायिकाओं की

१ वायना क्लीन फैमिनिन करेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृ० ३७।

कल्पना की गई। जबकि भारत मे नारियो का यह रूप प्रचलित नही हुआ, इसीलिये यहाँ वैसी नायिकाओ की कल्पना भी नही की गई। यह वास्तव में स्थानीय रगो के कारण ही होता है।

औपन्यासिक शिल्प मे प्रयोग की सम्भावनाए और उपलब्धियाँ भी वर्गीकरण के आधारो मे सम्मिलित की जा सकती है। किसी काल विशेष में, समाज मे अवतरित होने वाले जीवन का वास्तविक चित्रण ही यथार्थ होता है। मानव-जीवन का जो सत्य है, वही यथार्थ है और उसे बिना किसी सकोच प्रकट करना यथार्थवादी प्रक्रिया की सबसे बड़ी कला है। उपन्यासकार इसी कला को नये रूपो मे उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। टालस्टाय के कथनानुसार मानव प्राप्त की हुई अनुभूति को अपने शाश्वत मन से दूसरो को देने का प्रयास करता है, और यही इस कला की प्रक्रिया है[1]। उपन्यासकार इसी अनुभूति को उपन्यासो के माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए नये-नये प्रयोग करता रहता है, और परिवर्तनशीलता के इस युग मे[2] वह बराबर ऐसे औपन्यासिक पात्रो का सृजन करता है, जिनमे वह अपनी प्राप्त अनुभूतियों को नवीन अभिव्यक्ति प्रदान कर सके यहाँ प्रयोगो की उपयोगिता और अनुपयोगिता से हमारा तात्पर्य नही है। वह हमारा विषय भी नहीं है। हम तो केवल यह कहना चाहते है, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र तक आते-आते उपन्यासिक कला, जिसका सूत्रपात भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के अथक परिश्रम से हुआ था, का पूर्ण विकास हो चुका था, और उपन्यासकार अपनी अनुभूतियो को अभिव्यक्त करने के लिए नवीन मार्गों को अपनाने के लिए व्याकुल हो चुका था। इसीके परिणाम-स्वरूप अनेक नायिका-प्रधान उपन्यासों[3] की रचना की गई जिनमे नायिकाओ के अनेक विविध साथ ही विशद चित्र प्राप्त हुये और नारियों की मूलभूत विषमताओ का पूर्ण अध्ययन के साथ सूक्ष्म चित्रण प्रस्तुत किये गये। इन्ही उपन्यासो की नायि-

१. टॉलस्टायः व्हाट इज आर्ट, (ओ० यू० पी०), पृष्ठ ६।

२. "In an age of flux and transition when fresh tracts of experience are being annexed for literary treatment, when old modes of expression are being cast aside and new ones essayed, art of any kind must necessarily suffer voilence and are temporarily at a disadvantage"

—आर्थर कॉम्पटन रिकेट: ए हिस्ट्री ऑव इगलिश लिट्रेचर, (१६५०), पृ० ६५६।

३. जैनेन्द्रकुमार कृत "कल्याणी", "त्यागपत्र", यशपाल कृत ("दिव्या"), भगवती-चरण वर्मा कृत ("चित्रलेखा") आदि ऐसे ही उपन्यास है, जिनकी नायिकाएं क्रमशः कल्याणी, सुनीता, मृणाल, दिव्या और चित्रलेखा हैं, जो इस श्रेणी में आती हैं।

काओं ने आगे के उपन्यासकारों के लिए मार्ग प्रस्तुत किया और इन्हीं श्रेणी की नायिकाओं की कल्पना करने लगे ।

नायिकाओं की श्रेणियां

वर्गीकरण के इन आधारों के विवेचन के पश्चात् हम निष्कर्ष रूप में निम्नलिखित सूत्रों को एक स्थान पर एकत्रित कर सकते हैं—

१—वासनात्मक

२—अवासनात्मक

वासनात्मक के अन्तर्गत नारी के वेश्या, प्रेमिका नर्तकी, फैशनपरस्त, विलासिनी, विवाहिता आदि रूप रखे जा सकते हैं । इस वर्ग में नायिकाएं प्राप्त होती हैं । अवासनात्मक के अन्तर्गत नारी के माँ, बहन आदि रूप रखे जा सकते हैं । ऐसे उपन्यास अभी तक देखने में नहीं आये हैं, जिनमें नारी के अवासनात्मक रूपों को नायिका बनाया गया हो ।

इन दो प्रमुख आधारों के अतिरिक्त निम्नलिखित चार तथ्यों को भी उपन्यासों में नायिकाओं का वर्गीकरण करते समय ध्यान में रखना आवश्यक होता है—

१—समाज में नारी की स्थिति

२—उपन्यास लेखिकाओं की स्थिति

३—औपन्यासिक शिल्प में प्रयोग एवं उपलब्धियों की सम्भावनाएं

४—स्थानीयता

इन आधारों पर हम उपन्यासों की नायिकाओं की निम्न श्रेणियाँ बना सकते हैं—

१—सफल प्रेमिकाएं

२—असफल प्रेमिकाएं

३—सफल गृहस्थ नायिकाएं

४—असफल गृहस्थ नायिकाएं

५—फैशन परस्त विलासिनी नायिकाएं

६—विधवा नायिकाएं

७—वेश्याएं

८—नर्तकी नायिकाएं

९—राजनीति में भाग लेने वाली नायिकाएं

१०—वीरांगनाएं

११—कृषक बालाएं

१२—मजदूरिनें

१३—जासूस नायिकाएं

पर इस वर्गीकरण का अर्थ यह नही है कि इन श्रेणियो के अतिरिक्त नायिकाओ की अन्य श्रेणियाँ नही बनाई जा सकती। सत्य तो यह है कि हम अपने दैनिक जीवन मे सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र मे नारियो के जितने भी रूप देखते हैं, नायिकाओ की भी उतनी ही श्रेणियाँ हो सकती है। इस श्रेणी-विभाजन के सम्बन्ध मे विवाद की सम्भावनाए भी हो सकती हैं। जीवन मे नित्य नये होने वाले परिवर्तन और विश्वो की परिवर्तनशीलता के सन्दर्भ में यह कहना वास्तव मे कठिन ही नही एक प्रकार से असम्भव भी है कि नारियों के इन-इन रूपो के अतिरिक्त नारियो के अन्य रूप हो ही नही सकते, और उसी परिप्रेक्ष्य मे नयिकाओ के इन-इन रूपो के अतिरिक्त अन्य रूप नही हो सकते। वास्तव मे उपन्यासकार अपनी कल्पनाओ में यथार्थ के नवीन रग भर कर स्थानीयता के आधार पर नायिकाओ के नये-नये रूप उपन्यासो के माध्यम से प्रस्तुत करता है, जिनकी बराबर श्रेणियाँ बनती चलती हैं। नायिकाओ के रूपो को किसी परिवेश मे सीमित नही किया जा सकता है।

आगे के अध्यायो मे अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से नायिकाओ को तीन वर्गों मे विभाजित किया गया है। यथा—

१—प्रेमिकाए

२—गृहस्थ-नायिकाए

३—अन्य नायिकाए

प्रेमिकाओ के अन्तर्गत असफल और सफल दोनो प्रकार की नायिकाओ का अध्ययन किया गया है। जैसा कि आगे चलकर हम देखेंगे, हिन्दी उपन्यासों में सफल प्रेमिकाओं की संख्या कम है, और प्रेम मे असफल होने वाली नायिकाओ की संख्या अधिक है। इस पर विस्तार से आगे वर्णन किया गया है[1]। गृहस्थ नायिकाओ के अन्तर्गत भी दो प्रकार की नायिकाओ का अध्ययन किया गया है। एक तो वे, जो विवाहिता हैं, पति को ही अपने जीवन का एकमात्र आदर्श मानती हैं, और जिनके जीवन की अन्तिम परिणति पति में ही निहित होती है। दूसरे शब्दो में ऐसी नायिकाए जो अपने गृहस्थ जीवन में पूर्णतया सफल रहती हैं। दूसरे प्रकार की नायिकाए वे हैं, जो विवाहिता होने और गृहस्थी मे व्यस्त होने के बावजूद भी या तो दूसरे व्यक्तियो से प्रेम करती हैं, या पति से उनके सम्बन्ध अच्छे नहीं हैं, या उनकी प्रगतिशीलता उन्हें गृहस्थी में जमने नही देती। दूसरे शब्दों मे वे अपने गृहस्थ-जीवन मे असफल रहती हैं। अन्य नायिकाओं में विधवाएं, वेश्याएं, नर्तकी नायिकाएं, फैशन-परस्त विलासिनी नायिकाएं आदर्श नायिकाए, वीरांगनाएं तथा कृषक बालाएं आदि हैं।

———

१. देखिए: अध्याय ५।

अध्याय ५

प्रेमिकाएं

मानव-जीवन और प्रेम

प्रेम का मानव जीवन में प्रमुख स्थान होता है।[1] नारी पुरुष में स्वाभाविक रूप से प्रेम होता है। यह बात दूसरी है कि कोई अपने प्रेम में सफल होता है कोई असफल। यह बात भी निर्विवाद है, कि हम प्रेम का स्तर चाहे जितना उच्च रखने का प्रयत्न करें और उसे चाहे जितना आदर्शवादी बनाने का प्रयत्न क्यों न करें, प्रेम की अन्तिम परिणति प्राय विवाह में ही होती है—कम से कम इसकी लालसा सभी प्रेमियों में होती है। धीरे धीरे परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ और स्त्री पुरुष का प्रेम अब मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन का विषय बन गया है।[2] हाँ, भारतीय परम्परा में प्रेम की पवित्रता की रक्षा पर अधिक बल दिया गया है। भारतीय समाज प्रेम में किसी प्रकार की अश्लीलता अस्वीकृत करता है, और विवाह के पूर्व प्रेम में शारीरिक-सम्बन्ध अवैध तथा अनैतिक मानता है। पर प्रेम में पवित्रता की रक्षा कर पाना कठिन ही होता है और प्रेम के कारण प्रारम्भ होते ही प्रेमीजनों में शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता है। इसका कारण यह है कि एक ऐसी सामान्य धारणा उनमें होती है कि शारीरिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने से प्रेम अधिक प्रगाढ़ हो जाता है, उसमें स्थायित्व एवं सुदृढ़ता आ जाती है। इसीलिए उपन्यासों की नायिकाओं में भी

---

१ "Love is a feeling of attraction and a sense of self surrender arising out of a need and directed towards an object that offers hope of gratification."

भास्कर स्पीनर लव इन फिक्शन ऐंड इट्स इम्प्रेशन्स (प्रयाग), पृष्ठ ४८।

२ "There was a time and not so long ago, when the consideration of love as *an art found no place either in manuals of* psychology or of morals It was left to the poets who were quite content that it should be regarded as a rather illegitimate subject Today the situation is different To regard love as an art is commonly justified, and moralists themselves are not behind hand in maintaining that justification."

हैवलाक एलिस साइकालॉजी ऑव सेक्स, (१९३३), लन्दन, पृष्ठ २७९।

सामान्यत: यही बात पाई जाती है। नायक नायिका मे प्रेम का सूत्रपात होते ही उनमे प्राय शारीरिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, और नायिका गर्भवती भी हो जाती है। प्राय. लेखक ऐसा सम्बन्ध अपने किसी विशेष उद्देश्य के लिए भी रखते हैं, जिससे विवाह के पूर्व ही गर्भवती हो जाने वाली नारियों का वे सूक्ष्मता से चित्रण कर सकें। समाज में इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, उसके भयंकर दुष्परिणाम होते हैं, नायिका को किस प्रकार अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए संघर्ष करना पड़ता है, इन सब बातों का चित्रण करना एक प्रकार से लेखक के लिए आवश्यक-सा हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसी बहाने मानव मात्र में सेक्स की जो भूख समा गई है, उसकी पूर्ति के लिए भी प्रेम आवश्यक समझा जाता है, और लोग केवल इसी उद्देश्य के लिए प्रेम करते हैं। किसी भयंकर प्रतिहिंसा एवं प्रतिशोध की भावना से अभिभूत होकर भी प्रेम का अभिनय किया जाता है। अत. प्रेम मानव-जीवन के साथ घनिष्ठतम और विविध रूपो मे सम्बन्धित है। हिन्दी उपन्यासों मे प्राय प्रेम का सफल अंत बहुत कम ही कल्पित किया गया है। लेखकों का उद्देश्य पाठकों को रोमानी दुनिया दिखाकर सफल प्रेमान्त चित्रित कर उनके भावुक एवं कल्पनाशील मन पर हल्की चोट पहुँचाना होता है, जिसके कारण उनके मन पर विषाद और गहरी व्यथा छाई रहे, और नायिका की आन्तरिक पीड़ा का उन पर यथेष्ट प्रभाव पड सके। इसीलिए सफल प्रेमिकाओं की संख्या हिन्दी उपन्यासों मे बहुत कम है।

इसके कई कारण है। सर्वाधिक प्रमुख कारण तो यह है कि मानव जीवन में प्रेम का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होने के बावजूद भी भारत मे उसे सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं थी, विशेष रूप से स्वच्छन्द प्रेम की तो समाज में कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। वैवाहिक जीवन से बाहर स्त्री और पुरुष का प्रेम समाज को सहन न था, पर समाज के भय से ही तो मानव की स्वाभाविक प्रकृति पूर्णतया परिवर्तित नहीं की जा सकती। इसीलिए प्रेम बराबर होता था। हाँ यह अवश्य है कि उस प्रेम का अन्त सुखान्त इसलिए नहीं होता था कि विवाह काप्रश्न आते ही वर्ग, बिरादरी, जाति, धनी तथा निर्धन होने, और सबसे बड़ी बात माता-पिता की स्वीकृति प्राप्त होने की अनेक समस्याएं उठ खड़ी होती थीं। दूसरा कारण यह होता था कि पुरुष प्रेम तो करता था, पर मन में उसकी छिपी हुई वासना होती थी, जिसके पूर्ण होते ही उसकी भावनाए परिवर्तित हो जाती थी, जिसके पूर्ण होते ही उसकी भावनाएं परिवर्तित हो जाती थी, और वह प्रेम नायिका को असाह्य दुख, अपमान, लज्जा एवं कुण्ठा देकर समाप्त हो जाता था। कभी-कभी स्वयं नायिका ही किसी प्रतिशोध की भावना से अभिभूत होकर प्रेम का अभिनय करती थी, जिस प्रकार इलाचन्द्र जोशी कृत "पर्दे की रानी" में निरंजना करती है, तो भी प्रेम का अन्त दुखान्त ही होता था। मानव शरीर क्षण भंगुर तो है ही, यह निर्विवाद है। अगले क्षण क्या होने वाला है, हम किस स्थिति से गुजरेंगे, इन सब बातों से हम पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हैं। अतः प्राय. नायक की अकाल मृत्यु से भी प्रेम का दुखान्त ही होता

था। कभी कभी नायक क्रान्तिकारी होता था, और पकडे जाने पर उसे फासी हो जाती थी तो भी प्रेम का अन्त दुखपूर्ण ही होता था। दुखान्त प्रेम चित्रित करने का यथेष्ट प्रभाव शरत बाबू के उपन्यासो का भी हिन्दी उपन्यासों पर पडा था। शरत् बाबू के उपन्यासो की नायिकाए अपने प्रेम मे असफल ही रहती थी और उनके उपन्यास बगला म ही नही हिन्दी म भी अनूदित होकर खूब लोकप्रिय हुए। हिन्दी उपन्यासकार इनसे खूब प्रभावित हुए, और उन्होने भी अपने उपन्यासो मे असफल प्रेमिकाओ की कल्पना की। हिन्दी उपन्यासों मे असफल प्रेमिकाओ की सख्या अधिक है। आलोच्य-काल म निम्नलिखित उपन्यासो मे नायिकाओ की प्रेमिकाओ के रूप म कल्पना की गई है—

१ ठाकुर जगमोहनसिंह श्यामा स्वप्न (१८८८ ई०) २ किशोरीलाल गोस्वामी स्वर्गीय कुसुम, (१८८९) ३ किशोरीलाल गोस्वामी राजकुमारी, (१९०२), ४ किशोरीलाल गोस्वामी चपला (१९०३ ई०), ५ बाबू बाल मुकुन्द वर्मा मालती (१९०४ ई०), ६ देवकीनन्दन खत्री चन्द्रकाता, (१८९१ ई०), ७ रामप्रसाद सत्याल किरण शशि, (१९०९ ई०), ८ प० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय सुन्दर सरोजिनी, (१८९३ ई०), ९ बाबू ब्रजनन्दन सहाय आरण्यबाला, (जून १९१५), १० टीकाराम तिवारी पुष्पकुमारी (१९१७ ई०), ११ जनेन्द्रकिशोर कमलिनी (१८९१, १२ प्रमचन्द कायाकल्प, (१९२६ ई०), १३ जैनेन्द्रकुमार परख (१९२९ ई०), १४ प० सूयकान्त त्रिपाठी निराला निरुपमा (१९३३), १५ इलाचन्द्र जोशी पर्दे की रानी, (१९४१), १६ इलाचन्द्र जोशी प्रेत और छाया (९४६), १७ लाचन्द्र जोशी निर्वासित, १९४६) १८ यशपाल दादा कामरेड, (१९४१), १९ गुरुदत्त स्वाधीनता के पथ पर, (१९४), २० वृन्दावनलाल वर्मा कचनार, (१९४७ ई०)।

इन उपन्यासो म प्रेम की विभिन्न स्थितियां हैं। मानव-स्वभाव के अनुसार प्रेम के स्वरूप म भी अन्तर होता है। कोई स्वभाव स सकोची होता है, तो उसके प्रेम की सीमा भी कुछ हद तक सकुचित ही होती है। कोई प्रेम मे हर कठिनाइयो का सामना करता हुआ अपने अन्तिम उद्देश्य मे हर स्थिति मे पहुँचने का प्रयत्न करता है। पर किसी मे इतना साहस नही होता, और वह समाज के भय से, धम सकट के भय से, या अन्य इसी प्रकार के किन्ही कारणो से बीच माग से लौट आता है, और अपने प्रम का गला घाट देता है। किसी के प्रेम म सेक्स की प्रधानता होती है, तो किसी के प्रेम मे त्याग की। कोई प्रम का अन्त विवाह मे चाहता है, तो कोई केवल मित्रता भाव स्थापित करने के लिए ही प्रेम करता है। हिन्दी उपन्यासो की प्रमिका नायिकाओ के अध्ययन के पश्चात् हम उनकी निम्नलिखित विशेषताए निर्धारित कर सकते हैं—

१ प्रम मे त्याग की प्रधानता
२ परिस्थितिवश प्रम का दमन
३ प्रेम का अन्त विवाह में कल्पित करना
४ प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित प्रेम

५ प्रेम मे सेक्स की प्रधानता
६ प्रेम और आदर्श का सघर्ष
७ स्वार्थ भावना से प्रेरित प्रेम
८ प्रेम की अनिश्चियात्मक स्थिति

प्रेम में त्याग की प्रधानता

आज के अस्त-व्यस्त मानव जीवन मे प्रेम एक आवश्यक अंग सा बन गया है। भारतीय परम्परा मे प्रेम का अत्यन्त श्रेष्ठ रूप ही मान्य है। ऐसा विश्वास हमारे यहाँ किया जाता है कि जो प्रेम मनुष्य को शक्ति और आत्मविश्वास न देकर उसे दुर्बलता और कायरता की हीन भावना दे, देवत्व के उच्चासन मे गिराकर पशुत्व की दलदली जमीन की ओर ले जाय तो वह प्रेम नही, मानव विकास की राहो का अन्धकार बन जाता है। फिर उसे मानवीय चेतना से चीर कर अलग कर देना ही तर्कसंगत होता है। प्रेम तो वही सार्थक है, जिससे मानव की सहज सवेदनाओ को गौरव मिले, व्यक्तित्व विकसित हो, और अन्तस का छिपा हुआ देवत्व पुष्ट होकर सबल हो सके। इसी कारण यहाँ नारियों से इस बात की अपेक्षा की जाती रही है, कि वे प्रेम में त्याग की भावनाए प्रदर्शित करेंगी, जिससे प्रेम का स्थान ऊ चा उठ सके। पुरुष यह इसलिए नहीं कर सकता, क्योकि वह इन गुणों से शून्य होता है। मनुष्य जब भी विषम परिस्थिति मे फस जाता है, और दो नारियो (प्राय. एक ओर प्रेम होता है, दूसरी ओर कर्त्तव्य) के बीच अपनी राह खोजने का प्रयत्न करता है, तो यह उसकी प्रेमिका ही होती है, जो अपने प्रेमी के लिए त्याग करती है, उसकी राह से हट जाती है, उसके सुख एवं संतोष के लिए अपने प्रेम का त्याग कर देती है। प्राय. लेखको ने इस बात की कल्पना की है, कि प्रेम मे जितना ही त्याग किया जाता है, वह उतना ही उच्च होता जाता है। इसीलिए प्राय नायिकाए अपने प्रेमियो के लिए अपना निजत्व, अपना अस्तित्व सभी कुछ मिटा देती है। उनका सारा जीवन रोते-रोते व्यतीत होता है, पर इसका उन्हे क्षोभ नही होता, क्योकि उन्हे इस बात का संतोष होता है, कि कम से कम इस दु ख की नीव पर उनके प्रेमी को सुख तो मिल रहा है और इसी मोहक कल्पना मे वे अपनी व्यथा को चुपचाप अपने अन्दर छिपाए आत्मपीडन में ही जीवन व्यतीत करती हैं। कभी-कभी तो अपने प्रेमियो के जीवन निर्माण की इतनी उत्कट लालसा इन प्रेमिकाओं मे होती है, कि उस निर्माण प्रक्रिया मे वे स्वय टूट जाती हैं, पर इसका भी उन्हे दु.ख नहीं होता है। अपने प्रेम मे त्याग करने वाली नायिकाओ मे कट्टो (परख) का महत्वपूर्ण स्थान है।

जैनेन्द्र के "परख" (१९२९) उपन्यास की नायिका कट्टो चार वर्ष की विधवा है। वह समाज की रूढ परम्पराओं की शिकार है। जब वह अबोध थी, जब वह किलकारियाँ भरती थी, खेलती-कूदती थी, तभी समाज ने उसे वैधव्य का जामा पहना दिया। उसने अभी यौवन के प्रथम चरण में ही कदम रखा है, और उसी सीधी-सादी भोली कट्टो को यह नहीं समझ मे आता कि आखिर उसका

हँसना-खेलना और चचलता गाव वालो को बुरा क्यो लगता है ? व क्या उससे गम्भीरता की, एक विशेष प्रकार के आचरण की माँग करते हैं ? कट्टो जब सत्य धन की राह आती है तो जैसे उसे जीवन सूत्र प्राप्त हो जाता है, और वह उसी आश्रय से अपने को सयुक्त कर आगे बढत रहने का जाने अनजाने सकल्प सा कर लेती है। प्रारम्भ म कट्टो के लिए सब कुछ एक खेल ही खेल है। वह अपने "मास्टर" जी की ओर क्यो बढती जा रही है, वह क्यो एक विचित्र से तूफान के मध्य से गुजर रही है यह उस सरल प्रवृत्ति की कट्टो को स्वय ही नही ज्ञात रहता। वह तो जब सत्यधन चला जाता है और मोनोग्राम देखकर कट्टो अपने मोनोग्राम पर पछताकर कहती है—"ओ मास्टर तुम कहाँ गय ? तभी उसे आभास होता है कि यह सब खेल ही नही है निरी हल्की बात नही है बल्कि इसके आगे भी कुछ और है।

पर कट्टो जितनी ही सरल है, उतनी ही उसम त्यागवृत्ति भी कूट कूट कर भरी हुई है। व्यथा म ही भगवान बसते हैं और व्यथा का पीते रहना और दूसरा को अपना सारा विश्वास द उनके सुख सतोष की राह गढना ही जीवन है। यह जनेन्द्र का विश्वास है, और कट्टो इससे अलग नही है, वह इसी के लिए ही बनी है। सत्यधन काश्मीर स लौटकर बिल्कुल सीधे सीध कट्टो को बिहारी से विवाह के लिए कह देता है। वह इस पर स्तब्ध रह जाती है। इतने दिनो सत्य की अनुपस्थिति म वह अपने आपको जस निर्मित करती रही है सत्य क लिए और वही सत्य जब बिहारी स विवाह के लिए कहता है तो कट्टो जस डूब ही गइ। सत्य ने देखा—'आँखें आँसुओ से खूब धोई गई हैं, और फूल आई हैं। जस फूली फूली धुली कमल की दो लाल पखुडियाँ हो। लेकिन उनके सारे भेद और सारे स्नह को पलकें मजबूती स ढके हुए हैं। 'पर कट्टो कुछ कहती नहीं है, सारी बातो को चुपचाप सुन लेती है।"

कट्टो म आत्मविश्वास की कमी नहीं है। उसे पूरा विश्वास है कि वह 'मास्टर" साहब के लिए ही है, मास्टर' साहब उसी के हैं। बिहारी बाबू स वह स्पष्ट कहती है कि जिस प्रयोजन से वह आया है वह व्यथ है। विवाह के लिए वह आया है, और विवाह की बात पक्की न हो सकगी क्योकि वह तो पहल ही पक्की हो गई है।' और जब बिहारी कहता है लेकिन मालूम होता है वह बन्धन म है। तुम उसे खोल सकती हो।

—"ओह क्या कहते हो ? मेरा बन्धन !—मेरा कसा बन्धन ! ! मैंन कब क्या बाँधा है जो खोल सकू ? म क्या बाँध सकने लायक हू ? लेकिन यह तुम सब क्या कह रह हो ? जानते हो, यह उससे कह रह हो जिसके लिए यह बातें कही न कही सब बराबर है।'

---

१ जैनेन्द्रकुमार—परख (१९२९), बम्बई पृष्ठ ३३।

—"मैंने सत्य से पूछा है, बातें की है, उसने सारी बातें मुझसे खोल कर कह दी हैं। अगर उसे अपनी बात का ख्याल न हो, तो उसकी खुशी, मैं जानता हूँ, किधर है।"

—उनकी खुशी के लिए मेरा तन ले लो, पर मुझसे ऐसी बात न करो। ''.......मेरे पीछे उन्हें थोड़ी भी चिन्ता भुगतनी पड़ी तो मैं अपने को क्षमा न कर सकूंगी। मैं क्या रही जो मेरे पीछे उन्होंने दुख भुगता।[१]"

इस प्रसंग से कट्टो की मनोभूमि स्पष्ट हो जाती है। वह अपने लिए कुछ भी नहीं चाहती, उसके लिए तो आन्तरिक व्यथा ही बहुत है। अपने स्व का उत्सर्ग करना ही उसकी लालसा है, और अपने प्राण देकर भी वह सत्य का सुख-सन्तोष चाहती है। बिहारी ने उसके सामने जो परिस्थिति रखी थी, वह उसे अपनी भावुकता में आकर अस्वीकृत नहीं करती, अथवा उसकी अवहेलना करके मात्र अपने स्व की रक्षा नहीं चाहती। गरिमा का भविष्य, और सत्य का मानसिक अंतर्द्वंद्व, वह बिहारी की बातों से खूब समझती है, और इसीलिए सत्य से कहती है—"जो कुछ भी तुम चाहते हो, उसमें कट्टो की खूब राय है। कट्टो भी उसे खूब चाहती है। उसका पूरा-पूरा विश्वास रखो। तुम्हारी खुशी में उसकी खुशी है। तुम्हारे सोच में उसकी मौत है। अपने कामों में कट्टो की गिनती मत करो—वह गिनने लायक नहीं है। उसकी खुशी तुममें ही शामिल है। बस। तुम ब्याह करना चाहते हो तो कट्टो तुम्हारी सबसे पहले तुम्हारा ब्याह चाहती है।......तुम जो करोगे अच्छा करोगे, और कट्टो उस अच्छे में खूब आनन्द मनायेगी। तुम तो कट्टो के मालिक हो— और फिर उसकी फिकर क्यों करते हो?[२]......

कट्टो का यही आत्मत्याग उसे अत्यन्त महान् बना देता है। आत्म-त्याग, दूसरों के सुख सन्तोष के लिए, ही उसका प्राण है। यदि वह सत्य से प्रेम कर सकी है तो सत्य के लिए ही अपनी भावुकता, अपने प्रेम के बन्धन को तोड़ भी सकती है। और इसके बावजूद भी वह गरिमा से,उसके भाग्य से ईर्ष्या नहीं करती। उसे अपनी जीजी मान बैठती है, अपने वर निमन्त्रण दे आती है, अपने हाथों में बनाकर गरिमा को खिलाने के लिए ईर्ष्या अथवा द्वेष कट्टो का स्वभाव नहीं है। वह स्पष्ट है, सहृदय है। वह अपने सोहाग की पोटली, जिसे जाने कितने सपनों को अपने आंचल में संजोई लाई थी, स्वयं ही गरिमा के पास भेज देती है। और उस भेज देने में कुछ सरलता नहीं है, बड़ी गम्भीरता और अश्रु बरबस उमाड़कर रख देने की शक्ति है। जैसे वह मूक भाव से उस पोटली में यह भावना भी सहेज कर भेज देती है—मैंने सत्य को तुम्हें दिया है, फिर यह पोटली ही रखकर क्या करूंगी, इसे भी तुम्हारे पास भेज रही हूँ। तुम हमेशा प्रसन्न रहना, वही मेरा जीवन है। कट्टो में चंचलता

१. जैनेन्द्रकुमार "परख" (१६२६), बम्बई, पृष्ठ ६१-६२।
२. जैनेन्द्रकुमार "परख", (१६२६), बम्बई, पृष्ठ ७०।

है, पर चांचल्य की भावना गम्भीरता के आवरण से पूर्णतया आच्छादित रहता है। वह हंसती है तो भी मन मे विषादो का एक तूफान हिलोरें मारता रहता है। वह उसमे डूब जाना चाहती है, पर कर्तव्य पथ से प्रेरित होकर अपने दवता के लिए जीती है। उसके दम घुटते हैं, जैसे उसकी प्राणदायिनी शक्ति क्षीण होती जा रही है। वह पूरी शक्ति से अपने को चलाए चलने का प्रयत्न करती है कहीं रुक जाना चाहती है क्योंकि जीवन कहीं रुक जाने का नाम नहीं है।

इसीलिए मास्टर साहब कहीं फिर न विचलित हो, कहीं फिर अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के सकोच और अपनी भावुकता के आग्रह मे अपनी राह से हट न जाए और गरिमा से विवाह करने से अस्वीकार कर दें, वह पुन अपने को सत्य की राह से और भी दूर ले जाने का प्रयत्न करती है, वह बिहारी से विवाह करने का निश्चय करती है, इसमे कट्टो का और भी आत्मापण प्रकट होता है, अब कट्टो सरल, चचल नहीं रह जाती, परिस्थितियों का आघात सहते सहते वह दार्शनिक-सी बन जाती है। वह बिहारी से विवाह तो करती है किन्तु वासना की सतह से ऊपर वह आध्यात्मिक विवाह ही होता है। वह अपनी फिक्र के लिए विवाह नहीं करती, दूसरों के फिक्र के लिए ही वह यह सब करती है। गरिमा को यह सब अद्भुत लगता है। पर इसे स्वय कट्टो ही स्पष्ट करती है कि "अद्भुत क्या है जीजी इसमे? बिहारी बाबू को देखकर मुझे ऐसा लगा कि उनकी आत्मा किसी एक का सहारा पाकर कल्याण रूप होकर व्याप्त हो जाना चाहती है। और वह उस "एक" को खोजते फिर रहे हैं। मैंने अपने से पूछा। "क्या मैं वह 'एक' हो सकती हूं?" मन ने कहा, क्यों नहीं?' जीजी, सो यह बात हिम्मत करके मैंने कह डाली"[1]

इस प्रकार कट्टो आदर्श एव आत्मत्याग का अनुकरणीय चरित्र बन जाती है। वह प्रारम्भ से लेकर अन्त तक बराबर दूसरों के लिए ही जीने का प्रयास करती है और अपनी पूरी सामर्थ्य से, अपने स्वय के उत्सर्ग से दूसरों को सुख एव सन्तोष प्रदान करने का अथक प्रयास करती है। सत्य गरिमा और फिर बिहारी—सब एक अकेली कट्टो सबके अधियारे जीवन मे प्रकाश की देदीप्यमान किरणें बिखेरती चलती है, और सबको सुख एव आह्लाद देती हुई, सबकी उलझनो को सुलझाती हुई एव सबके जीवन की बाधाओं को दूर करती हुई स्वय महानता के उच्चासन पर जा बैठती है अपने अनुकरणीय आत्म त्याग से।

कट्टो की परिकल्पना का स्रोत व गौरवशाली परम्पराएं हैं, जिनमे आत्म पीडन ही नारी का चरम लक्ष्य होता है। वह सारी पीडा, अपनी और सबकी, चुपचाप सहन करती जाती है फिर मुह से जरा भी उफ नहीं निकालती क्योंकि दूसरो के सुख और सन्तोष के लिए अपना आत्म-बलि दान ही उसका उद्देश्य होता है। "पर" के लिए "स्व" बलिदान और महत् व्यथा का पान करने मे उसे सुख

1 जैनेन्द्रकुमार—"परख", (१९२९), बम्बई पृष्ठ ८९।

मिलता है। कट्टो मे यही गौरवशाली एवं आदर्शवादी भावनाए साकार हुई है। उसकी परिकल्पना मे लेखक का उद्देश्य नारी के गौरव रूप का चित्रण करना ही था, और उसमे उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। जैनेन्द्र गाधीवादी है, और जीवन मे पर्याप्त गम्भीरता एवं सौम्यता उन्हे प्रिय है। कट्टो इसीलिए इतनी सहिष्णु बन पाती है, और उसकी सहिष्णुता ही उसे सत्यधन से दूर ले जाती है, और जीवन मे कारुणा उत्पन्न करती है। पर उसे इसका पश्चाताप नही होता, वरन् वह उसी मे अपने जीवन का गौरव समझती है। यहां प्रश्न कट्टो के चरित्र की स्वाभाविकता के सम्बन्ध मे भी उठता है। कट्टो को लेखक ने इतनी अधिक मात्रा मे आदर्शवादी और सहिष्णु चित्रित किया है, कि सहसा विश्वास नही होता। वह मानवीय धरातल से ऊपर आध्यात्मिक धरातल की नारी सिद्ध होती है, क्योकि उसमे कोई बुराई नही है। आदमी न पूर्णतया अच्छा ही है, और न बुरा। अच्छाई-बुराई व्यक्ति के चरित्र के साथ जुड़ी रहती है, यदि कोई व्यक्ति मात्र बुरा ही बुरा हो, तो वह व्यक्ति नही, राक्षस हो जाता है। पर इसके विपरीत यदि कोई केवल अच्छा ही अच्छा है, तो वह मानव न होकर देवत्व पद पर जा बैठता है। कट्टो मे भी बस अच्छाई ही अच्छाई है। सत्य, गरिमा और विहारी सभी के सुख एव सतोष के लिए वह अपना आत्म-बलिदान करती फिरती है, और जैसे पुकार-पुकार कर कहती है, मेरे रक्त का एक एक बूंद ले लो, पर तुम मुस्कराओ, मैं तुम्हारा दुख नही देख सकती। वैसे कट्टो के चरित्र-प्रकाशन से लेखक को अपने उद्देश्य को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

विश्वम्भर नाथ शर्मा "कौशिक" के उपन्यास "भिखारिणी", (१६२६) की नायिका जस्सो भी इसी कोटि मे आती है। जस्सो एक भिखारी नन्दराम की कन्या है। नन्दराम वास्तव मे भिखारी नही है वरन् एक बड़े जमीदार का पुत्र है। वह घर से अपनी प्रेमिका के साथ भाग जाता है। प्रेमिका जस्सो को छोड़कर मर जाती है और नन्दराम दर-दर का भिखारी बन जाता है, पर वह अपने घर नहीं वापस जाना चाहता। बाबू रामनाथ दया करके (?) उसे अपने यहां नौकरी देते है, उस पर जस्सो और रामनाथ में सामीप्य आ जाता है, दोनो एक दूसरे से मन ही मन प्रेम करने लग जाते है। जस्सो यद्यपि अशिक्षित है। भिखारिणी का जीवन व्यतीत कर चुकी है, तथापि उसमे काफी समझ है। उसमे सहृदयता कूट-कूटकर भरी हुई है और स्नेह-भावना पूर्ण रूप मे व्याप्त है। वह प्रेम करती है बाबू रामनाथ से, अपना तन-मन उस पर निछावर कर देती है, पर उसमें कही उच्छृंखलता नही है। वह प्रेम मे सभी कुछ प्राप्य ही नही समझती। कर्तव्य और दायित्व को वह प्रेम से अधिक महत्वपूर्ण समझती है। वह जीवन भर का दारुण दुख मोल लेना पसन्द करती है, पर आदर्शों की गिरावट, प्रेम की हसी उड़ाते हुए देखना, और आत्म-गौरव का पतन नहीं चाहती। जब बाबू व्रजकिशोर रामनाथ का यह प्रस्ताव लेकर जाते हैं कि दोनों को छिपकर विवाह कर लेना चाहिये, क्योकि जाति का बन्धन दोनो के विवाह में बाधा बन रहा है, तो जस्सो दृढता से कहती है—"यही कह दीजिये कि चुरा-

छिपाकर कोई काम नहीं हो सकता[1]।" और चोरी छिपे विवाह करने से अस्वीकार कर देती है। बाबू रामनाथ के विवाह में वह उनकी पत्नी को उबटन वगैरह लगाकर सजाती है और नववधू के जिज्ञासा करने पर कहती है— जिसमें मुझे सुख मिलता है वही करती हूं[2]।' उसके इस वाक्य में तीखा दर्द और गहरी व्यथा छिपी हुई है, जो पाठकों को सहज ही द्रवित कर देती है। वह अब रामनाथ को बिलकुल भूल जाना चाहती है। क्योंकि वहां अब जीवन है। वह उनकी खुशी के लिए कुछ भी कर सकने को तैयार है। उसका त्याग अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। फिर वह अपने जीवन के प्रति निराश हो जाती है। उसे यह जीवन निस्सार-सा प्रतीत होने लगता है। वह आजन्म अविवाहित रहने का निश्चय करती है, और सारी सम्पत्ति दान कर फिर पथ की भिखारिणी बन जाती है।

उसके प्रेम में असफल होने के दो मुख्य कारण थे। पहला कारण तो जाति का बन्धन था। दोनों की जाति एक न थी और रामनाथ के पिता तथा जस्सो के बाबा दोनों रूढ़ियों में ग्रस्त थे, इसलिए रामनाथ जानते थे कि पिता के कहने से यह विवाह कभी न होगा। दूसरा मुख्य कारण दोनों की अपनी दुर्बलताएं थीं। रामनाथ में दृढ़ निश्चय की कमी थी। वे जस्सो से विवाह तो करना चाहते थे पर अपने पिता से सारी बातें स्पष्ट करने का उनमें साहस भी न था। यही बात जस्सो के सम्बन्ध में भी थी। नन्दराम ने जब अप्रत्याशित रूप से स्वयं जस्सो से ही ब्रजकिशोर बाबू का सन्देश सुनाया तो वह संकोच वश स्पष्ट नहीं कह सकी। फिर उसके सामने यह भी भय था कि नन्दराम का बाबा के साथ कदाचित् पुनः झगड़ा न हो जाय, और कहीं उन लोगों को पुनः घर न छोड़ना पड़े। इसलिए सिवाय इसके कि जस्सो अपनी असहमति प्रकट करती, उसके सामने कोई और चारा न था। जस्सो की परिकल्पना में लेखक का उद्देश्य एक ऐसी नारी का चित्रण करना था जो विवशताओं में रह कर भी अपनी लज्जा और अपना संकोच नहीं छोड़ती, तथा आत्मपीड़न ही में जीवन व्यतीत करने का निश्चय करती है। लज्जा ही नारी का आभूषण है, और यही जस्सो का भी शृंगार है। लेखक के अनुसार प्रेम में सब कुछ प्राप्त ही नहीं होता। ऐसी इच्छा होने पर तो प्रेम स्वार्थ बन जाता है। प्रेम में त्याग की अमिट भावना ही व्यक्ति को ऊंचा उठाती है, जस्सो का चरित्र इसका प्रतीक है, और इस चित्रण में लेखक पूर्ण सफल रहा है।

प्रेम का दमन

प्रेम में यह आवश्यक नहीं कि अनुकूल परिस्थितियां प्राप्त होती जाएं और प्रेम का अन्त सफल ही हो। प्रेम के मार्ग में अनेक बाधाएं होती हैं, और उन बाधाओं को पार कर अंतिम उद्देश्य तक पहुंचने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना

---

१ विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" भिखारिणी, (१९२९), आगरा, पृष्ठ १७६।
२ वही, पृष्ठ २१०।

पड़ता है। इसके कारण स्पष्ट हैं। समाज में अभी भी इतनी रूढ़ियाँ व्याप्त हैं कि जाति भेद, धर्म भेद आदि का निराकरण सहज रूप मे नही हो सकता। इसी प्रकार समाज मे धनी वर्ग और निर्धन वर्ग-दो ऐसे वर्ग है, जिनके बीच की खाई काफी गहरी है। जब कभी इन दो वर्गो मे किसी में प्रेम होता है, तो उसकी सफलता की सम्भावनाएं भी बहुत कम रहती है। इस प्रकार की परिस्थितियों में प्रेम का दमन करना पड़ता है। यहाँ प्रेम त्याग और प्रेम का दमन, इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट कर देना उचित होगा। प्रेम में त्याग अपनी इच्छित भावना से होता है, वहां विवशता का कोई प्रश्न नही उठता। पर प्रेम का दमन तभी होता है, जब मानव परिस्थितियों से विवश हो जाता है। हिन्दी उपन्यासो में ऐसी कुछ नायिकाओं की परिकल्पना की गई है, जिन्हे परिस्थितियो से विवश होकर अपने प्रेम का दमन करना पड़ा है। इनमें कुसुमकुमारी (स्वर्गीय कुसुम), मनोरमा (कायाकल्प) प्रमुख है।

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास "स्वर्गीय कुसुम" (१८८९) की नायिका कुसुमकुमारी आरा के राजा कर्णसिंह की पुत्री है, जिसका जीवन अत्यन्त दुःखपूर्ण रहता है। वह तीन वर्ष की अवस्था में ही देवदासी बन जाती है और पंडे द्वारा एक वेश्या के हाथो बेच दी जाती है। कार्तिकी पूर्णिमा मे नाव टूट जाने से वह बह जाती है, और बसन्तकुमार नामक एक युवक उसे बचा लेता है। वह अपने गाँव वापस आती है, और छिप कर रहने लगती है। उसे मन ही मन बसन्तकुमार से प्रेम हो जाता है, और उसे लेकर वह नाना प्रकार की कल्पनाएं करने लगती है। पर उसका दुर्भाग्य अभी समाप्त नही हुआ था और बसन्तकुमारी की छोटी बहन गुलाब से हो जाता है। ऐसी विचित्र परिस्थिति मे कुसुमकुमारी के सम्मुख एक ही मार्ग था, कि वह अपने प्रेम का गला घोट दे उसका दमन कर दे, क्योंकि बसन्तकुमार के विवाहोपरान्त भी वह अपने प्रेम को जीवित रखकर स्वयं अपनी ही छोटी बहन का जीवन नहीं नष्ट करना चाहती थी। अत मे निराश होकर वह देवदासी प्रथा का मूलोच्छेदन करने की प्रतिज्ञा करती है किन्तु उसका भावुक मन गुलाब का तीखा व्यंग एक दिन नही सहन कर पाता और वह आत्महत्या कर लेती है। पर वह मरती नही, पुनः बच जाती है। वास्तव मे उपन्यास मे घटना क्रम पर अधिक बल दिया गया है, चरित्र-चित्रण की पूर्ण उपेक्षा की गई है। यही कारण है कि घटना क्रम मे कुसुमकुमारी का थोड़ा बहुत अस्तित्व है, नही तो घटनाओं के सम्मुख उसका कोई विशेष महत्व नही है। वैसे कुसुम बहुत भावुक है, उसमे त्याग की भावना भी सन्निहित है, पर लेखक ने उसे अधिक स्पष्ट नही किया है। यदि लेखक कुसुमकुमारी की विवशताओं, और उसके प्रेम का और अधिक सूक्ष्म चित्रण करता, तो उसका चरित्र निस्सन्देह अत्यन्त प्रभावशील बन जाता है।

प्रेमचन्द के उपन्यास "कायाकल्प" (१९२६) की नायिका मनोरमा भी इसी दृष्टि से विचारणीय है। मनोरमा अत्यधिक भावुक है, और एक प्रकार से भावना

के आधार पर ही जीवित रहना चाहती है। वह प्रारम्भ से ही चक्रधर के प्रति एक विशेष भाव रखती है, जिसका निर्णय वह स्वयं नहीं कर पाती कि वह चक्रधर के प्रति प्रेम है, अथवा अध्यापक होने के नाते मात्र श्रद्धा। पर धीरे धीरे यह बात स्पष्ट होती जाती है, और मनोरमा चक्रधर से मन ही मन सचमुच प्रेम करती है वह तीव्र चेतना सम्पन्न है उसमें तर्क की शक्ति है और अपनी बात को अधिक प्रभावशाली ढंग से कहने का एक विशिष्ट ढंग है और अपने मन की धारणा वह कई बार जाने अनजाने में चक्रधर के सम्मुख स्पष्ट भी करती है पर चक्रधर बराबर उसकी उपेक्षा ही करते हैं। किन्तु इस उपेक्षा में मनोरमा की भावना मरती नहीं, उसके प्रेम की प्यास अधिक तीव्र ही होती जाती है। मनोरमा का कोई विशेष सार्वजनिक जीवन नहीं है। वह चक्रधर की भाँति खुले रूप में आन्दोलनों में भाग नहीं लेती जुलूसों का नेतृत्व नहीं करती, हाँ सहानुभूति अवश्य रखती है, पर वह भी चक्रधर के कारण ही। वह सहायता भी करना चाहती है तो केवल अपने प्रेम के ही कारण। यह प्रेम की एक जलती हुई मशाल है। प्रारम्भ में वह चपल है, बातूनी है चंचल है और तरह तरह से चक्रधर पर अपना प्रेम प्रदर्शित करती है पर चक्रधर उसे समझ नहीं पाते, तो उसका प्रेम श्रद्धा में परिणत हो जाता है। वह बचपन से ही मातृ स्नेह से वंचित रहती है इसलिए चक्रधर को देखते ही उसकी स्नेह भावना उमड़ पड़ती है, और जैसे वह अपने मन का सारा पवित्र शृंगार चक्रधर पर उड़ेल देना चाहती है पर इसमें असफल रहती है तो धीरे धीरे एक अव्यक्त विद्रोह उसके मन में जन्म लेने लगता है। उसकी गहन मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया उसकी चेतना पर होती है, और उसका स्वभाव बदलने लगता है। वह एक दार्शनिक की भाँति दुर्बोध एवं जटिल बन जाती है।

जब राजा विशाल सिंह से विवाह का प्रश्न आता है तो वह अपनी आत्मिक शक्ति का दमन करती है। वह किन्हीं भी रूपों में राजा साहब से विवाह नहीं करना चाहती थी पर उसने अपनी इच्छा, अपनी भावना और अपने सपनों को जबरदस्ती कुचल दिया। यद्यपि वह पहले से सोचा करती थी कि 'जो विवाह लड़की की इच्छा के विरुद्ध किया जाता है वह विवाह ही नहीं है ",[1] पर इसके बावजूद भी वह राजा विशाल सिंह से विवाह करने को तैयार हो जाती है क्यों? वह क्रियाशील रूप से सार्वजनिक जीवन में भाग न ले सकी। वह रानी थी और कदाचित् यह उसकी परम्परा के विरुद्ध था कि एक रानी सार्वजनिक रूप से जनता के रूप में रहकर काम करे। वह परम्परा शासन की थी, सेवा की नहीं। यह परम्परागत प्रभाव मनोरमा पर थी, पर साथ ही उस पर चक्रधर का भी गहरा प्रभाव था। वह न तो अपनी परम्परा को समाप्त करना चाहती थी, और न चक्रधर के प्रभाव को

१ प्रेमचन्द कायाकल्प, (१९२६), बनारस, पृष्ठ ४६।

समाप्त करना चाहती थी। इसलिए उसने बीच का रास्ता अपनाया, वह जानती थी कि चक्रधर की कार्यप्रणाली मे धन की सबसे बड़ी कमी है। उनके प्रगतिशील राह मे धनाभाव ही रोड़ा बना हुआ है, तो उसने सोचा कि राजा विशाल सिंह से विवाह कर चक्रधर के मार्ग का यह रोड़ा दूर किया जा सकता है। एक स्थल पर वह इसे स्वीकार भी करती है—"……जब मैंने देखा कि आपकी परोपकार कामनाएं धन के बिना निष्फल हुई जाती हैं, जो कि आपके मार्ग मे सबसे बड़ी बाधा है, तो मैंने इसी बाधा को हटाने के लिए यह बेडी अपने पैरो मे डाली। मैं जो कुछ कह रही हूं, उसका एक-एक अक्षर सत्य है। मैं यह नही कहती कि मुझे धन से घृणा है। नही, मै दरिद्रता को ससार की विपत्तियो मे सबसे दुखदायी समझती हूं। लेकिन मेरी सुख-लालसा किस अन्ने घर मे शान्त हो सकती थी। उसके लिए मुझे जगदीशपुर की रानी बनने की जरूरत न थी। मैंने केवल आपकी इच्छा के सामने सिर झुकाया है……"[1]

पर इसमे मनोरमा को क्या मिला? कुछ भी नही। वह सुखी नही हो पाई। राजा साहब के यहां किसी बात की कमी नही थी स्वयं मनोरमा मे ईर्ष्या, द्वेष, वस्त्राभूषणों से प्रेम न था। वह चक्रधर के प्रभाव मे आकर पूर्णतया सादगी का जीवन व्यतीत करती थी। उसके पास बुद्धि थी, दूरदर्शिता थी, और राजा विशालसिंह ने रियासत के प्रबन्ध का सारा उत्तरदायित्व एक प्रकार से उस पर डाल दिया था, पर इतना होने के बावजूद भी "कविता मे सब रस थे, पर शृंगार रस नही था।" मनोरमा राजा साहब के यहां पहले वाली मनोरमा न रह गई थी। उसमे गजब का धैर्य था। उसका हृदय अत्यन्त विशाल था, त्याग की सौ-सौ भावनायें थी, करुणा थी, पर विशालसिंह के यहां जैसे वह अपने जीवन से ही निराश हो जाती है, उसकी इच्छाए मिट जाती हैं, वह अपमानित होती है, पर उसका नारीत्व नही समाप्त होता। उन विषम परिस्थितियो मे भी वह अपना अस्तित्व बनाए रखने का भरसक प्रयत्न करती है। वह एक दम से वहां बदल जाती है। "वह उद्दण्ड प्रकृतिवाली मनोरमा सब धैर्य और शान्ति का अथाह सागर है, जिसमे वायु के हल्के-हल्के झोंकों से कोई आन्दोलन नही होता। वह मुस्कराकर सब कुछ शिरोधार्य करती जाती है। यह विकट मुस्कान उसका साथ कभी नही छोड़ती। इस मुस्कान में कितनी वेदना, विडम्बनाओं की कितनी अवहेलना छिपी हुई है, इसे कौन जानता है?"[2]

इस प्रकार मनोरमा का चरित्र एक भावना से प्रारम्भ होता है और एक भावना से ही समाप्त होता है। वह अन्त मे चिड़िया पालने के शौक को जन्म देती है, मानो अपने तन-मन के साथ एक दिन उन्ही पक्षियों की भांति कही दूर गगन की छांव मे शान्ति के लिए उड़ जाना चाहती है। मनोरमा की कल्पना का उद्देश्य धनी वर्ग

---

१. प्रेमचन्द : कायाकल्प, (१९२६), बनारस, पृष्ठ १९५।

२. प्रेमचन्द : कायाकल्प, (१९२६), बनारस, पृष्ठ ३३४।

और निर्धन वर्ग की विषमता प्रदर्शित करना ही था। चन्द्रधर मात्र इसीलिए मनोरमा से दूर भागते थे, कि वह अपने को उसके योग्य न समझते थे। आखिर क्यों ? इसीलिए क्योंकि वे निर्धन थे और मनोरमा महलों की रानी थी। महलों और झोपड़ी में फिर भला क्यों कर प्यार होता ? धनी और घर में रहकर और पालित पोषित होकर भी कोई कितना त्याग कर सकता है मनोरमा इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। अपने उद्देश्य में प्रेमचन्द को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। मनोरमा भी असफल प्रेमिका ही है।

प्रेम का अन्त विवाह में कल्पित करना

पीछे के अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतीय नारियों को अत्यधिक सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त न थी, ऐसी परिस्थिति में प्रेम की कल्पना तो एक विडम्बना मात्र समझी जाती थी। पर यदि प्रेम हो भी जाता था, तो नारी चाहती थी कि उसका अन्त विवाह में ही हो, क्योंकि उसके पूर्व अपने प्रेमी से मिलन, बात करने आदि की उसे स्वतन्त्रता न मिल पाती थी। इसके निराकरण का एकमात्र उपाय वे विवाह ही समझती थीं। अतः प्रेम के प्रारम्भ होते ही उसका एकमात्र उद्देश्य विवाह ही बन जाता था। इस उद्देश्य के पीछे एक अन्य प्रमुख कारण और का भी होता था। प्रेम प्रारम्भ होते ही प्रायः शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता था जिससे नारियाँ विवाहित होने के पहले ही गर्भवती हो जाती हैं, और घर-घर में उनकी चर्चा होने लगती थी। ऐसी परिस्थितियों में पुरुष तो किनारे खड़ा होकर तमाशा देखने लगता था यन्त्रणाओं का शिकार होती थी बेचारी नारी। उसे घर से, समाज से निष्कासित कर दिया जाता था, और उसके सम्मुख दो ही मार्ग रह जाते थे। या तो वह आत्महत्या करके अपयश से बच जाय या फिर वेश्यावृत्ति अपना ले। चूँकि उस समय नारियों को आर्थिक स्वतन्त्रता न प्राप्त थी, इसलिए अपने पैरों पर खड़ी होकर जीवन व्यतीत करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। ऐसी इच्छा रखने वाली नायिकाओं के रूप हमें श्यामा, (श्यामास्वप्न), चन्द्रकान्ता, (चन्द्रकान्ता) सरोजिनी (सुन्दर सरोजिनी), सुकुमारी, (राजकुमारी) चपला, (चपला), मालती (मालती), किरणशशि (किरणशशि), अजमजरी, (आरण्य बाला), पुष्पकुमारी (पुष्पकुमारी), निरुपमा, (निरुपमा), और कचनार (कचनार), में प्राप्त होते हैं।

ठाकुर जगमोहन सिंह के उपन्यास "श्यामा-स्वप्न", (१८८८) की नायिका श्यामा एक ब्राह्मण कन्या थी, और श्याम सुन्दर एक क्षत्रिय युवक था। दोनों की प्रेम कथा रीतिकालीन परम्परा के अनुसार कही गई है। श्यामा के जीवन का एक मात्र उद्देश्य श्यामसुन्दर से विवाह ही है। वह बस इसी के सपने देखा करती है। लेखक ने दोनों का प्रेम दिखाकर तत्कालीन नवीन युग-चेतना और निर्मित होने वाली नवीन मान्यताओं, जिसमें जाति प्रथा, वर्ण-भेद आदि को समूल नष्ट कर देने

का आग्रह अधिक था, की हल्की झलक दृष्टिगोचर होती है। श्यामा के आन्तरिक गुणों और अन्य विशेषताओं का चित्रण करने में लेखक असफल रहा है, सिवाय इसके कि श्यामा सहृदय है, और प्रेम को ही अपना धर्म समझती है। वास्तव में उसके चरित्र प्रकाशन में लेखक का मन भी नहीं रमा है।

देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास "चन्द्रकान्ता" (१८९१) की नायिका राजकुमारी चन्द्रकान्ता जयसिंह की पुत्री है, और सुरेन्द्र सिंह के पुत्र कुमार वीरेन्द्र सिंह से प्रेम करती है। दोनों के बीच एक खलनायक विजयगढ के वजीर का पुत्र क्रूरसिंह है, जो स्वयं चन्द्रकान्ता से विवाह करना चाहता था, पर चन्द्रकान्ता बराबर वीरेन्द्र को ही अपने पति के रूप में कल्पित किया करती थी, और उसी से प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करने की कामना प्रकट किया करती थी। इस प्रेम कथा के पीछे लेखक का उद्देश्य केवल मनोरंजन और कौतूहल उत्पन्न करना ही था। अतः उसका ध्यान युद्ध के रोचक प्रसंगों, एवं ऐयारी के विस्मयपूर्ण चित्रण आदि तक ही सीमित रह गया, और चन्द्रकान्ता उस उद्देश्य में एक साधन मात्र ही बन कर रह पाई। उसकी आन्तरिक विशेषताओं का चित्रण करने में लेखक पूर्णतया असफल रहा है, बल्कि उसने इसकी चेष्टा भी नहीं की है। अन्त में क्रूरसिंह पराजित होता है, और चन्द्रकान्ता का प्रणय-सम्बन्ध नरेन्द्रसिंह से स्थापित हो जाता है, जिससे चन्द्रकान्ता को पूर्ण हार्दिक सन्तोष प्रदान होता है, और उसके स्वप्न साकार होते हैं।

पं० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय कृत 'सुन्दर सरोजिनी', (१८९३) की नायिका सरोजिनी भी इसी श्रेणी की नायिका है। सरोजिनी स्वप्न में सुन्दर से प्रेम करने लगती है, और उससे विवाह कर सुखी जीवन व्यतीत करने की कामना करने लगती है। सरोजिनी अतीव सुन्दरी थी और उसके अनुपम सौन्दर्य की सारे देश में चर्चा थी। उसका विश्वास था कि "ऊषा के पति अनिरुद्ध सपने में ही मिलकर यथार्थ पति हुए विशेषत. इस लंकापुरी में तो और भी स्वप्न सत्य होता है।"[1] और सचमुच उसका स्वप्न सत्य सिद्ध होता है। 'सत्य प्रेम, ईश्वरभक्ति और धर्म-महिमा"[2] के कारण सुन्दर का स्वप्न-जन्य प्रेम सफल होता है और उसका विवाह सुन्दर के साथ हो जाता है। सरोजिनी का प्रेम आदर्श की भूमि पर आधारित है। उसमें सहिष्णुता के साथ चरित्र की श्रेष्ठता है और संयम है। वह सर्वगुण सम्पन्न है। सीता-सावित्री आदि पौराणिक पात्रों के पवित्र एवं अनुपम आदर्श उसके चरित्र में एकाकार हो गए हैं, जिससे उसमें एक प्रकार की अलौकिकता आ गई है, और वह यथार्थ एवं स्वाभाविक न प्रतीत होकर दिव्य प्रतीत होती है। उसके प्रेम में न तो आधुनिक कोर्टशिप की भावना है और न वासना का समावेश ही है। लेखक के अनुसार, "पाठक भ्रम में न पड़े कि ये आजकल के नये नायक नायिका हैं और यहाँ

---

१ पं० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय : सुन्दर सरोजिनी, (१८९३), काशी, पृष्ठ ४२।
२ वही, पृष्ठ ५६।

कोटिशिप का अवसर इन्होंने पाया है, क्योंकि कोर्टशिप प्रेम नहीं काम का प्रभाव है। जिस प्रकार तज शराब के नशे में कोई हत्या करे तो उसका प्रेरक मुख्यत मद्य ही समझा जाता है उसी प्रकार युवावस्था मे महात्मा मदनदेव के अधिकार से जो प्रेम उपजता है वह यथार्थत मैत्रीकृत नहीं है किन्तु कामकृत है।"[1] इसमे जाति प्रथा का समर्थन कर एक ही जाति मे विवाह की मर्यादा की अनिवार्यता सिद्ध की गई है। *सरोजिनी की परिकल्पना का उद्देश्य लेखक का सुधारवादी दृष्टिकोण ही था।* आदर्शप्रेम वासना रहित हो सकता है और भारतीय नारियो के लिए यही प्रेम गौरवपूर्ण है, उनकी मर्यादा के अनुकूल है—लेखक सरोजिनी के चरित्र से यही सिद्ध करना चाहता है। पर यथार्थ का एक दम विस्मृत कर देने के कारण सरोजिनी लेखक के हाथों एक निर्जीव कठपुतली ही बन कर रह गई है। उसका चरित्र अस्वाभाविक रूप से विकसित होता है। लेखक अपनी वांछित बात भले ही कह गया हो, पर कोई प्रभाव डालने मे वह पूर्णतया असमर्थ रहा है।

किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'राजकुमारी', (१६०२) की नायिका सुकुमारी की गणना भी इस श्रेणी मे की जा सकती है। सुकुमारी मुगेर के जमींदार राजा हीराचन्द की पुत्री थी। वह एक साधारण युवक मानिक से प्रेम करती है और उसकी हार्दिक इच्छा है कि उसका विवाह मानिक से ही हो। सुकुमारी का प्रेम अत्यन्त आदर्श है, और उसमे पर्याप्त पवित्रता है। लेखक ने उसे कुछ स्वतन्त्रता भी दी है और वह मानिक के साथ एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए गंगा के तट पर घूमते फिरते हैं, यह कदाचित् सन्धियुगीन नवीन चेतना का परिणाम था। सुकुमारी का चरित्र चित्रण *करने मे लेखक असफल रहा है। उसकी परिकल्पना का उद्देश्य* लेखक का सुधारवादी दृष्टिकोण एवं आदर्श प्रेम का प्रभाव चित्रित करना था। पर उपन्यास मे घटनाओं की बहुलता, अस्वाभाविक परिस्थितियां एवं रहस्यमयता के कारण उसका यह उद्देश्य सफलतापूर्वक प्रतिफलित नहीं हो पाया है, और उपन्यास की रहस्यात्मकता की भांति सुकुमारी का चरित्र भी एक रहस्य संकेत ही बन कर रह गया है। अन्त मे मानिक के साथ सुकुमारी का विवाह दिखलाकर लेखक ने आदर्शप्रेम की सफलता सिद्ध की है। यदि वह सुकुमारी के चरित्र का *थोड़ा यथार्थवादी ढग से विकसित करता* और उसे निर्जीव कठपुतली न बना कर उसमे स्वाभाविकता, एवं अकृत्रिमता के रंग भरता तो सुकुमारी के व्यक्तित्व की मार्मिकता एवं स्पष्टता के साथ ही उसका उद्देश्य भी सफलतापूर्वक पूर्ण होता।

किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'चपला वा नव्य समाज का चित्र', (१६०३) की नायिका चपला भी इसी कोटि की नायिका है। इसमे भी विवाह पूर्व प्रेम का चित्रण किया गया है। चपला घनश्याम से प्रेम करती है और उससे विवाह करना चाहती है। कमलकिशोर यह नहीं चाहता था कि चपला का प्रेम सफल हो और

---

१ प० देवी प्रसाद शर्मा उपाध्याय 'सुन्दर सरोजिनी', (१८६३), काशी, पृष्ठ ३६।

उसका विवाह घनश्याम से हो, इसलिए वह घनश्याम को ऐयारों की सहायता से पकड़वा कर उसे तिलस्मी अड्डे में बन्द कर देता है। चपला को अनेक प्रकार के प्रलोभन दिए जाते हैं, उसे एक बनावटी कन्नाई दिखाकर यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया जाता है कि घनश्याम की मृत्यु हो गई है, पर चपला का प्रेम आदर्श प्रेम था। वह सती साध्वी थी। उसमें पवित्रता थी, इसलिए वह इन सब भ्रान्तियों में नहीं पड़ती। उसकी दृढ़ता, आत्मविश्वास, साहस एवं बुद्धि देखते ही बनती है। उसके व्यक्तित्व में पौराणिक नारियों की चारित्रिक विशेषताओं का समावेश है, जिससे उसमें एक प्रकार की अलौकिकता आ जाती है। चपला नाम होने के बावजूद भी इसमें किसी भी प्रकार की चपलता नहीं है। उसके जीवन में निष्क्रियता नहीं, सक्रियता है। उसका कथन है, "मैं अब निगोड़ी विपत्ति का सामना दृढ़ता के साथ कर सकूँ और अपने निर्मल शरीर में किसी तरह का भी धब्बा न लगने दूँ।"[1] वह आगे भी कहती है, "किसी बिगड़े-दिल अमीर ने अपनी किसी वाहियात ख्वाहिश के पूरा करने के लिए मुझे मेरे घर से उड़ा मँगाया है, पर तब मेरा नाम चपला है कि जो मैं उसे उसके पाजीपन का पूरा मजा चखाऊँ।"[2] पर इन कथनों के बावजूद भी लेखक ने घटना बहुलता और ऐयारी आदि पर जितना ध्यान केन्द्रित किया है, उतना चपला के चरित्र चित्रण पर नहीं। चपला की परिकल्पना का उद्देश्य वही है, जो सुकुमारी की परिकल्पना का था।

बाबू बालमुकुन्द वर्मा कृत 'मालती', (१६०४), की नायिका मालती भी इसी प्रकार की नायिका है। मालती एक बड़े घर की लड़की है, जिसके पिता नगर के सबसे बड़े व्यक्ति थे। "धीरे-धीरे मालती अब चौदह साल की युवती हुई, प्रेम देव ने अपना अटल राज उस पर जमा लिया। चाहे मूर्ख से मूर्ख मनुष्य क्यों न हो, मदन उसे चचले कर ही देता है।"[3] वह एक ऐसे युवक से प्रेम करती है, जो धन में मालती से कहीं कम था, किन्तु शिक्षित और विद्वान् था। प्रेम कभी इस बात पर विचार करता ही नहीं कि दूसरा पक्ष समान स्तर का है या नहीं। एक दिन मालती को देखकर उसका प्रेमी रतनचन्द उसका हाथ पकड़ना चाहता है, तो वह कहती है, "आप बड़ी जल्दी करते हैं, हाथ और तिस पर मेरा हाथ पकड़ना कोई सहल बात नहीं है नाथ ! मैं यह नहीं चाहती कि आजकल के नए प्रेमी और प्रेमिकाओं की श्रेणी में मेरी गिनती हो। जब तो मेरे पूज्य माता-पिता मेरा कन्यादान न कर लें, मैं आपको स्पर्श नहीं कर सकती। यह अवश्य है कि मेरे दोनों नेत्र आपके चरण कमलों में लगे हुए हैं। विश्वास है कि आपकी भी मुझ दासी पर

---

१. किशोरीलाल गोस्वामी : चपला वा नव्य समाज का चित्र, (१६०३), काशी, पृष्ठ १२।
२. वही, पृष्ठ १२।
३. बालमुकुन्द वर्मा : मालती, (१६०४), काशी, पृष्ठ १-२।

कृपा बनी होगी।"[1] दुर्भाग्य से मालती के पिता नहीं चाहते थे कि मालती का विवाह रतनचन्द से हो यद्यपि उसकी माँ चाहती थी। हठी पिता एक नहीं सुनते और मालती का विवाह सूर्यचन्द नामक युवक से तय कर देते हैं। रतनचन्द भी मालती से कहता है कि उसे वही करना चाहिए जो उसके माता पिता चाहते हैं। पर प्रेम की विरहावस्था में दोनों सहन न कर पाने और विष खा लेते हैं। डॉक्टर की सहायता से दोनों बच जाते हैं और उनका विवाह हो जाता है। इसमें भी मालती का आदर्श प्रेम ही चित्रित किया गया है। उसकी परिकल्पना का उद्देश्य लेखक का सुधारवादी दृष्टिकोण तो था ही साथ ही प्रेम की पवित्रता एवं आदर्श दिखाना भी था। लेखक के अनुसार यदि दोनों एक ही जाति के हों तो सच्चे प्रेमियों का विवाह कर ही देना चाहिए। यह उनके प्रेम के गौरव के अनुकूल होता है।

रामप्रसाद सत्याल कृत किरणशशि (१६०६) की नायिका किरणशशि है। बम्बई में किरणशशि और जगमोहन एक दूसरे को देखते हैं। किरणशशि आदर्श नायिका है। उसमें आदर्श प्रेम, त्याग की अनुपम भावना और सहिष्णुता है। वह सक्रिय जीवन में प्रति आस्थावान है। उसके जीवन का एक ही उद्देश्य था जगमोहन से विवाह कर अपने प्रेम को सफल करना। वह जगमोहन से बिछुड़ जाती है, पर साहस एवं आत्मविश्वास के साथ उसका सम्पर्क कभी विच्छिन्न नहीं होता। वह धैर्य एवं विश्वास के साथ अपने प्रेमी को खोजती है और जब उसे पाती है तो उसे पता चलता है कि वह महान् कष्ट में है। किरणशशि चुप नहीं बैठती, पुरुष वेश में जगमोहन की सहायता करती हैं, और फिर दोनों का विवाह हो जाता है। सुकेशी नामक स्त्री भी जगमोहन से विवाह करना चाहती हैं, पर जगमोहन के अस्वीकार करने पर वह उस पर छुरे से वार करती हैं। बीच में किरणशशि आ जाती है और उसकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार वह अपने पति की प्राण रक्षा के लिए सहर्ष प्राणों का त्याग कर देती है। जगमोहन के अनुसार "आह! अब किरणशशि की तस्वीर एकाएक मन में पैदा हो जाती है तो मुझको उस समय असह्य कष्ट हो जाता है ... संसार में किरणशशि स्त्री भी कुलकामिनी पैदा होती हैं, जो अपने प्राण प्यारे के लिए अपना अमूल्य जीवन भी दे देती हैं।"[2] किरणशशि आदर्श प्रेमिका थी, और साथ ही सती, साहसी नारी थी। उसकी परिकल्पना का स्रोत पौराणिक आदर्श नारियाँ सीता एवं सावित्री आदि हैं। पर लेखक किरणशशि के चरित्र को सफलता पूर्वक स्पष्ट करने में नितान्त रूप से असमर्थ रहा है।

बाबू ब्रजनन्दन सहाय कृत 'आरण्यबाला', (१६१५) की नायिका ब्रजमंजरी अत्यन्त रूपवती है, सुकुमार है, सुशील हैं, सच्चरित्र हैं। वह अपनी जीविका के लिए दिनरात कठिन परिश्रम करती है, सदा सुखी रहती हैं। प्रकृति की गोद में पली

१ बालमुकुन्द वर्मा मालती, (१६०४) काशी, पृष्ठ ५-६।
२ रामप्रसाद सत्याल किरणशशि, (१६०६), काशी, पृष्ठ ८२

व्रजमंजरी समाज के छल-कपट को नही जानती। वन पंछी जैसी वह स्वतन्त्र है। आरण्यकुसुम ऐसा उसमें स्वाभाविक सुन्दर, मधुरता तथा भोलापन है। व्यर्थ ही एवं अकारण ही वह किसी से लज्जा नही करती। कृत्रिमता एवं नखरे से वह पूर्णतया अपरिचित है।[१] उसका मुकुन्द से पिछले जन्म का प्रेम है, और उसकी आत्मा मुकुन्द को पाने के लिए छिटपटाती रहती है। बीच में ओंकार आश्रय बन जाता है, और दोनो का विवाह हो जाता है। व्रजमंजरी हिन्दी उपन्यासो मे भागवती के बाद दूसरी ऐसी नायिका है, जो आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी बन कर अपने जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करती है। मूल्यमर्यादा रहित जीवन जीने की उसमे आकांक्षा नहीं। गौरव, पवित्रता एव आदर्श उसके जीवन की विभूतियां हैं। उसमें सहनशीलता एव धैर्य है, उसकी धारणा है कि मरना जीना तो शरीर का धर्म ही है। जीवन मरण केवल मायामात्र है। सयोग, वियोग में क्या लगा है। हम लोग अपने यथार्थ को पहचानते नही, इसी से हाय ! हाय किया करते हैं।[२] उसमें सेवा-भाव है। उसका चरित्र चित्रण पूर्णतया यथार्थवादी ढग से विकसित हुआ है और यदि लेखक थोड़ी भावुकता एव व्यर्थ की जटिलता एव रहस्यात्मकता को मोह छोड पाता तो उसके यथार्थ का रग और भी गाढा होता तथा वह और भी स्वाभाविक रूप से चित्रित होती।

पं० टीकाराम तिवारी कृत 'पुष्प कुमारी', (१६१७ ई०) की नायिका पुष्पकुमारी प० रामचन्द्र की पुत्री है। वह कमलकिशोर को देखती है और उस पर मोहित होकर प्रेम करने लगती है। उससे विवाह करना उसकी हार्दिक इच्छा है। उसे पता चलता है कि अठारह वर्ष की आयु मे वह विधवा हो जाएगी, पर वह अपने विवाह से अटल निश्चय को परिवर्तित नही करती। नारायण स्वामी के निर्देशानुसार वह कठोर तप करती है। अंत मे उसे सफलता प्राप्त होती। इसका ग्रह टल जाता है और उसका कमल किशोर के साथ विवाह हो जाता है। उसकी तपस्या करने का ढंग पार्वती के समान है। उसका पतिव्रत धर्म सीता एव सावित्री के समान है। वस्तुत उसकी परिकल्पना का स्रोत में पौराणिक पात्र ही थे। लेखक के अनुसार, 'इधर बाल-विवाह की प्रथा दिन-ब-दिन उन्नति, धार्मिक शिक्षा का अभाव, उनके अन्त कष्ट के निवारण को कोई देशी व्यवसाय की देश मे न्यूनता आदि-आदि अनेकानेक कारणों से अपने देश की स्त्रियां, अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त हैं और इतना सब सहन करते हुए भी साम्प्रतकाल में जो नारी तुम समान अपना जीवन हिन्दू धर्म एवं समाज की रक्षा करते हुए व्यतीत कर रही है, वे धन्य-धन्य है।'[३] स्पष्ट है कि लेखक का उद्देश्य सुधारवादी था। वह समाज के सामने एक आदर्श रखकर नारियों को

१. व्रजनन्दन सहाय : आरण्यबाला, (१६१५), काशी, पृष्ठ १३१।
२ वही, पृष्ठ १६४।
३. टीकाराम तिवारी : पुष्पकुमारी, (१६१७), कलकत्ता, पृष्ठ १६०।

नैतिक उपदेश देना चाहता था। प्रारम्भ में इसे 'सनातन धर्म की शिक्षा, श्रद्धा तथा भक्ति' का उत्कृष्ट नमूना कहा गया है। ऐसी स्थिति में लेखक की रुचि जितनी उपदेश एवं आदर्श प्रतिष्ठापन की ओर रही है, उतनी पुष्पकुमारी के चरित्र चित्रण की ओर नहीं। लेखक उसके चरित्र चित्रण में असफल रहा है।

निरूपमा के चरित्र के सम्बन्ध में चार बातें मुख्य हैं। एक तो वह अत्यन्त ही सरल स्वभाव की निष्कपट नारी है। दूसरे उसमें दृढ़ इच्छा शक्ति का अभाव है। तीसरे उसे मानवमात्र के प्रति परम सहानुभूति है और चौथे वह पारिवारिक शृंखलाओं को विशृंखलित करने और रूढ़ियों को तोड़ने में अपने को असमर्थ पाती है, और इसलिए कुमार के प्रति मन ही मन प्यार रख कर भी वह स्पष्ट नहीं कर पाती और विवाह को दो व्यक्तियों के परस्पर सुख संतोष की समस्या समझ कर भी यामिनी बाबू से जिसे उसके स्वार्थी मामा ने वर मनोनीत किया है, तब तक विवाह करने को तत्पर रहती है जब तक कमल का सहयोग उसे नहीं मिल पाता और वह अपनी हार्दिक इच्छा की पूर्ति नहीं कर पाती। निरूपमा का चरित्र इन्हीं चार बातों को केन्द्र बिंदु मानकर स्पष्ट किया जा सकता है।

निरूपमा का हृदय बड़ा सरल है और उसकी दृष्टि में अजब सी मोहिनी शक्ति है, जो भी उसे देखता है, आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता। उसके प्रोफेसर भड़ककर उसे प्रेम पत्र लिखकर विवाह की इच्छा प्रकट करते हैं, पर वह पत्र अपने मामा को दे देती है, स्वयं उसका उत्तर नहीं देती। वह पत्र का उत्तर स्वयं दे सकती थी, या पत्र फाड़ कर फेंक भी सकती थी, पर उसकी सरलता अपने अभिभावक मामा से इस प्रकार का दुराव छिपाव नहीं करने देती। यही नहीं, कुमार बाबू को मन ही मन लिए जब वह काफी आगे बढ़ जाती है, तभी मामा उससे यामिनी बाबू को रुपये ऋण के रूप में देने का अनुरोध करते हैं और वह भोली निश्छल युवती की भांति उत्तर देती है—"मैं तैयार हूँ। मामा जी जब और जिस तरह देंगे, लेकर दे दूँगी। मैं मामा जी की किसी इच्छा का विरोध नहीं करती।"[1]

निरूपमा अपनी इसी सरल इच्छा शक्ति के कारण अपनी हार्दिक भावनाओं का पूर्ण होते नहीं देख पाती और विवशताओं में डूबती उतरती रहती है। मानव सुलभ दृढ़ता और निश्चय का उसमें पूर्ण अभाव है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उसे माँ बाप के स्नेह से शीघ्र ही वंचित हो जाना पड़ा था, और फिर मामा के परिवार में उसे स्वार्थ और छल-कपट के बीच में ही रहना पड़ रहा था। उसकी सहेली कमल ही पहली बार उसे मामा की स्वार्थ परक बातों की ओर सावधान करती है, पर वह चौंक कर भी चुप रहती है। कुमार बाबू को वह मन ही मन प्यार करती है पर अपने भाई सुरेश के सामने बराबर वह प्रयत्न करती है कि

1 सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला निरूपमा, (१९३६) इलाहाबाद पृष्ठ १२३।

वह उसकी हार्दिक भावना को ताड़ने न पावे। इसीलिए सुरेश के कहने से वह बराबर यामिनी बाबू से मिलती है, घूमने जाती है। कुमार बाबू के घर आती-जाती भी है, उसकी मा सावित्री देवी से घनिष्ठता भी स्थापित कर आती है, रामचन्द्र से भी जान-पहचान कर आती है, पर अन्त मे मामा के कहने से यामिनी बाबू से विवाह करने को प्रस्तुत हो जाती है। पर तभी उसे कमल का सहयोग मिलता है, वह उसमे दृढ इच्छा शक्ति उत्पन्न करती है, निश्चय की भावना भरती है और तभी निरुपमा मे एक दृढता आ जाती है और वह मामा का विरोध कर कुमार बाबू से विवाह कर लेती है।

निरुपमा अग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने पर भी रूढियो मे ग्रस्त है। प्राचीन हिन्दू सस्कार उसमे भरे पड़े है। वह जब अपने गाव जाती है तो उसके आगमन की प्रसन्नता मे भोज होता है। कुमार बाबू का छोटा भाई रामचन्द्र उस भोज मे अचानक ही निरुपमा से कुछ कहने आ जाता है। भोज मे आई स्त्रियाँ उसे प्रताडित करने लगती है, डाँटने-फटकारने लगती है कि जब गांव मे उनका हुक्का पानी बन्द कर दिया गया है, घूमने की मनाही है, तब वह यहां कैसे आ गया और निरुपमा विमूढ़ सी खडी रह जाती है। उसके हिन्दू सस्कार आगे बढ कर इन बातो का विरोध करने और रामचन्द्र की बातों को सुनने की मुमानियत सा कर देते हैं। यों निरुपमा को निर्धनो के प्रति पूरी सहानुभूति है और गाव की दुर्दशा देखकर उसे रोना आता है। वह जमीदारो का अत्याचार देखकर सुरेश से कहती है—"पर जबरदस्त कमजोर पर हमला न करे, इसका भी ख्याल सरकार रखती है और जमीदार को रखना चाहिए।"[1]

और, यही नही निरुपमा रामचन्द्र के लिए फीस की व्यवस्था कर देती है, सावित्री देवी के बाग उन्हें अपने कब्जे मे आ जाने के बावजूद भी वापस कर देती है। मालिकवा की मां को तीन बीघे माफी देने का प्रबन्ध करती है और जिन मकानो को सावित्री देवी ने रेहन रख दिया है, उसे छुडाने का भी प्रयत्न करती है। इन्ही सब कार्यो से वह सबका हृदय जीत लेती है। उसकी सुशीलता और उसका मृदु स्वभाव देखते ही बनता है। उसका व्यक्तित्व बड़ा ही सौम्य (Sober) है और बड़ा ही आकर्षक है।

वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास "कचनार" (१९४६) की नायिका कचनार भी इसी श्रेणी में आती है। कचनार दासी है, और उसे प्रचुर मात्रा मे सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। महाराज दलीपसिंह उससे प्रेम करते है, यद्यपि कचनार प्रारम्भ मे उसे स्पष्ट नही करती, पर वह इसे अस्वीकृत भी नही करती। वह अत्यन्त गम्भीर स्वभाव की है, और आत्माभिमानी है। उसमे संयम और विवेक की कमी नहीं है, इसीलिए दलीपसिह अनेक बार उसे अपने बाहुपाश में जकड़ लेना

---

१ सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", : निरुपमा : (१९३६), इलाहाबाद, पृष्ठ ७२।

चाहता है अपनी वासना वृत्ति का परिचय देता है, पर कचनार भावुकता में कभी फिसलती नहीं है। वह विवाह के पूर्व कभी इस प्रकार का गलत कदम नहीं रखती। इसी समय घटनाएं कुछ विचित्र प्रकार से घट जाती हैं। मानसिंह के षडयन्त्र से दलीपसिंह को मरा हुआ समझ कर मरघट श्मसान में फेंक आते हैं, और सब दलीपसिंह को मरा हुआ समझ लेते हैं। यहीं से कचनार का चरित्र दूसरा मोड़ लेता है, उसके जीवन की दिशा ही परिवर्तित हो जाती है। अब उसे अपनी वास्तविक स्थिति, प्रेम की गहनता का आभास होता है। उसे न तो वैभव की लालसा है न वह मानसिंह की बातों में आकर रानी बनने की ही इच्छुक है। उसमें वैराग्य की वृत्ति बढ़ जाती है, और वह जीवन से वैराग्य ले लेने की बात करती है।

प्रारम्भ में कचनार में अहं की प्रधानता है। उसमें विचित्र प्रकार का अहं है। दलीपसिंह जब भी अपने प्रेम का प्रस्ताव रखते हैं, वह खिंची खिंची सी रहती है और अपनी रानी कलावती के भविष्य का उस अहं पर आरोपित करती है, पर वस्तुस्थिति तो यह थी कि उसकी चारित्रिक ग्रंथि इस प्रकार की थी वह अपने अहं से प्रेरित हो दलीपसिंह के प्रेम को स्वीकार नहीं करती और कलावती के जीवन की बातें करती है, जब दलीपसिंह की मृत्यु की बात फैलती है तो उसके मन में पड़ी गाँठ खुल जाती है, और दलीपसिंह को न पाकर वह अपने जीवन के प्रति निराश हो जाती है। परिस्थितियों से विवश होकर वह वैराग्य धारण कर लेती है। कचनार के चरित्र में अनेक असंगतियां स्वयं लेखक ने ही जान अनजान में उपस्थित कर दी है। जिसके कारण कचनार का चरित्र बहुत अधिक आकर्षक या ऊपर नहीं जा पाया है। कचनार के चरित्र का जो भी आभास मिलता है उससे आश्चर्य होता है कि दलीपसिंह जैसे कामुक, लोभी और लम्पट व्यक्ति से वह कैसे प्यार करने लगी? और फिर जब वह एक स्थल पर कहती है—"मेरे साथ भाँवर डालिए। मुझको अपनी पत्नी की प्रतिष्ठा दीजिए। अपनी जीवन सहचरी बनाइए। वचन दीजिए। मैं आपके चरणों में अपना मस्तक रख दूँगी।"[1]

और वही कचनार अचानक ही दलीपसिंह के लिए अचानक इतनी व्यग्र हो जाती है कि आश्रम में सुमतपुरी के रूप में दलीपसिंह का आभास पा वह उस पर रीझ जाती है और बराबर घूम फिर कर उसी के सम्बन्ध में बात करती है या सोचती है। 'सुमतपुरी सा सादृश्य और कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता था। मीठा दर्द प्राप्त करता था, कसक और वियोग की सिहिर तथा इन सबको दमन करने की दृढ़ इच्छा। सुमन्तपुरी का बालकों जैसा भोला स्वभाव उसकी मातृभावना को कभी-कभी छू जाता था, इसलिये प्रयास करने पर भी वह कर्कश न बन पाई"[2] अर्थात् वह समन्तपुरी की उपेक्षा नहीं कर पाई। इस अन्तर्विरोध को लेखक कहीं भी स्पष्ट

१ वृन्दावन लाल वर्मा कचनार, (१९४७), झाँसी, पृष्ठ १५।
२ वही, पृष्ठ २८३।

नहीं कर पाया है इसलिये कचनार का चरित्र एक रहस्य ही बनकर रह गया है। यह वस्तुतः अतृप्ति और कुंठा से संघर्ष की कहानी ही है। अन्त में दलीपसिंह से कचनार का विवाह हो जाता है। वस्तुतः नारी प्रेम में अपनी पराजय नहीं स्वीकार करना चाहती तथा साथ ही वह अपने अहं को टूट कर बिखरते भी नहीं देखना चाहती। भारतीय नारियाँ प्रेम में एक पवित्रता चाहती हैं, तथा विवाह ही अन्तिम परिणति मानती हैं। प्रेम को वह जीवन में मनोरंजन का साधन नहीं समझती। कचनार के माध्यम से लेखक का उद्देश्य यही चित्रित करना था, जिसमें उसे पूरा सफलता प्राप्त हुई है।

प्रति हिंसा की भावना से प्रेरित प्रेम

मनुष्य वस्तुतः अपने अवचेतन मन का दास होता है। वह करना कुछ चाहता है, अवचेतन मन उससे कुछ और करवाता है। चूंकि हमारे चेतन मन की तुलना में अवचेतन मन अधिक शक्तिशाली होता है, अतः उसके सम्मुख हम विवश रहते हैं। इसलिए कभी-कभी लोग प्रेम का स्वांग रचते हैं। उनके अवचेतन मन से प्रेरित किसी भयकर प्रतिहिंसा का भाव उनके अन्तरमन में हिलोरें मारता रहता है, और अपने विरोधी को समूल रूप से नष्ट करने के लिए वे उसी से प्रेम का नाटक रच बैठते हैं, जिससे वे उसके अधिक निकट सम्पर्क में आ सकें, उसकी प्रत्येक बारीकियां उसकी भावनाओं तथा उसकी गतिविधियों से परिचित होते रहें और उसी के अनुरूप अपनी योजना बना सकें। कोई भी व्यक्ति अपने अहं को पराजित होते नहीं देखना चाहता, और न वह अपने को किसी दूसरे व्यक्ति की तुलना में हीन समझता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को दूसरों में श्रेष्ठ सिद्ध करने की चिंता में ही व्यग्र रहता है, और जब वह ऐसा नहीं कर पाता, तो उसकी भावनाओं को चोट पहुँचती है, और वह अपना तीव्र अपमान समझ कर बदला लेने की भावना तक पहुंच जाता है। विशेष रूप से वह व्यक्ति, जो भीतरी तौर पर तो हीनता की ग्रंथि (Inferiority Complex) से पीड़ित रहता है, पर ऊपर से प्रदर्शित यही करता है कि वह श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न है। इस बाहर और भीतर के बीच निरन्तर संघर्ष होता रहता है, और वह कभी-कभी भयंकर कृत्य करने को तत्पर हो जाता है। किसी की हत्या करना भी उसके लिए कठिन नहीं होता। प्रारम्भिक युग में जब उपन्यास कला का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था, और मनोविज्ञान एवं दर्शन का प्रवेश उपन्यासों में नहीं हुआ था, तब इन भावनाओं के चित्रण की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। पर जैसे-जैसे मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति का विकास होता गया, उपन्यासों में मानव की इन्हीं आन्तरिक प्रवृत्तियों को बल प्रदान किया जाने लगा, और आज तो यह पद्धति इतनी लोकप्रिय हो गई है, कि मानव मन की आन्तरिक भावनाओं के मनोविश्लेषण से रहित उपन्यास महत्वहीन समझे जाते हैं। आलोच्य-काल में प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर प्रेम करने वाली केवल एक ही नायिका इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास "पर्दे की रानी" (१९४१) में निरंजना के रूप में प्राप्त होती है।

निरंजना एक ऐसी नारी है, जिसमें हीनता का भाव (Inferiority Complex) प्रबल रूप से व्याप्त है। यद्यपि प्रारम्भ में वह बड़ी शान्त, गम्भीर और एकान्त पसन्द करने वाली अध्ययनशील युवती है, पर मनमोहन के सम्पर्क में आने, उसके प्रणय निवेदन करने और निरंजना द्वारा अपमान किये जाने के पश्चात् मर्माहत होकर जब मनमोहन उसके व्यक्तिगत जीवन का एक ऐसा रहस्य सूत्र उसे बताते हैं, जिसे सुनकर निरंजना चौंक ही नहीं जाती, अपितु उसके अनुसार 'मेरी तन्मयता की स्थिति में जब विविध भावों के उद्वेलन के साथ यह विचार तरंग मेरे मस्तिष्क से टकराई कि मैं एक वेश्या माता और खूनी पिता की लड़की हूं, तो कुछ ही क्षण बाद मेरी समस्त आनन्दानुभूति फिर से एक मृत्युमयी छाया से म्लान हो गई। प्राय पाँच वर्षों से यह भावना निरन्तर प्रतिपल मेरे जाने में या अनजाने में एक ऐसे भयंकर भूत की तरह मेरे मन पर सवार रहती थी जो किसी भी हालत में मुझे छोड़ना नहीं चाहता था। जब तक मेरा सचेत मन उसे भूला रहता था (जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूं, मेरी अन्तश्चेतना उसे एक क्षण के लिए भी नहीं भूल पाती थी) तब तक फिर भी गनीमत थी, पर ज्यों ही वह किसी बहाने से चोरी छिपे मेरे मन की ऊपर सतह पर आ पहुंचती, त्योंही मेरा सारा व्यक्तित्व एक भीषण भूकम्प के से आन्दोलन से ग्रस्त व्यस्त हो उठता था और मेरे मन में तत्काल यह राक्षसी इच्छा जाग उठती थी कि किसी को काट खाऊं। इस बार भी वही हाल हुआ। जिस ऊंचे विचार लोक में अपने को कुछ समय के लिए ले जाने में समर्थ हुई थी। पूर्वोक्त भूत-भावना के जगते ही मैं वहां से गिर कर बहुत नीचे एक ऐसे गड्ढे में जा गिरी जहाँ शैतान का अखण्ड अड्डा था।'[1] इस प्रकार धीरे-धीरे निरंजना में एक भयंकर हीनता का भाव जन्म ले लेता है, जो उसमें प्रतिहिंसा उत्पन्न कर देता है, और वही प्रतिहिंसा शीला की हत्या, और इन्द्रमोहन की आत्महत्या का कारण बनता है।

निरंजना में कदाचित् वेश्या कन्या होने के कारण ही विचित्र संस्कार हैं और वह एक दो नहीं एक साथ कई व्यक्तियों से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने की हार्दिक लालसा रखती है। किन्तु इन्द्रमोहन को वह प्रमुख रूप से अपनी ओर आकर्षित करती है। एक तो उसके मन में इन्द्रमोहन के पिता मनमोहन जी को जलाने और नीचा दिखाने की भी इच्छा वर्तमान है, दूसरे वह स्वयं स्वीकार करती है कि पुरुषों को रिझाने और जलाने में उसे आनन्द (कदाचित् अपने वेश्या संस्कारों के कारण।) प्राप्त होता है। उसकी चेतना शक्ति में इन्द्रमोहन के प्रति तीव्र व्यंग्य और घृणा की भावना व्याप्त रहती है पर उसका अवचेतन मन इसके ठीक विपरीत रहता है। वहाँ इन्द्रमोहन के प्रति घृणा या व्यंग कुछ भी नहीं होता वहाँ इन्द्रमोहन को रिझाने की प्रवृत्ति होती है, अपनी ओर आकर्षित करने की भावना होती है। वास्तव में उसके चरित्र में अन्तर्निहित एक विध्वंसकारी प्रवृत्ति है जो पुरुष को अपनी ओर आकर्षित

---

१ इलाचन्द्र जोशी पर्दे की रानी (१९४१), इलाहाबाद, पृष्ठ १७३।

करके उसे विनाश मार्ग की ओर ढकेल देने के मूल मे क्रियाशील होती है। यही नही वह अपनी प्रिय सहेली शीला का भी सुख नही देख पाती और उसके विवाहित जीवन को झुलसा देती है। शीला इन्द्रमोहन की पत्नी है, और यह विवाह इन्द्रमोहन ने मात्र इसलिए किया था जिससे वह निरजना के समक्ष अपनी चरित्रता का परिचय दे सके। और जब निरजना इन्द्रमोहन द्वारा शारीरिक सम्पर्क स्थापित करने के निवेदन पर कहती है, "नही, इन्द्रमोहन जी, जब तक शीला जीवित है, तब तक आप मुझ से हर्गिज इस तरह की आशा न करे, यह असम्भव है। यदि आप बहुत उतावले है, तो लीजिए मेरा यह हाथ अपने होठो से लगा लीजिए।[1]" वह अच्छी तरह जानती थी कि इन्द्रमोहन के जीवन का एक ही उद्देश्य है उसका शील भग करना, और उसके इस कथन का उस पर क्या प्रभाव होगा ? परिणाम वही हुआ, जिसकी कल्पना स्वयं निरजना को भी मन ही मन थी, शीला की हत्या हो जाती है, इन्द्रमोहन और निरजना का रास्ता साफ हो जाता है।

यही नही कि, निरजना का अपनी उस भयंकर वृत्ति का, जो सबका नाश चाहती थी, पता न था, वह जानती थी। आंतरिक वृत्तियो को सुशिक्षित होने के कारण आत्मविश्लेषण के माध्यम से समझ भी लेती है, पर अवचेतन मन पर स्वाभाविक रूप से उसका कोई नियन्त्रण नही रहता है, और अपनी अन्त: प्रेरणाओ के हाथो वह कठपुतली की भांति नाचती रहती है, उसकी स्वाभाविक इच्छाए, उसकी नैतिकता, और उसकी सस्कृति का कोई महत्व नही रह जाता। शीला—से उसे स्नेह मिलता है, निश्चल प्रेम मिलता है, जो एक प्रकार से, माँ के अभाव की पूर्ति भी किसी सीमा तक करता है। निरंजना भी, जब तक उसे यह रहस्य नही ज्ञात होता कि उसकी माँ एक वेश्या थी, शीला के जाने-अनजाने अपनी माँ का प्रतीक स्वरूप समझ बैठती है और उसके प्रेम करती है उसी भावना से पर रहस्य उद्घटित होने पर जिस प्रकार उसे अपनी मृत माँ से भयंकर घृणा होती है, उसी प्रकार प्रतीक स्वरूप शीला के प्रति भी उसके मन मे भयकर घृणा के भाव उत्पन्न हो जाते है, और अन्त मे अज्ञात रूप से उसी के निर्देशन पर इन्द्रमोहन द्वारा शीला की हत्या से मानो वह अपनी माँ से बदला ले लेती है, उसकी आत्मा को शांति पहुचती है। हालाकि वह पहले (रहस्य के ज्ञात होने के पूर्व) यह नही चाहती थी। वह स्वय कहती है, "मेरे मन के किसी विकृत से भी विकृत कोने मे इस इच्छा का लेश भी वर्तमान नही था कि वह किसी समय एकात मे आकर मुझसे मिले। शीला की उपस्थिति मे ही उनसे दिल खोलकर हसने बोलने और उन्हे बनाने से मेरे विकृत उद्देश्य की पूर्ति पूर्णमात्रा मे हो जाती थी।—इससे अधिक मै कुछ नही चाहती थी। मै केवल शीला के मन के बाहरी स्तर को हल्की सी चोट पहुँचाना चाहती थी और एक मीठी आंच से इन्द्रमोहन जी के हृदय को मन्द-मन्द जलाना चाहती थी—बस।

१. इलाचन्द्र जोशी : पर्दे की रानी : (१९४१), इलाहाबाद, पृष्ठ १८७।

प्रारम्भ में नाममात्र को भी यह इच्छा मेरे मन में वर्तमान न रही कि शीला की गृहस्थी उजाड़ कर समूल नष्ट कर डालूं।" इन्द्रमोहन निरंजना के सम्पर्क में इसीलिए आया था कि वह उसका अहं तोड़ सके। दोनों पक्ष बलशाली थे, प्रारम्भ में कोई पराजय स्वीकार करने को तत्पर नहीं होता पर अन्त में इन्द्रमोहन निरंजना को पराजित कर ही देता है उसका अहं तोड़ देता है, पर स्वयं अपने अहं को तोड़ कर! वह ट्रेन के निर्जन एकान्त में निरंजना की सहमति से उसका कौमार्य खण्डित करने में सफल हो ही जाता है।

ट्रेन दुर्घटना से निरंजना गर्भवती हो जाती है, जिससे वह अपने जीवन के प्रति और भी निराश हो जाती है और विदग्धता की अग्नि में जलती रहती है। गुरु जी उसे मानसिक शान्ति प्रदान करने की चेष्टा करते हैं। अन्त में निरंजना में प्रथम बार सुख शान्ति और आशा का संचार होता है। यह उपन्यास मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर लिखा गया है और निरंजना की परिकल्पना में लेखक का प्रमुख उद्देश्य यह चित्रित करना था कि अवचेतन मन से प्रभावित कोई मानव कितना भयंकर बन सकता है और अपना पशु सुलभ विवेक भी भूल जाता है, नहीं तो क्या निरंजना शीला की हत्या और इन्द्रमोहन की आत्महत्या का कारण बनती? निरंजना के चरित्र प्रकाशन में जोशी जी ने पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है वे आत्मपीड़न से युक्त एवं पूर्ण असफल नारी का सजीव चित्रण कर सके हैं।

प्रेम और सेक्स

पश्चिम में प्रेम और सेक्स दो अभिन्न बातें समझी जाती हैं। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में वही धारणा भारतीय विचार धारा में भी शक्ति प्राप्त करने लगी और यहाँ भी प्रेम को सेक्स के साथ संयुक्त करके देखा जाने लगा। कुछ लोग स्वभाव से ही अत्यधिक विषयी एवं सेक्स प्रधान होते हैं। वात्स्यायन ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ काम सूत्र में बताया है कि नारियों में पुरुषों की तुलना में १०० प्रतिशत अधिक तीव्र काम वासना की भावना होती है। वे अपनी इस काम वासना की शान्ति के लिए पुरुषों से प्रेम का स्वांग रचती हैं। उस प्रेम का एकमात्र उद्देश्य सेक्स की पूर्ति ही होना है। भारत में जब आधुनिकता का प्रसार हुआ और नारियाँ सभा समाजों में आने जाने लगीं, तो उनकी इस भावना को वहाँ अधिक प्रश्रय मिला। वे पुरुषों के निकट सम्पर्क में आईं, बातचीत करने, उठने बैठने, साथ घूमने आदि की स्वतन्त्रता मिली तो उसके साथ ही सेक्स की प्रवृत्ति को भी बल मिला। फैशनपरस्त नारियों का तो यह एकमात्र उद्देश्य ही हो गया। क्लब सिनेमा आदि में आने जाने लगीं और नित्य नए-नए पुरुषों से सम्पर्क स्थापित करने लगीं। इससे समाज में बड़ी अस्वास्थ्य प्रद स्थिति उत्पन्न हो गई और नारियों में नैतिकता का तीव्रता से पतन होने लगा। वे परिवार और परिवार के लोगों को कोई महत्व नहीं देना चाहती थीं। अपनी प्रगतिशीलता की धुन में वे अपने पिता तक की उपेक्षा करने और उन्हें

अपमानित करने को तत्पर हो जाती थी। इससे उन भारतीय परम्पराओं को जबर्दस्त आघात पहुँचा, जिसके अनुसार नारियों के लिए परिवार का बड़ा महत्व होता था। इससे एक अन्य हानि यह हुई कि वही गन्दी भावना आगे की आने वाली नई पीढ़ी के लिए मार्ग दिखाती गई। हिन्दी उपन्यासों में इस प्रकार की नायिकाओं की कुछ कल्पनाएं की गई जिनमें यशपाल के उपन्यास "दादा कामरेड" (१९४१) की नायिका शैलबाला प्रमुख है, जो सेक्स को ही अपना जीवन समझती है।

शैलबाला एक पूंजीपति लाला ध्यानचन्द की पुत्री है और एम० ए० की छात्रा है। वह क्रान्तिकारी हरीश से सहानुभूति रखती है, स्वच्छन्द विचारों की है। और "एडवान्स" इतनी कि यशोदा के घर में कुर्सी न होने पर हरीश की कुर्सी की बाँह पर बैठने के प्रयत्न में फिसल कर हरीश की गोद में जा पहुँचती है।

शैला कुछ इस तरह से रहती है कि जैसे उसकी मन स्थिति पर दुख के भयावने बादल आच्छादित हो। पर दुख प्रकट करने से होता भी क्या है? लोग सुख तो बाँट लेते हैं पर दुख बाँटने को कोई तत्पर नहीं होता। शैला इसीलिए हमेशा बाहर से प्रसन्नचित्त रहने की कोशिश करती है। पर इसके कारण उसके स्वभाव में अजब सी बेपरवाही और व्यवहार में असाधारणता सी आ जाती है? शैला के जीवन में प्रेम ही प्रेम है। वह प्रेम को ही जीवन मानती है। "...मेरे तो होश सभालने के दिन से ही मेरे जीवन में प्रेम रहा है। और शायद जीवन रहते उससे छुटकारा भी न होगा। जब छोटी थी, अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रेम करती थी। समझ आने पर प्रेम का क्षेत्र भी बढ़ा। अर्थात् प्रेम को अधिक देने और उसमें अधिक पाने की इच्छा होने लगी। जब वह पूरी नहीं हो पाती, निराशा और क्लेश होने लगता है।...[१]"

शैला अपनी इसी इच्छा की पूर्ति के लिए बराबर तत्पर रहती है। पर उसका दर्शन खोखला है। प्रेम में जब प्राप्य की इच्छा होती है तो वह स्वार्थ बन जाता है। प्रेम में होती है पवित्रता और उसके साथ ही होता है परस्पर विश्वास। पर जहाँ प्रेम में वासना या शारीरिक सम्बन्ध की इच्छा आ जाती है, वहीं प्रेम नीचे गिर जाता है। शैला भी एक के बाद एक प्रेम करती है और सबके साथ शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित करती है। उसका पहला सम्बन्ध अपनी सहेली के भाई से होता है जो शारीरिक सम्बन्ध स्थापित होने के पश्चात् भाग चलने को कहता है, पर पिता जी का "मोह" शैला को ऐसा न करने के लिये विवश कर देता है फिर वह उसे एक दवाई देता है जिससे कोई अनिष्ट न हो। इस प्रकार महेन्द्र और फिर खन्ना से वह प्रेम करती है। खन्ना के सम्पर्क में आने पर तो उसका जीवन ही "खन्नामय" हो जाता है। शैला जो कुछ भी करती है वह समाज के अधिकांश लोगों को मान्य नहीं है। इतनी स्वच्छन्दता, नारी की इतनी "असाधारणता" समाज ने

१. यशपाल : दादा कामरेड, (१९४१), लखनऊ, पृ० ३१।

कभी नहीं सहन किया है। शैला को इसीलिये समाज से शिकायत है, "जीवन के सब भाग समाज में बंद पाकर मुझे सबसे अधिक खिजलाहट समाज के प्रति होती है।"[1]

शैला विवाह क्यों नहीं करती है, इसके स्पष्ट कारण है। यशपाल भले ही खुलकर न कह पाए हों, पर यह सच है कि शैला उन लड़कियों में से है जो अपनी कामना की तृप्ति के लिए विवाह जैसी चीजों से घृणा करती हैं। वह जीवन में रोज नई ताजगी चाहती है और विवाह कर एक सीमित दायरे में रहना पसन्द नहीं करती। हरीश के साथ एक विवाद में शैला कहती भी है, "संतान और वंश की रक्षा के इलावा और भी बहुत कुछ जीवन में है"[2]—' और वह "बहुत कुछ' जीवन में क्या है? सिर्फ नये व्यक्तियों से रोज के सम्पर्क और उनके साथ शारीरिक सम्बन्ध, यह शैला के कृत्य स्वयं ही सिद्ध कर देते हैं। इस उपन्यास में यशपाल ने फ्रायड के तथाकथित यौनवाद का अत्यन्त विकृत रूप उपस्थित किया है। जहाँ कभी हरीश और शैला से हम सहानुभूति सी होती है, उनके क्रान्तिकारी विचार हमें उत्तेजित भी करते हैं, वहीं दूसरी ओर उनमें हम घृणा सी होने लगती है। यशपाल की शायद धारणा है कि क्रान्तिकारियों के जीवन में भी नारी का आकर्षण होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि उसके बिना तो जीवन की पूर्णता हो ही नहीं सकती। नारी का यह आकर्षण हानिप्रद नहीं होता, किसी की प्रगति कुंठित नहीं करता, किसी के विकास का मार्ग अवरुद्ध नहीं करता। क्योंकि 'यदि पुरुष के जीवन—विकास में स्त्री का आकर्षण विनाशकारी हो तो प्रकृति यह आकर्षण पैदा ही क्यों करती? जिन वस्तुओं से मनुष्य के जीवन को भय है उनसे वह डरता है, दूर भागता है। परन्तु पुरुष स्त्री की ओर दौड़ता है, मानो उसके जीवन में कोई कमी है, जिसे वह पूर्ण करना चाहता है।'[3] यही कारण है कि यशपाल के विचारों को उपन्यास के माध्यम से प्रकट करने वाला (?) हरीश भी कदाचित अपने क्रान्तिकारी जीवन में इसी कमी को महसूस करता है और उसकी यह धारणा बराबर बनी रहती है, मैं कुछ भी न करूंगा, मैं केवल जानना चाहता हूं स्त्री कितनी दूर होती है। मैं

१ यशपाल दादा कामरेड, (१९४१), लखनऊ, पृ० ६४।

२ वही, पृ० ३०।

३ यशपाल दादा कामरेड (१९४१), लखनऊ, पृष्ठ १५५।

यद्यपि यह जीवन दर्शन का अनोखा तर्क शैला की निर्दोषिता प्रमाणित करने के लिए ही अभिव्यक्त किया गया है, पर अधिक गहराई से जांच करने पर इस तर्क का खोखलापन स्वतः सिद्ध हो जायगा। मानव नारी की ओर इसलिए भागता है, कि वह अपनी अशांति, व्यस्तता से घबराकर मातृत्व की जिस छांव में विश्राम चाहता है, उसका विराट् रूप नारी में प्राप्त करता है, न कि सेक्स भावना से प्रभावित होकर।

स्त्री के आकर्षण को पूर्ण रूप से अनुभव करना चाहता है और अपनी इसी इच्छा की पूर्ति के लिए वह शैला से नग्न होने का निवेदन करता है। शैला अपनी सारी "प्रगतिशीलता" के बल पर हरीश की इस इच्छा की पूर्ति करती है क्योंकि "मृत्यु के मुख मे फंसा हुआ यह लड़का जो बात कहता है, उसकी उपेक्षा कैसे की जाय ?"

निःसंदेह ऐसे प्रसंगो ने न जाने कितने प्रगतिशील पाठकों को उत्तेजित किया होगा और शैला जैसी स्वच्छन्द "त्यागशील", "ममतामयी", और अपने प्रेमी के लिए कुछ भी कर सकने वाली लड़की की तलाश मे अपना सर फोड़ लिया होगा। यशपाल की कल्पनाओं का समाज सचमुच बहुत प्रगतिशील रहा होगा जहाँ पुरुष किसी नारी से नग्न होने को कहेगा और नारी उसकी विवशताओं का ध्यान रखते हुए उसकी इच्छा की पूर्ति करेगी। उनके समाज मे ऐसा निरन्तर होगा, क्योंकि काम वासना की भावना तो प्राकृतिक है और प्रत्येक मनुष्य भी किन्हीं न किन्हीं विवशताओं में फंसा रहता है, फिर प्रेमी की किसी इच्छा को कैसे ठुकराया जाय, प्रेम कलंकित न हो जायगा ? और फिर नारी पुरुष की इच्छाओं को ठुकरा भी कैसे सकती है ? यशपाल की कल्पनाओं की नारी की सुन्दरता नारी के पूर्ण नग्न होने पर ही दृष्टिगोचर हो सकती है। उनकी दृष्टि नारी के गोरी मासल बाहों और उसके नग्न होने तक ही सीमित रह गई। नारी की आन्तरिक भावनाओं, उसके त्याग, ममत्व, एवं पवित्र स्नेह की ओर गई ही नहीं और जा भी कैसे सकती है ? यशपाल प्रगतिशील लेखक है, और नारी में त्याग, ममत्व, स्नेह तो रूढ़िवादी परम्पराओं के प्रतीक है (?) प्रगतिशील कहां है ? प्रगतिशील नारी का रूप तो बस शैला ही है।

पूरे उपन्यास में शैला का चरित्र इस प्रकार का है, उसका आचरण इस प्रकार का है, उसकी व्यवहार प्रक्रियायें इस प्रकार की हैं जो पाठकों की चरम उत्तेजना का कारण बनती हैं। उसमे सब कुछ सेक्स ही है। राबर्ट के प्रसंग मे जाने ऐसे कितने स्थल आए हैं जिसमे शैला का व्यवहार भले ही यशपाल के लिए प्रगतिशील हो पर भारतीय समाज के लिए वह अवश्य ही अशोभनीय है। यहाँ यह कहने का तात्पर्य बिल्कुल नहीं है कि मैं रूढिवादी हूँ। नारी की स्वतन्त्रता का सभी स्वागत करते हैं, पर ऐसी भी स्वतन्त्रता किस काम की, कि वह नारी को उच्छृंखल बना दे। और इस पर आवरण डालने के लिए उसने आधार बनाया है सार्वजनिक जीवन को। यह स्पष्ट है कि यदि हरीश का आकर्षण न होता तो सार्वजनिक जीवन को हाथ न लगाती। नैनसी ठीक ही सोचती है, "इनका सम्पूर्ण सार्वजनिक कार्य केवल उच्छृंखलता का बहाना है। हरीश पर डोरे डालने के लिए हमारी कोठी को अड्डा बना लिया है.....[1]" वही शैला जो पहली बार महेन्द्र से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बावजूद भी महेन्द्र के साथ सिर्फ इसलिए नहीं भाग जाती कि उसकी राह में पिता का मोह, उनका स्नेह आ जाता है। उस समय शैला की मनः स्थिति स्पष्ट न थी,

१. यशपाल : दादा कामरेड, (१९४१), लखनऊ, पृ० १६८।

अपने भावी जीवन की एक स्पष्ट तस्वीर उसके सम्मुख न थी। पर जब उसने जिन्दगी देखी नित नए अनुभव प्राप्त किए तो पिता का सारा स्नेह, सारा मोह जाने कहाँ किस गहराई में डूब गया। आगे चल कर हड़ताल की झंझट (या हरीश को बचाने की फिक्र ?) के कारण उसे घर लौटने में प्राय देर हो जाती थी। पिता को अपनी प्रतीक्षा में बैठे देख वह शरम से मर जाती, परन्तु बेबस थी। उसकी बेबसी क्या थी ? हड़ताल की सफलता ? या देश की चिन्ता ? सत्य तो यह है कि हरीश से मिलने की उत्सुकता, उसको बचाने के लिए प्रयत्न की गतिशीलता ही उसकी बेबसी थी। और पिता को जब इस बेबसी का कोई ख्याल न हुआ, तो वह घर छोड़ने पर, पिता की कौड़ी पाई तक न लेने का निश्चय कर लेती है। कभी सुनने में आया था, नारी मनुष्य के विकास की प्रेरणास्रोत होती है। पर इस उपन्यास में वह नहीं है, इस मान्यता को झूठा करार दिया गया है। शैला द्वारा हरीश को महत्ती कार्यों, देश की स्वाधीनता की प्राप्ति में योगदान देने की प्रेरणा देने का ढंग भी निराला है। हरीश शैला के घर में पनाह माँगता है। वह शैला के साथ ही चारपाई पर लेट जाता है। उसकी चेष्टाएं सीमा को लाँघने लगीं। शैला का शरीर सिहर उठता है। परन्तु प्रत्येक सिहरन से वह हरीश के और भी समीप हो जाने का यत्न कर उसे आलिंगन में और भी अधिक बल से जकड़ लेती। उसे भय था कि हरीश का भटका हुआ मस्तिष्क कहीं फिर उन चिन्ताओं में न फँस जाय।[१] समझ में नहीं आता, क्या मनुष्य को गहन चिन्ताओं से विमुख करने के लिए सेक्स की ही आवश्यकता होती है ? और वह भी देश को स्वाधीन बनाने की चिन्ता ? तब तो देश के सभी राजनीतिक नेताओं के व्यक्तिगत जीवन को हमें फिर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा करनी होगी, और यशपाल की मान्यताओं के आधार पर यह प्रतिपादित करना होगा कि विश्व में राजनीतिक नेता जो इतना चीखा चिल्लाया करते हैं। इस कैम्प से उस कैम्प तक, इस स्कूल से उस स्कूल तक, इस सीमा से उस सीमा तक जो सनातनी का वातावरण उत्पन्न हो गया है। शीत युद्ध (Cold War) की सम्भावनाएं जरा जरा सी बातों पर उत्पन्न होती हैं, उन सबके निराकरण का एकमात्र उपाय है, कि विश्व के सभी राजनीतिक नेताओं के लिए उस देश की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी की व्यवस्था कर दी जाए, (तब Beauty Competitions का महत्व बढ़ जायगा) जिससे कि अनर्गल प्रलापों की ओर उनका ध्यान ही न जाए और वे अपने अपने "देश की चिन्ता" से भी मुक्त हो जायं।

या प्रेम और कर्त्तव्य में कर्त्तव्य को ही विजय मिलती आई हैं। पर शैला के सम्मुख अनोखी ही समस्या थी। "एक ओर हरीश के प्रति उसका प्रेम, उसकी वफादारी उसे खींचती, दूसरी ओर पिता के प्रति कर्त्तव्य।" और अन्त में प्रगतिशील शैला का प्रेम जीत जाता है, कर्त्तव्य ओछा पड़ जाता है। क्योंकि जीवन की शृंखला

१ यशपाल दादा कामरेड (१९४१), लखनऊ, पृ० १७०।

को तो जारी रहना है। पीछे की-ओर फिर-फिर कर देखने से ही काम नहीं चलेगा, उसके लिए आगे की ओर भी देखना होगा।" शैला को अविवाहित जीवन में ही गर्भ रह जाता है, पर शैला को इससे कोई दुःख नहीं है, क्योंकि "···मेरा मार्ग साधारण प्रथा के मार्ग से अलग रहा है।···जो कुछ भी मैंने किया, विचारों के भेद के कारण ही ··मैं अपने किसी भी काम के लिए अपनी बुद्धि के सामने लज्जित नहीं हूं। मुझे पछतावा भी नहीं है।" शैला का पूर्ण जीवन इस प्रकार अतृप्त आकांक्षाओं, दमित-शमित भावनाओं का बलबलाता सैलाब, और वासना एवं हवस की कहानी है। इसीलिए वह अपने प्यार में सफल नहीं हो पाती। हरीश ने क्रांतिकारी जीवन छोड़ दिया था। वह समाज में रहकर सेवा करना चाहता था। गृहस्थ लोग क्या सेवा नहीं कर सकते? या नहीं करते हैं? फिर शैला ने हरीश के साथ अपना घर संसार बसाकर हरीश को क्यों नहीं उस प्रकार का जन-सेवक बनाने का प्रयत्न किया? इसका एक ही उत्तर है, शैला में इतना नैतिक बल ही नहीं था। उसमें भारतीय नारीत्व के वे गुण नहीं थे, जो हरीश को आदर्श दृढ़ता से परिपूर्ण व्यक्तित्व प्रदान करते। शैला की परिकल्पना में लेखक को पश्चिम के बढ़ते हुए आदर्श और वहाँ के प्रेम एवं सेक्स के समन्वय से बड़ी प्रेरणा प्राप्त हुई है, पर शैला के माध्यम से उसने समाज की अस्वस्थ मान्यताओं को बल दिया, तथा नारियों के समक्ष एक आदर्श उपस्थित करने के बजाय उन्हें गलत दिशा में ले जाने का प्रयत्न किया है।

प्रेम एवं आदर्श का संघर्ष

पीछे यह स्पष्ट किया जा चुका है, कि भारतीय नारियों में प्रेम की पवित्रता बड़ी महत्वपूर्ण चीज होती थी, और पश्चिमी सभ्यता के आने के पश्चात् भी अधिकांश नारियाँ प्रेम में एक आदर्श की स्थापना के लिए प्रयत्नशील होती थी, और जब भी प्रेम एवं आदर्श में संघर्ष उपस्थित होता था, तो विजय आदर्श की ही होती थी। यहाँ तक कि क्रान्तिकारी कार्यों में भाग लेने वाली नारियाँ जेल में जाकर अपने प्रेमियों को विष तक दे आया करती थी। जब भी कोई प्रेमिका अपने प्रेमी को आदर्श से नीचे गिरते देखती थी, सिद्धान्तों की हत्या करते देखती थी, तो वह उसे सुधारने की चेष्टा करती थी, यदि असफल रहती तो वह प्रेम सम्बन्ध तोड़ देती थी। ऐसी नायिकाओं में कमला (कमलिनी) तथा पूर्णिमा (स्वाधीनता के पथ पर) प्रमुख हैं।

जैनेन्द्र किशोर कृत १८९२ ई० में प्रकाशित उपन्यास "कमलिनी" की नायिका मदन-मोहन से आदर्श प्रेम करती है, और मदनमोहन के आग्रह पर भी विवाह के पूर्व वह शारीरिक सम्बन्ध नहीं स्थापित करती तथा मदनमोहन को आदर्श पथ पर चलने की प्रेरणा देती है। वह अन्त तक आदर्श पथ का अनुसरण करती है, तथा पतन के गर्त में नहीं गिरती। उसका चरित्र भी उपन्यासकार ने स्पष्ट नहीं किया है।

गुरुदत्त कृत 'स्वाधीनता के पथ पर' (१९४२) की नायिका पूर्णिमा भी इसी प्रकार की नायिका है। पूर्णिमा ने इन्टर तक परीक्षा पास की थी। उसे संगीत और नृत्य के प्रति भी विशेष रुचि थी, और उसने नृत्य कला में काफी परिश्रम भी किया था। वह पढ़ाई छोड़ अपने भाई के साथ एक क्रांतिकारी दल में सम्मिलित हो जाती है, और आतंकवादी कार्यों में भाग लेती है। यद्यपि उसका ख्याल है कि प्रत्येक हिन्दू कन्या को विवाह नहीं कर लेना चाहिये। पर विवाह को ही केन्द्र बिन्दु मानकर मधुसूदन नामक ब्राह्मण युवक से प्रेम करती है। उसके चरित्र की यह दृढ़ता उस समय और भी स्पष्ट होती है, जब वह कहती है—'मैंने जिस काम की शिक्षा प्राप्त की है उससे मेरा निर्वाह भली भाँति हो सकता है। घर-गृहस्थी के लिये न तो मैंने शिक्षा प्राप्त की है, और न ही मुझे उसमें रुचि है'।"

फिर प्रश्न सहज ही उठता है कि पूर्णिमा मधुसूदन को लेकर विवाह के सपने क्यों देखा करती थी? क्या केवल वासनात्मक दृष्टिकोण के लिये ही? या विवाह के पश्चात् केवल मित्र बनकर रहने के लिए? सारे उपन्यास में इसका कहीं उत्तर नहीं मिलता। वह हिन्दू नारियों की भाँति घर में बैठकर जीवन व्यतीत करना नहीं चाहती थी। वह नई रोशनी में पला थी और इसीलिए पुरुषों के साथ निःसंकोच घूमने बैठने या बात करने में उसे कुछ भी अजीब नहीं लगता था, बल्कि यह उसकी रुचि के अनुकूल भी था। क्योंकि वह अपने आपको उचित ही स्वतन्त्र और प्रगतिशील समझती थी, जितना कि कोई यूरोपियन महिला। लेकिन इन परिस्थितियों में भी वह अपने चरित्र पर किसी भी प्रकार का कलंक न लगने देना चाहती थी। वह अपने को भ्रष्ट नहीं होने देना चाहती थी, और अपने सतीत्व पर दृढ़ थी।

जब जाति पाँति के बन्धन और मधुसूदन के पिता की धर्मान्धता के कारण पूर्णिमा को विवाह की कोई आशा न दिखाई दी, तो वह पूर्ण रूप से निराश हो जाती है उसे अपनी परिस्थितियों पर रोना आता है, उसकी आत्मपीड़ा, व्यथा उसके मनोभावों को परिवर्तित कर देते हैं। पहले वह आतंकवाद में गहन आस्था रखती थी, किन्तु बाद में वह गाँधीवाद में विश्वास करने लगती है। उसे इन विप्लवकारी कार्यों से घृणा हो जाती है और वह अहिंसावाद को अपना लेती है। वह कांग्रेस की सदस्या बन जाती है और थोड़े ही दिनों में एक सफल नेता भी बन जाती है। जलसों में उसे आमन्त्रित किया जाता, जुलूसों में वह आगे रहती। उसे हिंसात्मक प्रवृत्तियों से इतनी घृणा हो जाती है कि एक जुलूस में जब उसके पुराने दल का एक सदस्य कमल पुलिस इंसपेक्टर को गोली मारता है, तो वह धक्का देकर बचा लेती है, और खुद उस गोली का शिकार हो जाती है। फिर भी वह उसे पकड़वाने को तैयार नहीं होती, क्योंकि, "... भूल सुधारने का मेरे पास एक ही उपाय है और वह है अपने पर कष्ट सहना। उन पर कष्ट न आने देना"।"

१ गुरुदत्त स्वाधीनता के पथ पर नई दिल्ली, पृष्ठ ४४।
२ वही पृष्ठ ३२६।

अपने इसी अहिंसा व्रत के झोंके में वह मधुसूदन से विवाह करने मे हिचकती है जो जेल से भागा हुआ है और पूर्णिमा की दृष्टि में जेल से भागना कायरता है, अच्छा नहीं है। अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है। पूर्णिमा की कल्पना में गुरुदत्त का उद्देश्य उन आगे आने वाली नारियों का चित्रण करना था, जो राजनीति मे भाग लेकर देश को स्वाधीनता दिलाने के महान् व्रत में प्रयत्नशील थी। लेखक का उद्देश्य नारियों के सम्मुख एक आदर्श रखने का था कि वे भी पूर्णिमा के समान राजनीति के क्षेत्र मे आएं, अपने उत्तरदायित्व को पहचानें, तथा जी-जान से स्वाधीनता आन्दोलन को शक्ति प्रदान करें। जो नारियां क्रांतिकारी दलों में भाग लेती थी, उन्हें अधिकांश रूप में पुरुषों के साथ काम करना पड़ता था। नारी और पुरुष के सहज आकर्षण के अनुरूप ही उनका किसी न किसी से प्रेम स्थापित हो जाता था, और फिर जीवन-पर्यन्त उनको विचित्र से संघर्ष के मध्य से होकर गुज़रना पड़ता था। पूर्णिमा भी इसी प्रकार की एक नारी थी और लेखक को इस दृष्टि से उसके चरित्र के प्रकाशन मे यथेष्ट मात्रा मे सफलता प्राप्त हुई है। पर जहां तक एक आदर्श का प्रश्न है और जिसे आधार मानकर लेखक ने पूर्णिमा के चरित्र की कल्पना की थी, उसमे आदर्श और प्रेम का सघर्ष प्रदर्शित करने में लेखक को कथानक के उलझाव के कारण सफलता नही प्राप्त हुई है।

स्वार्थ भावना से प्रेरित प्रेम

पुरुष स्वभाव से ही स्वार्थी होता है, और नारी उसकी स्वार्थ भावना को अपने आंचल में समेटती जाती है। पुरुष शिकारी की भांति अपना जाल बिछाता जाता है, नारी उसमे छली जाती है। पुरुष प्रायः स्वार्थ भावना से प्रेरित होकर नारी से प्रेम करता है, और अपनी वासना की शांति प्राप्त करने पर नारी को जन्म भर का दारुण दुख देकर किनारे हो जाता है, और अपने ऊपर प्रगाढ विश्वास रखने वाली नारी को दर-दर की ठोकरें खाने के लिए बाध्य कर देता है, जिससे वह बेचारी नारी दुनिया भर के लिये एक तमाशा बन जाती है। यदि नारी मे दृढ संकल्प हुआ, गहन् विश्वास हुआ, और ऊपर उठने की प्रवृत्ति हुई, तब तो वह उस कठोर आघात को सहने के पश्चात् भी परिस्थितियों से ऊपर उठने का प्रयत्न करती है, और नये सिरे से अपने जीवन के निर्माण का प्रयत्न करती है। पर यदि उसमें इतनी शक्ति न हुई तब तो उसे आत्महत्या या वेश्यावृत्ति अपनाने के सिवाय कोई अन्य मार्ग नही रह जाता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास "प्रेत और छाया" (१९४६) की नायिका मंजरी इसी प्रकार की नारी है जो पुरुष के स्वार्थ में छली जाती है।

मंजरी को अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् अपनी मां का उत्तरदायित्व भी वहन करना पड़ता है। उसकी अपनी भी उत्कट अभिलाषा बी॰ एस॰ सी॰ पास करने की है। पर आय का कोई विशेष साधन न होने पर, अपनी मां के भरण पोषण एवं दवा की व्यवस्था तथा स्वयं अपनी शिक्षा का क्रम बनाये रखने के लिये

उसे एक कुख्यात होटल मे अपने रूप और यौवन का नग्न प्रदर्शन करना पडता है। यह उसकी विशेषता ही है नही तो वह कालेज की छात्रा है, होटल मे खाना नही खाती क्योकि वहाँ गोश्त पकता है, पर वह न धार्मिक है, न कट्टर। स्वभावत उसे मांस मे अरुचि भर है[1]। पर परिस्थितियां म मंजरी के प्रतिकूल थी। उसकी माता की मृत्यु हो जाती है। उस दुख के समय में पारसनाथ ने मंजरी की काफी सहायता की थी। और मां की मृत्यु क पश्चात् वह पारसनाथ के घर चली आई। और आने के बाद सारा संकोच छोड मंजरी स्वय पारसनाथ की चारपाई पर लेट जाती है, उससे लिपट जाती है उसी रात दोनो म पति पत्नी सम्बन्ध स्थापित हो गया[2]।

उस रात के बाद मंजरी को अपने म विचित्र परिवर्तन का अनुभव होता है। उस प्रतीत हुआ जसे अभी तक वह अंधियारे मे गलत रास्ते पर भटक रही थी और अब ठीक रास्ते पर आ गई है, यही उसकी स्वाभाविक राह है। मृदुलता एव सहन शीलता मंजरी मे कूट-कूटकर भरी हुई है। पारसनाथ अक्सर बात बात म मर्मान्तक बातें कह जाता है, जिससे मंजरी के मस्तक पर मार्मिक चोट पहुचती है। पर उसके स्वभाव मे कही भी कटुता नही आती। यह स्वभाव की मदुलता उसकी परिस्थितियो के कारण ही नही है वरन् उसकी अपनी स्वाभाविक जन्मजात गति है। मंजरी भावुक भी है, भूखी भी। उसम विचारो की गहन शृंखला व्याप्त है। तीव्र तर्क-शक्ति है और उसका ज्ञान भी यथेष्ट है। उसमे आशा है, विश्वास है निर्माण की लालसा है, विध्वस की प्रवत्ति नही। वह पारसनाथ से कहती है—"आपके साथ यहाँ आने पर मेरे मन म यह विश्वास हो चुका है कि नरक की जमीन पर ही स्वग की स्थापना हो सकती है। नरक से घबराकर भाग निकलने से ही कोई यह समझ कि वह नारकीय भावनाओं स छुट्टी पा जावेगा, तो इससे बडी भूल जीवन मे दूसरी नही हो सकती।'[3] वास्तव मे अचेतन की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न बाह्य प्रवत्तियां व्यक्ति के लिए सवथा अपरिचित रहती हैं। परिस्थितियो के अनुकूल होने से ही अचेतन प्रवृत्तियाँ सचेतन हो सकती हैं।[4] मंजरी मे इसी अचेतन और सचेतन का परस्पर द्वन्द्व चलता रहता है।

---

१ इलाचन्द्र जोशी प्रेत और छाया, (१९४६), इलाहाबाद पृष्ठ ५४।

२ वही, पृष्ठ १४६।

३ इलाचन्द्र जोशी प्रेत और छाया, (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ १६०।

४ " always and everywhere the meaning of the symptoms is unknown to the sufferer these symptoms are derived from unconscious mental processes which can however, under various favourable conditions become conscious "

—फ्रायड इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइको—एनालिसिस, (१९५२), लदन, पृष्ठ २३५।

मंजरी का स्वभाव विचित्र है। उसकी मन-स्थिति के दो रूप हैं। एक तो वह इस हद तक शुष्क रहने वाली है कि घन्टो पत्थर की भांति जड़ रहती है, दूसरी तरफ उसके हृदय की संवेदन शीलता इतनी गहरी है कि जरा जरा सी बात के लिए वह आंसू बहाना शुरू कर देती है, और दूसरो को भी आंसू मे डूबने के लिये बाध्य कर देती है। एक ओर तो वह बातें इस प्रकार की करेगी मानो वह पुरातन हो, वर्षों का सचित अनुभव उसने प्राप्त किया है, पर दूसरी ओर हल्की परिस्थितियो में वह इस प्रकार रहेगी मानो कोई नन्हा-सा भोला अबोध शिशु। एक ओर जब वह चुप रहेगी तो बोलने का नाम ही नही लेगी, घण्टों शान्त रहेगी। पर जब बोलना शुरू करेगी तब उसकी वाग्धारा का अटूट प्रवाह रोके नही रुकता।

मंजरी मे महत्वाकाक्षाए भी है। पर उसमें सिर्फ भावनाए ही नही, उन महत्वाकांक्षाओ को पूर्ण रोकने की उत्कट लालसा भी है। बचपन से ही वह बी० एस० सी० पास कर डाक्टरी बनने के सपने देखती आई है, पर प्रत्येक बार अपनी परिस्थितियो से पराजित होती आई है। किन्तु इस सृष्टि में अपनी विषम परिस्थितियों से पराजित होना कोई नई बात नही है, ऐसा होता आया है, होता रहेगा। बहुत कम ऐसे लोग है जिनमे अपनी परिस्थितियो से उबरने की, अपने को बनाने की शक्ति है। मंजरी उन्ही मे से एक है। पारसनाथ नन्दिनी के साथ लखनऊ भाग जाता है। मंजरी की गोद मे छोटा-सा बच्चा है, पर वह हिम्मत नही हारती, अपना धैर्य नही खोती। वह नारी—संस्कृति-निकेतन की सचालिका महोदय की सहायता से कलकत्ते के मैडिकल कालेज मे प्रवेश पाने मे सफल हो जाती है। वहाँ उसे दो मारवाड़ी सेठो की लड़कियो को एक-एक घण्टे पढाने का ट्यूशन भी मिल जाता है। वही कालेज में उसकी जान-पहचान एक अधेड़ उम्र के प्रोफेसर राय से हो जाती है। अपनी लगन और तन्मयता से एक दिन मंजरी डाक्टरनी बन गई। राय महाशय ने विवाह का प्रस्ताव रखा, और मजरी ने उसे स्वीकार कर लिया, दोनो का विवाह हो जाता है। इस प्रकार जो बीज बचपन से ही मंजरी के हृदय में अंकुरित हो पनप रहा था, इतनी विषम परिस्थितियो के पश्चात् पूर्णता प्राप्त करता है।

इलाचन्द्र जोशी ने अपने अन्य औपन्यासिक कृतियो की भांति इस उपन्यास में भी मजरी को ऐसी परिस्थितियो मे रखा है जिनमे निरन्तर संघर्ष उत्पन्न होता रहता है चेतन और अचेतन मन की प्रक्रियाएं मंजरी के जीवन गतियो को संचालित करती रहती हैं। मंजरी की असफलता (प्रेम मे) का मुख्य कारण पारसनाथ का दुर्बल चरित्र ही है। वह दुविधा मे पड़ा व्यक्ति है। वह मंजरी को चाहता भी है, और उससे दूर भी भागता है। जिम्मेवारी शब्द से वह बेहद घबड़ाता है और यही कारण है कि वह मंजरी से विवाह नही करता और मंजरी के शिशु उत्पन्न होने पर वह प्रायः बाहर ही रहता है और अन्त मे नन्दिनी के साथ लखनऊ भाग जाता है। इसके साथ ही मंजरी ने पारसनाथ को लेकर जो कामनाएं की थी, जो सपने पाल

रखे थे, सब टूट जाते हैं। उसका प्यार हार जाता है, वह असफल रहती है, पर तब भी वह हार नहीं मानती। उन विषम परिस्थितियों में भी अपनी भावी दिशा निश्चित करती है।

अन्त में जब अस्पताल में अचानक उसकी पारसनाथ से भेंट हो जाती है और पारसनाथ क्षमा याचना का भाव प्रदर्शित करता है तो मंजरी के अंतस का वलबलाता सैलाब फूट पड़ता है, उसके स्वभाव में कठोरता आ जाती है और वह दृढता से कहती है—' तुम उसी सनातन पुरुष समाज के नवीन प्रतिनिधि हो जिसने युगों से नारी को छल से ठगकर बल से दबा कर, विनय से बहलाकर और करुणा से गलाकर उस हाड़ मास की बनी निर्जीव पुतली का रूप देने में कोई बात उठा नहीं रखी है। पर याद रखो, विश्वव्यापी ज्ञान्ति के इस युग में आततायी और कामाचारी पुरुष जाति की सत्ता अब निश्चित रूप से मूलतः ढहन रहा है, और युगों से दलित नारी जाति आज तक अपनी छायात्मकता के भीतर भी शक्ति का जो महाबीज सुरक्षित रखे हुये थी, उसके विस्फोट को दबाने की समर्थता अब ब्रह्मा में भी नहीं रह गई है[1]।''

मंजरी में जो यह विद्रोही स्वर फूटता है, वह अचानक ही नहीं हुआ है। सीधी सादी मंजरी के चरित्र का यह महत्वपूर्ण परिवर्तन मनोवैज्ञानिक कारणों की आधार भूमि पर हुआ है। उसने अपने हृदय की निश्छलता, अपना सारा प्यार, अपनी सारी पवित्रता एक व्यक्ति को सौंप दी, पर उसने सदैव उसे प्रताड़ित किया उसे धोखा दिया, और अन्त में अपनी सारी दृढता से मंजरी परिस्थितियों से ऊपर उठती है तथा अपूर्व आत्म विश्वास और आत्मिक बल का परिचय देती है। वास्तव में संसार का कर्मक्षेत्र केवल पुरुषों के लिये ही नहीं है, वरन् नारी का भी उसमें समानाधिकार है। पुरुष नारी के ऊपर अपना स्वत्वाधिकार समझता है, और उस पर अपना पूर्ण अनुशासन चाहता है, पर जैसे जैसे पश्चिमी शिक्षा का प्रसार होने लगा और भारतीय नारियाँ पश्चिमी देशों की नारियों के सम्पर्क में आईं, उनकी स्थिति तथा अधिकारों से परिचित हुई तो उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनकी तुलना में अभी वे बहुत पीछे हैं। अपने विकास की दिशा में अभी उन्हें बहुत आगे जाना है। वे अपनी प्रगति के लिये तत्पर हो उठीं, और अपने पैरों पर खड़ी हो सकने का प्रयत्न करने लगीं। यही परिस्थितियाँ मंजरी की परिकल्पना का परिणाम थीं। मंजरी जब तक अपने पाँवों पर नहीं खड़ी थी तब तक पुरुष उस पर नियंत्रण चाहता था, उसे अपनी वासना और हवस का शिकार बनाना चाहता था क्योंकि वह पुरुष के आश्रय पर थी, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न था। किन्तु जब वह अपने पैरों पर खड़ी हुई, उसने अपनी एक जगह बना ली तो पुरुष उसके पाँवों पर गिरने तक को तैयार

---

[1] इलाचन्द्र जोशी प्रेत और छाया, (१६४६), इलाहाबाद, पृष्ठ २०८।

हो गया। यह नारी की बहुत बड़ी विजय थी। मंजरी की परिकल्पना मे लेखक का उद्देश्य यह चित्रित करने का था कि अब नारियो को अधिक दिनो तक अन्धकार में नही रखा जा सकता, उसकी प्रगति की राहे कुंठित नही की जा सकती। वे केवल वासना एवं हवस की सामग्री मात्र ही नही हैं, वरन् कुछ और भी है, और समाज को उनके उस अस्तित्व को पहचानना ही होगा।

प्रेम में अनिश्चियात्मक स्थिति

कभी-कभी प्रेम मे अनिश्चयात्मक स्थिति आ जाती है, जब कि एक ही नारी के जीवन मे दो पुरुष आ जाते हैं। तब उसके सम्मुख एक समस्या उत्पन्न हो जाती है कि वह किससे प्रेम करे ? यह समस्या तब तो और भी विचित्र हो जाती है जब नारी जिस प्रकार के प्रेमी की कल्पना करती है, वह कुरूप होता है, और दूसरा पुरुष उन कल्पनाओ का साकार रूप तो नही होता, पर उसमे सौंदर्य प्रचुर मात्रा मे होता है, और वह धनी होता है। ऐसी स्थिति में नारी का असमंजस मे पड़ा मन कुछ विशेष निश्चय नही कर पाता, और प्रेम का एक त्रिकोणात्मक संघर्ष उत्पन्न होता है। तीनो का जीवन नष्ट होता है, इस प्रकार प्रेम का भयंकर दुष्परिणाम होता है। नीलिमा (निर्वासित), (१९४६) इसी प्रकार की नायिका है। वह अपनी प्रेमी से जिन गुणो की कल्पना किया करती थी, वे महीप मे मिलते हैं, पर महीप दुर्भाग्य से नाटा है, और अधिक सुन्दर नही है, जबकि ठाकुर साहब उन गुणो से सम्पन्न तो थे, पर सुन्दर अवश्य थे, और जमीदार थे। नीलिमा के प्रेम की अनिश्चयात्मक स्थिति अन्त मे तीनो का जीवन नष्ट कर देती है।

नीलिमा की परिकल्पना का स्रोत वह निम्न मध्यवर्गीय क्रान्ति थी जो सन् बयालिस के अगस्त आन्दोलन और द्वितीय महायुद्ध काल में हुई थी। इस उच्च तथा निम्न मध्यवर्गीय क्रान्ति ने जो सबसे बड़ा चमत्कार दिखाया, वह था नारी की मूल आत्मा की कायापलट। अगस्त आन्दोलन, युद्ध जनित प्रभाव, बगाल का अकाल आदि कारणो से एक ऐसी रासायनिक प्रतिक्रिया मध्यवर्गीय भारतीय नारी की अंतरात्मा मे हुई कि उसके भीतर युगो से दबी हुई प्रचन्ड प्रतिहिंसात्मिका शक्ति पूरे विस्फुर्जन के साथ जग उठी। वह माता, वधू, कन्या कुछ भी न रह कर सहसा रण-चन्डी भैरवी का खप्पर और त्रिशूल हाथ मे लिए खड़ी हो गई। विश्व स्तब्ध विस्मय के साथ उसकी ओर ताकता रह गया, पारिवारिक जीवन की स्नेह शृंखला से छिन्न नवयुवकों को एक नई रहस्यात्मक-प्रायः आध्यात्मिक—और रोमांचक प्रेरणा मिली, किसी भी शांतिवादी दार्शनिक मे न तो इतना बल रह गया कि उस नवदुर्गा की प्रशंसा करे, न इतना साहस ही कि उसकी निन्दा करें।[1] नीलिमा का चरित्र भी इसी पृष्ठभूमि पर निर्मित हुआ है। वह पढ़ी लिखी सुशिक्षित युवती है, और कांग्रेस की स्वयंसेविका है। वह महीप नामक एक युवक कवि की कविताओं, विशेषतया

१. इलाचन्द्र जोशी : निर्वासित : (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ २।

उसकी रोमांटिक कविताओं से अत्यन्त प्रभावित है। महीप का नाटा कद है, और उसका बाह्य रूप भी बहुत अधिक आकर्षक नहीं है। नीलिमा की मां उसका विवाह ठाकुर लक्ष्मी नारायण सिंह नामक एक धनी युवक से करना चाहती हैं, जबकि महीप स्वयं नीलिमा को अपनी पत्नी बनाने की लालसा रखता है। नीलिमा का चरित्र दो विपरीत तत्वों से निर्मित हुआ है। जिसके प्रति उसके मन में प्रेम की भावना है उसका व्यक्तित्व उसे आकर्षक नहीं प्रतीत होता और जिसका व्यक्तित्व उसे आकर्षक प्रतीत होता है उसके प्रति उसके मन में कोई प्रेम नहीं, अपितु दबी हुई घृणा ही है।

नीलिमा प्रारम्भ में चंचल है, तीव्र व्यंग कसने वाली है, तथा उसमें वाक्‌चातुर्य है। वह ठाकुर साहब और महीप दोनों को ऐसे भ्रम में रखती है कि दोनों अपने को उसके प्रेम का अधिकारी समझते हैं। उसका चरित्र इसीलिए रहस्यात्मक प्रतीत होता है कि वह स्वयं भी इस बात से आश्वस्त नहीं है कि वस्तुतः वह महीप से प्रेम करती है, अथवा ठाकुर साहब से। अपनी इसी बहक में वह महीप के साथ कानपुर भाग जाने के लिए स्टेशन तक पहुंच जाती है और पुलिस के हस्तक्षेप करने पर उसे अपना "हस्बैंड" तक मान लेती है। घर आने पर वह पुनः पश्चाताप करती है कि वह महीप के साथ स्टेशन क्या गई। उसके चरित्र के इस विरोधाभास के कई कारण हैं। वह जीवन में पति के रूप में ऐसा व्यक्ति चाहती है जो महीप के समान सुकुमार भावनाओं वाला हो, उसमें पास कला हो, विनोद प्रियता हो, ख्याति हो पर साथ ही उसका व्यक्तित्व महीप की तरह बबुआ न हो वरन् ठाकुर साहब की तरह प्रबल आकर्षक हो। महीप अपने तज्जनित हीनभाव के कारण नीलिमा पर प्रभाव डाल सकने में असमर्थ रहता है, जो वस्तुतः उसे डालना चाहिए था क्योंकि यह सत्य है कि ठाकुर साहब की तुलना में नीलिमा का प्यार महीप के लिए अधिक था। इसमें एक तीसरी परिस्थिति भी क्रियाशील रहती है। नीलिमा की मानसिक चेतना पर उसकी माँ बुरी तरह छाई रहती है, और वह अपनी माँ की इच्छा का तिरस्कार नहीं) करना चाहती है उससे विद्रोह नहीं करना चाहती। वह जानती है कि माँ की हार्दिक इच्छा है कि वह ठाकुर साहब से विवाह कर ले। इस वह स्वयं स्वीकार करती है, "मैं कैसी ही 'प्रोग्रेसिव' क्यों न होऊं, पर मैं अपने भीतर इतना साहस नहीं पाती कि माँ की एकान्त इच्छा के विरुद्ध विद्रोह करूं। माँ के प्रति ममता स्वाभाविक है, पर मेरी माँ केवल माँ ही नहीं है, बल्कि हम लोगों के पिता के स्थान में भी वही हैं। सांसारिक तथा सामाजिक विषयों में उनकी दक्षता और अनुभवशीलता के फलस्वरूप हम लोगों ने कभी पिता जी के अभाव का अनुभव नहीं किया। ऐसी हालत में यह कैसे सम्भव है कि इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर उनका विरोध करूं।"[1] और वह वास्तव में अपनी माँ का प्रतिरोध कर सकने में अपने को असमर्थ

१ इलाचन्द्र जोशी निर्वासित (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ १२४।

पाती है, पर महीप और ठाकुर साहब को लेकर उसके मन में घात-प्रतिघात चलता रहता है। भावना कहती है, महीप अच्छा है, मन कहता है, नहीं ठाकुर साहब अच्छे हैं। चेतना दोनों को परास्त कर कहती है, कोई अच्छा नहीं है, कोई बुरा नहीं है। किसी की अच्छाई बुराई से तुम्हें क्या लेना? तुम वही करो जो तुम्हारी माँ कहती है। इस संघर्ष की चरम परिणति तब होती है, जब एक दिन चाय में माँ द्वारा चीनी अधिक डाल दिये जाने के कारण वह अपनी माँ से झगड़ पड़ती है, और उन्हें पहली बार अशोभनीय शब्द कह बैठती है। यही नहीं वह माँ से झगड़ कर घर से भाग भी जाती है, पर पुलिस पुनः उसे घर वापस ले आती है। अन्त में नीलिमा अपनी माँ की हार्दिक भावना के आगे परास्त होकर ठाकुर साहब से विवाह कर लेती है। पर ठाकुर साहब से उसकी निभ नहीं पाती और थोड़े ही दिनों पश्चात् उसे वहाँ से अपमानित होकर पुनः लौटना पड़ता है। महीप को यह ज्ञात होता है तो वह एक बार फिर प्रणय निवेदन के लिए जाता है, पर नीलिमा उसे अस्वीकार कर देती है। वस्तुतः नीलिमा अन्त में एकदम से टूट सी जाती है।

नीलिमा की असफलता का एकमात्र कारण उसकी अनिश्चयात्मक स्थिति ही थी। उसे अपने प्रेम में एक दृढ़ता स्थापित करनी चाहिए थी। संसार में कोई भी व्यक्ति जो कुछ भी चाहता है, वह सब का सब कहाँ पूर्ण हो पाता है। फिर यही क्या कम था कि नीलिमा अपने प्रेमी में जिन गुणों की कल्पनाएं किया करती थीं, वे संयोग से महीप में विद्यमान थी, फिर यदि दैवयोग से वह नाटा था, और अधिक सुन्दर नहीं था, तो इसका यह तात्पर्य तो नहीं था कि वह प्रेम करने योग्य ही न था? नीलिमा के पतन की कहानी नारी पाठिकाओं के समक्ष एक उदाहरण उपस्थित करती है, और उनकी आँखें खोलने का महत्वपूर्ण कार्य करती है।

मूल्यांकन

इन सभी नायिकाओं के अध्ययन के पश्चात्, चाहे वे अपने प्रेम में सफल रही हों, या असफल, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि अधिकांश नायिकाओं में प्रेम की पवित्रता के प्रति विश्वास है, अपनी परम्पराओं, नारीगत मर्यादाओं में अगाध विश्वास है। पश्चिम में प्रेम का आदर्श यहाँ के आदर्श से पूर्णतया भिन्न है। वहाँ विश्वास है कि प्रेम और सेक्स दो अभिन्न बातें है। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ सेक्स भी अनिवार्यतः होगा, और उस सेक्स की हत्या करना, प्रेम का नाश करना होता है। यद्यपि इस प्रश्न को लेकर पश्चिमी विद्वानों में काफी वादविवाद हुए हैं, पर यह

निश्चित है कि वहाँ प्रम की आधारशिला सक्स पर ही निर्मित की जाती है।[1] पर हमारे यहाँ स्थिति इसके विपरीत है। यहाँ प्रेम मे सेक्स की प्रधानता नही होती है, और यदि प्रेम मे सक्स का भाव आ भी जाता है, तो भारतीय परम्पराए उसे सहन नही कर सकती, उनका नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया जाता है, शारीरिक सम्बन्ध विवाहोपरान्त ही मान्य है उससे पूर्व इस प्रकार का सम्बन्ध सामाजिक दृष्टि से अवैध समझा जाता है। पर यह स्थिति अधिक दिनो तक नही बनी रही। हम जस जैस पश्चिम के सम्पर्क म आते गए, वहाँ की सभ्यता और संस्कृति ने हमें इतना प्रभावित किया, कि हम स्वयं अपनी ही गौरवशाली सभ्यता एवं संस्कृति भल गए। प्रम की एक नवीन शली निर्मित हुई, जिसमे सेक्स अत्यधिक मात्रा मे सम्मिलित हुआ। इस नए पन पर चित्रपटो का भी काफी प्रभाव पडा। भारतीय चित्रपटों की कहानियों का मूलाधार प्रेम ही होता है।[2] इन फिल्मो मे प्रम का एकमात्र उद्देश्य सक्स ही होता है। च कि फिल्मा का भारत मे प्रारम्भ से ही बडा प्रचार है, इस सक्स प्रधान प्रम ने भारतीय मनोवृत्ति को अत्यधिक मात्रा मे प्रभावित किया। परिणाम स्वरूप धीरे धीरे भारत मे भी प्रेम और सक्स दो अभिन्न बातें समझी जाने लगी ठीक पश्चिम की भाँति और समाज की नई पीढी उस मोहाच्छन्न के प्रवाह मे बह चली।

पर उपन्यासकारो का दायित्व सामाजिक निर्माण और नतिकता के उत्थान का होता है। उनका यह प्रमुख कर्तव्य होता है कि व ऐसे स्वस्थ पात्रो की कल्पना करें, जो पाठको के सम्मुख आदर्श उपस्थित कर सकें, और व उनको प्रेरणा के प्रमुखतम स्रोत के रूप म ग्रहण कर सकें। जैसे वृन्दावन लाल वर्मा तथा प्रेमचन्द

१ "By a common euphemism the word 'Love' is used to cover any manifestation of the sexual impulse That, is, needless to say, incorrect We must distinguish between lust or the physiological sexual impulse and love, or that impulse in association with other impulses while love apparently becomes in its most developed forms a completely altruistic impulse it springs out of an egoistic impulse and even when it involves *self sacrifice there is still an egoistic gratification* In developing into love the sexual impulse, which at the outset is predominantly egoistic, becomes also consciously altruistic There are under normal and natural conditions, altruistic element from the outset of its sexual development"

हैवलाक एसलिस द साइकलॉजी ऑव सेक्स, (१६३३), लन्दन, पृष्ठ २७३-२७४।

२ यूनेस्को द्वारा आयोजित फिल्म सेमिनार गोष्ठी (स्क्रीन, साप्ताहिक) बम्बई, अगस्त, २६ पृ० १।

ने ऐसी ही नायिकाओं की कल्पना की है, जो सामाजिक दृष्टि से पूर्णतया स्वस्थ हैं। मनोरमा, कट्टो, पूर्णिमा आदि ऐसी ही नायिकाएं हैं, जिन्होंने प्रेम में महान् आदर्श तथा त्याग की अनुपम भावनाएं प्रदर्शित की हैं। ये नारियों के सम्मुख एक ऐसी धारणा उपस्थित करती हैं, जिसके माध्यम से उनके स्वयं के जीवन निर्माण की प्रेरणा प्राप्त होती है, और जैसे उन्हें अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त करती है। कट्टो का त्याग, पूर्णिमा की देशभक्ति, तथा मनोरमा की श्रद्धा सभी कुछ नारियों में जीवन के प्रति मर्यादा उत्पन्न करने तथा परिस्थितियों से ऊपर उठने की प्रेरणा प्रदान करती हैं। इसके विपरीत जीवन के अस्वस्थ पक्ष को उभाड़ने वाली शैलबाला है, जिसके जीवन में सब कुछ बस सेक्स ही है। ऐसी नायिकाएं नारियों को गुमराह करने, उन्हें पथ-भ्रष्ट करने और पारिवारिक मर्यादाओं को छिन्न-भिन्न करने के लिये काफी हैं। वे समाज की दृष्टि से अशोभनीय कल्पनाएं तो हैं ही, नैतिक उत्थान के मार्ग में बड़ी बाधाएं हैं। सौभाग्यवश हिन्दी के आलोच्य काल के उपन्यासकारों ने प्रथम कोटि की नायिकाओं का चित्रण ही अधिक किया है। मानव जीवन में नैतिकता के उत्थान एवं आदर्श के लिये वह आवश्यक भी था।

अध्याय ६

गृहस्थ नायिकाएं

भारतीय जीवन में गृहस्थ जीवन का महत्व

भारत में पारिवारिक जीवन का महत्व आदिकाल से ही अत्यधिक रहा है। विशेष रूप से नारियों के लिए तो परिवार का बड़ा ही महत्व होता है। उनके लिए स्वतन्त्र जीवन की तो पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। विवाह के पूर्व वे अपने माता पिता के सरंक्षण में रहती थी, और विवाहोपरान्त पति के घर में वे इस आशा से भेजी जाती थी, कि वहाँ जाकर वे अपनी नवीन गृहस्थी का सचालन करेंगी, और सबको सुख एव सतोष प्रदान करने का प्रयत्न करेंगी। यहाँ तक कि भारतीय परम्परा में यह बात अनिवार्य समझी गई है कि हर लड़की को प्रारम्भ से ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे कि वह अपने भविष्य के जीवन में सफल गृहिणी बन सके। सफल गृहिणी बनकर अपना परिवार सभालना, अपने पति को सुख सतोष प्रदान करना, और अपने बच्चो का भविष्य बनाना तथा सवारना हर लड़की अपना कर्तव्य समझती है, और सदगृहिणी बनने का प्रयत्न करती है। वास्तव में नारी का अस्तित्व परिवार में ही बनता बिगडता है एसी धारणा अग्रेजो के आगमन के पूर्व व्याप्त थी, और एक नारी के जीवन की सफलता उसके परिवार की सफलता से ही मापी जाती थी।

किन्तु यह स्थिति अधिक दिनो तक नही बनी रह सकी। अग्रेजो के भारत आगमन के पश्चात् जैसे-जैसे हम पश्चिमी सभ्यता एव संस्कृति के सम्पर्क में आते गए, इस परिस्थिति में परिवर्तन होता गया। पाश्चात्य जीवन के बढ़ते हुए प्रभाव से हमारे अपने जीवन की विषमताएं बढ़ती गईं, और दिन प्रतिदिन अनेक कठिनाइयाँ हमारे सम्मुख उपस्थित होती गईं। पश्चिमी प्रभाव ने सबको आकर्षित किया हो, एसी बात नही। अनेक लोग उसे घृणा एव तिरस्कार की भावना से देखते रहे, और वह उन्हें कभी भी रुचिकर न प्रतीत हुआ। नारियो का एक वर्ग पश्चिमी प्रभाव से प्रभावित हो वहाँ की नारियों की ही भाँति स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहता था, और पति की दासता न स्वीकार कर आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनना चाहता था, यह वर्ग पति को सहयोगी तो मानना चाहता था, पर पति का वह रूप उसे स्वीकृत

न था, जो शताब्दियों से भारतीय परम्पराओं में मान्यता प्राप्त करता आ रहा था। ये अपने अहं भाव के सम्मुख पति का अहं भाव नहीं सहन करना चाहती थी, और न उनकी तुलना में अपने को हेय अथवा पराजित होते ही देखना चाहती थी। नारी यदि उग्र स्वभाव की हुई, तो रोज एक के दो अपने पति को सुनाती थी, जिससे अच्छा खासा पारिवारिक कलह उत्पन्न हो जाता था, जैसा कि अचल के उपन्यास "चढ़ती धूप" (१९४५) की नायिका ममता ने किया था। पर इसके विपरीत यदि नारी शांत स्वभाव की एवं सहनशील प्रवृत्ति की हुई, तो वह सारी बातें चुपचाप सहन करती जाती थी, और जब इसका चरमोत्कर्ष आ जाता था, तो या वह आत्मपीड़न में ही जीवन व्यतीत कर कल्याणी और मृणाल की तरह अपनी जान दे देती थी, या जयन्ती की भाँति आत्महत्या कर लेती थी।

पिछले एक अध्याय में यह बताया जा चुका है, कि अंग्रेजों के भारत आगमन के पूर्व नारियों में शिक्षा की कोई विशेष व्यवस्था न थी, और न उनका बाहर निकलना ही आम होता था। पहले तो यह लोकोक्ति प्रसिद्ध थी, कि नारी घर से केवल दो बार निकलती थी—एक बार विवाह के समय डोले पर बैठ पति के घर जाती थी, दूसरी बार मृत्यु के पश्चात् उसकी अर्थी निकलती थी। इसके अतिरिक्त नारियों को घर से बाहर निकलने की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। पर भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात् जब इस स्थिति में परिवर्तन हुआ, और नारियों की शिक्षा की विशेष व्यवस्था हुई, तभी नारियाँ बाहर निकल समाज के अन्य वर्गों एवं व्यक्तियों से अपना सम्पर्क स्थापित करने लगीं। पुरुषों के विशेष सम्पर्क में आने का अवसर उनके सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में आने पर हुआ, और चूंकि नारी एवं पुरुष में स्वाभाविक आकर्षण होता है, नारियों का प्रेम सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता था। किन्तु ये प्रेम प्रायः सफल नहीं होते थे, और नारियों का विवाह अन्य पुरुषों से हो जाता था, क्योंकि वे अपने माता-पिता के कठोर अनुशासन में रहती थीं, और तब समाज में आज जैसी स्वच्छंदता व्याप्त न थी। ऐसी अवस्था में गृहस्थ जीवन की सफलता संदिग्ध ही होती थी। कभी-कभी प्रेम सम्बन्ध की बात नहीं भी होती थी। पर विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता न प्राप्त होने के कारण नारियों का विवाह प्रायः ऐसे व्यक्तियों से हो जाता था, जिससे उनके विचारों का सामंजस्य नहीं होता था। ऐसी अवस्था में भी वे प्रायः कम सफल गृहिणी बन पाती थीं।

हिन्दी उपन्यासों में इन दोनों प्रकार की नारियों-सफल गृहिणी, एवं असफल गृहिणी की खूब कल्पनाएं की गई हैं, और निम्नलिखित उपन्यासों में हमें ऐसी ही नायिकाएं प्राप्त होती हैं—

१. किशोरीलाल गोस्वामी : हृदयहारिणी (१८९०), त्रिवेणी, (१८८८), लवंगलता (१८९०), २. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३), गबन, (१९३०), ३. जयशंकर प्रसाद : तितली, (चैत्र सं० १९९१), ४. जैनेन्द्रकुमार : कल्याणी (१९३२), सुनीता (१९३६), त्यागपत्र (१९३७), ५. निराला : अलका (१९३३),

६ सियारामशरण गुप्त नारी (स० १९९४ वि०), ७ पाडेय बेचन शर्मा "उग्र" जीजी जी (१९४३), ८ प्रचल चढ़ती धूप (१९४४), ९ प्रचल उल्का, (१९४७), १० श्रद्धाराम फिल्लोरी भाग्यवती (१८८७ ई०) ११ जयनारायण गुप्त लक्ष्मी देवी (१९१८), काशी।

इन उपन्यासो की नायिकाओ के अध्ययन के पश्चात् हमे उनकी निम्नलिखित विशेषताए प्राप्त होती है—

१ पातिव्रत धर्म का पालन
२ गृहस्थ जीवन म प्रेम का सघर्ष
३ अनमेल विवाह और पारिवारिक अशाति
४ विवाहित जीवन मे पति की अपेक्षा प्रेमी को अधिक महत्व प्रदान करना
५ आभूषण प्रेम और गृहस्थ जीवन की असफलता।

पातिव्रत धर्म का पालन

हिन्दू नारियो के जीवन म पातिव्रत धर्म के पालन का अत्यधिक महत्व होता है। वे अपने पति को ईश्वर स कम नही समझती, और उन पर अपनी समस्त श्रद्धा एव भक्ति के पुष्प अर्पित करती हैं। वे उनके लिए व्रत रखती हैं, उनके स्वास्थ्य, उनकी सफलता और लम्बी आयु के लिए ईश्वर से प्रार्थनाए करती हैं। उनके जीवन म इस प्रकार से पति ही सब कुछ होता है और उसी को लेकर वे अपना अस्तित्व मानती हैं। वे पति की प्रसन्नता मे अपनी प्रसन्नता और पति के दुख म अपना दुख समझती हैं। उनके सामने सीता और सावित्री जैसी नारियो के महान् आदर्श हैं, जिससे वे प्रेरणा ग्रहण करती हैं, और अपने जीवन को उसी के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करती हैं। रजपूती नारियो के जौहर की कहानियाँ इसी सन्दर्भ म अमर हैं। अपने पति क अतिरिक्त किसी पर पुरुष की छाया स भी वे बचना चाहती थी, और ऐसी विषम परिस्थिति म, जब उनके पति युद्ध म पराजित होकर मारे जाते थे, अथवा उनके हारने की पूर्ण सभावना होती थी वे वीर नारियाँ हसते हसते अग्नि शिखाओ को आत्मसात कर लेती थी। इसकी पष्ठभूमि मे उनके पातिव्रत धर्म की शक्तिशाली भावना क्रियाशील थी। यहाँ कहन का तात्पर्य यह है कि, प्राचीन काल म ही पातिव्रत धर्म के पालन क प्रति हिन्दू नारियो का विशेष आग्रह रहा है। जब पश्चिमी सभ्यता एव सस्कृति का प्रभाव भारतीयो पर पड़ा, और नारी शिक्षा का प्रसार होने लगा तब भी इस धारणा मे विशेष परिवर्तन नही हुआ, और नारियाँ इस दिशा में अग्रसर ही प्रवृत्त रही। यद्यपि आगे चलकर धीरे धीरे यह भावना परिवर्तित होने लगी, पर तब भी उस धारणा को कुछ विशेष आघात नही पहुचा। हिन्दी उपन्यासो मे ऐसी अनेक नायिकाओ की कल्पना की गई है, जिन्होने अपने पति के अस्तित्व के सम्मुख अपना अस्तित्व मिटा दिया, और जीवन पर्यन्त पति के सुख एव सतोष के लिए ही सब कुछ करती रही। ऐसी नायिकाओ के रूप मे भाग्यवती (भाग्य-

वती) त्रिवेणी (त्रिवेणी), लवंगलता (लवंगलता), कुसुमकुमारी, (हृदयहारिणी), लक्ष्मी (लक्ष्मी देवी), तितली (तितली), कल्याणी (कल्याणी). आदि में प्राप्त होते हैं।

श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती' की नायिका भाग्यवती वास्तविक अर्थों में आदर्श नारी है। पूर्व-प्रेमचन्द काल की सभी नायिकाओं में भाग्यवती का व्यक्तित्व जितना निखरा हुआ है और उसमें जितनी सबलता एवं आकर्षण है, उतना इस युग की किसी अन्य नायिका का नहीं। भाग्यवती हिन्दी की पहली कर्मठ व्यक्तित्व वाली आदर्श नायिका है। भाग्यवती के परिकल्पना के स्रोत के सम्बन्ध में स्वयं लेखक ने स्पष्ट करते हुए लिखा है, "बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखूं कि जिसके पढने से भारत खण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो, क्योंकि यद्यपि कई स्त्रियां कुछ पढी-लिखी तो होती हैं; परन्तु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनके देश-विदेश की बोलचाल और अन्य लोगों से बात व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती। और कई बार ऐसा भी देखने में आया कि जब कभी उनको विदेश में जाना पड़ा तो अपना गहना कपड़ा बरतन आदि पदार्थ खो बैठी और घर में बैठी भी किसी छली स्त्री-पुरुष के बहकाने से अपने हाथ से अपने घर का नाश कर लिया। फिर यह भी देखा जाता है कि बहुत स्त्रियां अपनी देवरानी, जेठानियों से आठों पहर लड़ाई रखती और सास-सुसरे और अपने भर्ता का निरादर करने लग जाती हैं। कई स्त्रियों को अपने घर के हानि लाभ की ओर कुछ ध्यान न होने के कारण घर का सारा ठाठ बिगाड़ लेती और कइयों के घरों को नौकर-चाकर लूट-लूट खाते और उनको संयम और यत्न से कुछ काम नहीं होता। कई स्त्रियां विपत काल में उदास होके अपनी लाज को बिगाड़ लेती और अयोग्य और अनुचित कार्यों से अपना पेट पालने लग जाती हैं। और कई विद्या से हीन होने के कारण सारी आयु चक्की और चरखा घुमाने में समाप्त कर लेती है। इस कारण मैंने यह ग्रंथ सुगम हिन्दी भाषा में लिख के इसका नाम "भाग्यवती" रखा। इस ग्रंथ में मैंने एक कल्पित कहानी ऐसी सरस रीति से लिखी है कि जिसके पढने—हारे का मन समाप्ति पर पहुंचाये बिना तृप्त न होवे। और जो-जो व्यवहार इन पर गिने उन सबमें शिक्षा प्राप्त होती रहे।"[1] भूमिका में व्यक्त किए गए लेखक के इन विचारों से स्पष्ट है कि भाग्यवती की परिकल्पना का स्रोत भी लेखक का सुधारवादी दृष्टिकोण, आदर्शवादी मान्यताएं एवं समकालीन समाज में नारी की हेय एवं शोचनीय परिस्थितियां थी। लेखक भाग्यवती के माध्यम से एक आदर्श स्थापित करना चाहता था और तत्कालीन नारी समाज को शिक्षा एवं नैतिक उपदेश देना चाहता था।

पर इसके बावजूद भी प्रशंसनीय बात यह है कि भाग्यवती का चरित्र कहीं भी कठपुतली नहीं बनने पाया है। उसके चरित्र चित्रण का जिस प्रकार स्वतन्त्र

१. श्रद्धाराम फिल्लौरी : भाग्यवती, (१८८७ ई०), काशी, भूमिका।

विकास हुआ है, वह इस युग के उपन्यास शिल्प की दृष्टि से भी एक अभूतपूर्व बात थी। भाग्यवती काशी नगरवासी पंडित उमादत्त जी की पुत्री थी। जब वह बड़ी हो जाती है और उसके विवाह का प्रश्न उठता है तो पंडित जी कहते हैं, 'प्रियो को इस बात की बुद्धि नहीं कि छोटी अवस्था में पुत्र का विवाह करना श्रेष्ठ नहीं होता। सुनो, विवाह उस समय करना चाहिए कि जब बालक आप ही स्त्री का भूखा हो। जिसकी छोटी अवस्था में विवाह हो जाये उसका स्त्री में अत्यन्त प्रेम कभी नहीं होता।'[1] भाग्यवती बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि की थी। अपने भाई का विवाह हो जाने में उसकी भाभी घर का सारा काम संभाल लेती है और उसे पढ़ने का यथेष्ट अवसर मिलता है। उसने आत्म चिकित्सा के साथ ही कुछ साहित्य शास्त्र पढ़ना भी प्रारम्भ किया। जिससे छन्द प्रबन्ध रचने की सामर्थ्य हो जाती है। थोड़े ही दिनों में उसे नायिका भेद और अलंकारों का ज्ञान हो गया तो कविता भी करने लग गई। भाग्यवती का विवाह मनोहरलाल से हो जाता है। लिखने पढ़ने, सीने पिरोने, व्यंजन बनाने आदि सभी नारी के आदर्श गुणों में वह सम्पन्न थी और शीघ्र ही सुसराल में पास पड़ोस वाली महिलाओं तक की वह श्रद्धा की पात्री बन जाती है। उसमें मितव्ययता की भावना है, गृहस्थ जीवन की पारिवारिक कुशलता है। पर धीरे धीरे सुसराल में उसकी स्थिति बिगड़ जाती है और उसे अलग कर दिया जाता है। वह पति-परित्यक्ता नारी बन जाती है। उस समय उसके पास जल पीने के लिए भी कोई बरतन नहीं था, केवल लोहे का एक तसला अपनी पड़ोसिन के यहाँ से माँग लाती है। वह सोचने लगी, " चुपचाप बैठने से निर्वाह नहीं होगा, कुछ उद्यम और यत्न करना मनुष्य का धर्म है।"[2] वह अनेक प्रकार के कार्य और उद्यम करती है, जिससे उसका जीवन पुनः सुखी होता है। उसका परिवार पुनः साथ होता है और उसे एक पुत्री भी उत्पन्न होती है। भाग्यवती में, जैसा कि ऊपर ही स्पष्ट किया जा चुका है, कर्मठता है, क्रियाशीलता है। वह सदैव ही सक्रिय जीवन में विश्वास रखती है। जीवन की निष्क्रियता के प्रति उसकी अनास्था है। हिन्दी उपन्यास जगत की वह पहली ऐसी नायिका है, जो आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी बनने का प्रयत्न करती है। लगभग चालीस वर्षों के बाद जिस आर्थिक समस्या की ओर जैनेन्द्रकुमार तथा इलाचन्द्र जोशी आदि उपन्यासकारों ने चित्रण कर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया, उसकी यथार्थता श्रद्धाराम फिल्लौरी ने सन् १८७७ ई० (भाग्यवती लिखा सन् १८७७ में लिखा गया था पर प्रकाशित १८८७ ई० हुआ) में ही समझ लिया था। उन्होंने यद्यपि परोक्ष रूपसे इसे वही प्रचारवादी ढंग से उपन्यासमें प्रचारित नहीं किया है, पर भाग्यवती के चरित्र में नारी की विवशता की वह मूल समस्या निहित है, जो उसकी आर्थिक परतन्त्रता से सम्बन्धित है और जिसके कारण भाग्यवती ही नहीं,

---

१ श्रद्धाराम फिल्लौरी भाग्यवती, (१८८७ ई०), काशी, पृ० ६।

२ श्रद्धाराम फिल्लौरी भाग्यवती, (१८८७ ई०), काशी, पृ० ५५।

समस्त नारी जाति का जीवन दुःखी एवं प्रताड़ित है। भाग्यवती के चरित्र से लेखक ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि नारियाँ यदि अपनी आर्थिक दासता की शृंखलाओं को विच्छिन्न करे, तो उनका जीवन सदैव ही सुखमय होगा। लेखक ने नारी की उच्च शिक्षा का भी समर्थन किया है। भाग्यवती के चरित्र में पूर्ण आधुनिकता होते हुए भी उच्छृंखलता नहीं है। उसके चरित्र का विकास पूर्णतया यथार्थवादी ढंग से हुआ है। यह इस युग के लिये एक अप्रत्याशित बात थी। उसमें सजीवता कूट-कूट कर भरी हुई है और लेखक के आदर्शवादी या सुधारवादी दृष्टिकोण के होते हुये भी उसमें कहीं भी कृत्रिमता या अस्वाभाविकता का समावेश नहीं हुआ है। उसका कर्मठ एवं सबल व्यक्तित्व एक ऐसे सन्धिस्थल पर खड़ा होता है जहाँ एक ओर सामन्ती रूढ़ियाँ विरोध में चूर-चूर हो जाती हैं, तो दूसरी ओर पहले से चली आती हुई रूढ़िग्रस्त एवं जर्जरित सामाजिक जीवन क्षयग्रस्त होकर मनोवांछित रूप में एक भिन्न तथा लोकोत्तर दिशा की ओर उन्मुख हो जाता है। सामंती ढाँचा उसके आदर्श के सम्मुख ठहर नहीं पाता, ध्वस्त हो जाता है। सामंती वातावरण से वह निःसंकोच कृषक जीवन एवं साधारणता की ओर प्रयाण करती है, इसमें उसे लज्जा, या खिन्नता का अनुभव होता है। अपनी रूढ़ि विमुखता क्रियाशीलता एवं विचार-वृद्धि के कारण वह अपने युग में तो अकेली नायिका है ही, प्रेमचन्द युग एवं प्रेमचन्दोत्तर युग की नायिकाओं में भी वह अपने ढंग की अकेली ही है। उसके चरित्र-प्रकाशन में लेखक को अपार सफलता इसलिये प्राप्त हुई है कि उसने अपने दृष्टिकोण को आदर्शवादी बनाए रखते हुये भी यथार्थवाद का दामन कहीं नहीं छोड़ा, जिससे भाग्यवती का चरित्र यथार्थवादी सृजन प्रक्रिया का श्रेष्ठ कलात्मक कौशल बन पड़ा है।

बाबू जयराम दास गुप्त कृत लक्ष्मीदेवी (१९१४) की नायिका लक्ष्मी भी इसी श्रेणी की नायिका है। वह काशी निवासी बाबू अयोध्या दास की पुत्री थी। श्यामा उसकी बहन थी। पिता की मृत्यु के उपरान्त सरकार ने दोनों के लिये व्यक्तिगत रूप से सौ-सौ रुपये की आर्थिक सहायता नियत कर दी जिसे लक्ष्मी अपनी बहन श्यामा के साथ इलाहाबाद के गर्ल्स स्कूल में डॉक्टरी पढ़ने के लिये आती है। लक्ष्मी आदर्श युवती थी, तीव्र कुशाग्र बुद्धि वाली थी। उसमें अध्ययन के प्रति विशेष रुचि थी, इसलिये वह अपना अध्ययन छोड़ कर मोतीलाल नामक युवक से विवाह कर लेती है। दोनों की प्रवृत्तियों में 'परस्पर' सामंजस्य नहीं हो पाता इसलिए उसका विवाहित जीवन भी सुखी नहीं रहता और सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। वह एक के बाद एक पति बदलती जाती है और अन्त में दर-दर भटकती है। पर इसके विपरीत लक्ष्मी अपना अध्ययन समाप्त कर 'योग्य, सरल और कार्यकुशल' डॉक्टर बनकर नारायण प्रसाद के साथ विवाह कर लेती है। उसमें सतीत्व के गुण हैं और वह समाज सेवा को अपना आदर्श बनाती है। हिन्दी उपन्यासों की वह पहली इतनी सुशिक्षित एवं डॉक्टर नायिका है। पर इसके बावजूद भी विस्मय होता है, लेखक

उसे पर्दे में रखना चाहता है। "पर्दे का यथार्थ मतलब तो यही है कि जहां तक सम्भव हो न तो सूरत दिखाई जाय और न आवाज सुनाई जाय और इसी प्रकार यथा सम्भव न पर पुरुष का मुख देखा जाय न शब्द सुना जाय।"[1] नारी के लिये यह कठोर मर्यादा है। आश्चर्य है उच्च शिक्षा का समर्थन करके भी लेखक ने इतनी रूढ़िवादिता प्रदर्शित की है।

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'त्रिवेणी", (१८८८) की नायिका त्रिवेणी प्रेमदास की तरह वर्षीया पुत्री है। उसका विवाह मनोहर दास वैद्य से हो जाता है। पिता की मृत्यु के पश्चात् मनोहरदास अपनी पत्नी के साथ तीर्थयात्रा पर निकलता है। वे लोग पदल और बाद में नाव से यात्रा करते हैं। उनका उद्देश्य काशी जाने को था किन्तु मार्ग में बक्सर में ही नाव टूट जाने से सभी यात्री बह गए। मनोहरदास किसी प्रकार गाजीपुर पहुँच गया, और त्रिवेणी भी बच जाती है, पर पति से नहीं मिल पाती है। उस इसका अत्यन्त शोक होता है, और वह बराबर दुःखी रहती है। वह पति के नाम की माला जपती है और उसके अच्छे होने की प्रार्थना किया करती है। अन्त में कुम्भ के मेले के अवसर पर दोनों पुनः मिल जाते हैं। वस्तुतः इस उपन्यास में लेखक ने अपनी सुधारवादी वृत्तियों को ही अधिक प्रश्रय दिया है, और चरित्र चित्रण पर अधिक बल नहीं दिया है। इसीलिए त्रिवेणी का चरित्र अधिक नहीं निखर सका है।

गोस्वामी जी के दो अन्य उपन्यास "हृदयहारिणी" (१८९०) की नायिका कुसुमकुमारी तथा 'लवगलता' की नायिका लवगलता भी इसी श्रेणी की नायिकाएं हैं। कुसुमकुमारी यवनों के हाथ पड जाती है, पर वह अपने सतीत्व की रक्षा कर सकने में सफल हो जाती है। इसी प्रकार लवगलता अपने को सिराजुद्दौला के चगुलों से बचाने में सफल होती है। कथानक में तिलिस्म और ऐयारी का भी काफी अश है। कुसुमकुमारी और लवगलता के रूप में लेखक ने हिन्दू समाज के सामने दो ऐसी वीरांगनाओं के उदाहरण रखे, जिन्होंने प्राणों की बाजी लगाकर अपने पतिव्रत और धर्म तथा जाति पर किए गए मुसलमानों अत्याचार का विरोध किया।[2] यदि लेखक इन दोनों उपन्यासों में मनोरजक तत्वों एव ऐयारी और तिलिस्म के अत्यधिक समावेश के अतिरिक्त कुसुमकुमारी और लवगलता के चरित्र चित्रण पर बल देता तो दोनों नायिकाएं और भी प्रभावशाली हो पातीं, और समाज की नारियों के सम्मुख जातीय गौरव एव अपनी मर्यादाओं की रक्षा तथा पतिव्रत धर्म के पालन के अनुपम उदाहरण और भी शक्ति के साथ प्रस्तुत कर सकने में समर्थ होतीं।

---

१ जयराम दास गुप्त लक्ष्मीदेवी, (१९१४), काशी, पृ० ८

२ डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय आधुनिक हिन्दी साहित्य, (१९४८), इलाहाबाद पृष्ठ २०६।

जयशंकर प्रसाद के उपन्यास "तितली" (संवत् १९९१) की नायिका तितली भी इसी कोटि की नायिका है। तितली रामनाथ की पोषित पुत्री है। रामनाथ के ही समान उसके विचार आदर्शवादी ढंग के हैं और उसमे बौद्धिक चेतना आ गई थी। उसमे अदम्य साहस है, धैर्य है, और परिस्थितियो का सामना कर वातावरण से ऊपर उठने की शक्ति है। उसके विवाह के समय विरोध उत्पन्न होता है, पर तितली की दृढ़ता से उसके आत्मगौरव की रक्षा होती है। मधुवन कलकत्ते भाग जाता है तो तितली पर एक के पश्चात् एक दुःख आते जाते हैं, पर कभी वह अपना साहस नही खोती, संघर्ष कर परिस्थितियो को अपने अनुकूल बनाने का वह प्रयास करती है। उसकी दृढ़ता और धीरज देखते ही बनता है। तितली मे किसी प्रकार की विद्रोह भावना नही है। वह परम्पराओ मे विश्वास रखने वाली नारी ही है। उसे परम्पराओ के प्रति विद्रोह का मोह नही है। मधुवन के आने की आशा लगभग धूमिल ही हो जाती है। उसके सबध मे अनेक कथाएं ग्राम में प्रचारित होती रहती हैं, जिससे तितली को गहरी आत्मव्यथा होती है, पर उसका विश्वास कभी नही टूटता। वह अपने पति का कभी अनिष्ट नही सोचती, उसके संबंध में कभी उन प्रचारित कथाओ पर विश्वास नही करती—"संसार भर उनको चोर, हत्यारा और डाकू कहे, किन्तु मैं जानती हूँ कि वह ऐसे नही हो सकते। इसीलिए मैं कभी उनसे घृणा नही कर सकती। मेरे जीवन का एक एक कोना उनके लिए, उस स्नेह के लिए सतृष्ट है। मैं जानती हू कि वह दूसरी स्त्री को प्यार नही करते। कर भी नही सकते।"[1]

इस प्रकार गहन आत्मविश्वास की परिधि में तितली आगे बढ़ती है। वह स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करती है ताकि मधुवन की अनुपस्थिति मे वह जी सके, परिस्थितियो के साथ चल सके। वह अपनी पूर्ण कर्त्तव्यपरायणता के साथ अपने पुत्र मोहन को पालती-पोसती है और उसे भी कर्त्तव्यशील बनाने का प्रयास करती है। उसके सामने प्रमुख समस्या रहती है—आर्थिक समस्या। मधुवन की अनुपस्थिति मे आर्थिक संकटो को झेल सकने और मोहन को लेकर जीवन आगे बढ़ाने की समस्या उसके सम्मुख प्रमुख रूप मे रहती है। यह समस्या उसकी एक नही, बल्कि सारे देश के नारी समाज के सम्मुख थी और है। तितली इससे पलायन नहीं करती बल्कि कुशल गृहिणी बन आत्मविश्वास और साहस से इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करती है। उसमें आत्मगौरव है, और उसकी रक्षा की उत्कट लालसा है। वह किसी के सम्मुख झुकती नहीं। उसमे दूसरों के प्रति स्नेह, उनके दुःख दर्दो के प्रति पूर्ण सहानुभूति है। उसमे तीव्र बौद्धिक चेतना है और अपने दुःख मे किसी को जबर्दस्ती विवश कर सम्मिलित करना उसे अभिष्ट नही। वह स्वयं ही कहती है—"······मैंने यही समझा कि मुझे दूसरो के महत्व प्रदर्शन के सामने अपनी

१. जयशंकर प्रसाद : तितली, (संवत् १९९१), इलाहाबाद, पृष्ठ २५६।

लघुता न दिखानी चाहिए। मैं भाग्य के विधान से पीसी जा रही हूँ, फिर उसमें तुमको, तुम्हारे सुख से घसीट कर, क्यों अपने दुख का दृश्य देखने के लिए बाध्य करूँ? मुझे अपनी शक्तियों पर अवलम्ब करके भयानक संसार से लड़ना अच्छा लगा। जितनी सुविधा उसने दी है, उसी की सीमा में मैं लड़ूँगी अपने अस्तित्व के लिए ।[1]

तितली के यही गुण उसके व्यक्तित्व को इस भाँति श्रेष्ठ बनाते हैं कि उसके आकर्षण से प्रभावित हो शैला जैसी नारियाँ भी उससे आदर्श ग्रहण करने का प्रयत्न करती है। पर यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि तितली के चरित्र-चित्रण में प्रसाद की आदर्शवादिता ही अधिक झलकी है। प्रसाद ने तितली को निरंतर उच्चता प्रदान करने और गौरव गरिमा से उसे अलकृत करने का प्रयास किया है। उन्होंने उसके दुर्बल पक्षों की ओर एक प्रकार से बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया है इसी कारण तितली से पूर्ण तादात्म्य भी नहीं स्थापित हो पाता। शैला और अन्य पात्र भले ही उससे आदर्श ग्रहण करते रहें और वह हमारी भावना के क्षेत्र में भले ही अपने आकर्षण की चमक-दमक उत्पन्न करती रहे, पर उसकी स्वाभाविकता में अनेक कमियाँ रह गई हैं। तितली में केवल एक बार ही दुर्बलता दिखाई गई है, जब कि वह व्यंग्य प्रताड़नाओं और आर्थिक संकटों को झेल सकने की कठिनाइयों से घबराकर आत्महत्या के लिए चल पड़ती है। इस एक घटना के अतिरिक्त कोई भी ऐसा महत्वपूर्ण स्थल नहीं आता जिससे तितली के चरित्र के दोनों पक्षों पर प्रकाश पड़ सके। तितली का चरित्र अधिकांश रूप में आदर्शवादिता के ताने बाने में ही निर्मित किया गया है।

जैनेन्द्रकुमार के उपन्यास "कल्याणी" (१९३२) की नायिका कल्याणी भी इसी श्रेणी में रखी जा सकती है। कल्याणी व्यक्तिगत जीवन में अत्यन्त पतिव्रता, धर्मपरायणा एवं सद्‌विचारों वाली महिला हैं। वे सदैव स्वच्छंदता की गोद में पली थी, और जीवन पथ में उस स्वच्छन्दता को वे स्थायी बनाए रखना चाहती हैं। किन्तु अपनी स्वच्छन्दता को स्थायित्व प्रदान करने के लिए वे कभी अपने पति की उपेक्षा नहीं करती। इसके विपरीत उनके पति संकीर्ण विचारों वाले हैं। दोनों का वैवाहिक जीवन बिल्कुल ही सफल नहीं रह पाता। यहाँ बार-बार प्रश्न आर्थिक समस्या का उत्पन्न होता है। डा० असरानी यह तो चाहते हैं कि कल्याणी की प्रक्टिस खूब चल निकले, यथेष्ट मात्रा में धनोपार्जन हो सके। वे केवल यही तक कल्याणी की स्वतन्त्रता चाहते हैं, इसके बाद प्रत्येक पग पर कल्याणी पर वह अपना अधिकार चाहते हैं। कल्याणी का नाम डा० भटनागर और रायसाहब के साथ जोड़ कर जब अनेक दोषारोपण कल्याणी पर किए जाते हैं तो डा० असरानी असंतुष्ट हो अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं और कल्याणी को चरित्रहीन

१ जयशंकर प्रसाद तितली, (संवत् १९९१), इलाहाबाद, पृष्ठ २४१-२४२।

समझ बैठते है। वे कल्याणी को बुरी तरह पीटते हैं, पर वह इसे चुपचाप सहन कर जाती है। कल्याणी के पति चाहते है कि वह गृहिणी बने, पर यहीं एक समस्या उठ खड़ी होती है पारिवारिक आय की। बेचारी कल्याणी अपने पति की प्रसन्नता के लिए अपने निजत्व को मिटा देती है।

कल्याणी का वैवाहिक जीवन सफल न था। वह अपने इस जीवन से असंतुष्ट थी। उसमे जीवन को नये सिरे से प्रारम्भ करने की उत्कट लालसा है। पर उसमें कोई विद्रोह की प्रवृत्ति नही है। वह विवाह संस्था को तोड़ना-फोड़ना नही चाहती थी। अपितु जीवन जिस रूप मे भी था वह उसे ही सवार कर अपने अनुरूप बनाने का प्रयास करती थी, बल्कि अपने को उन परिस्थितियों मे ढालने का भी प्रयास करती थी। असतुष्टि मे भी वह कोई राह खोज निकालना चाहती थी, नही तो उसका विचार था कि यदि ये पारिवारिक बन्धन न होते, उसकी गृहस्थी का भार उस पर न होता, तो वह किन्ही भी परिस्थितियो मे डाक्टरी न करती। वह चाहती थी कि अगर उसे नया जन्म पुन मिले तो वह अपने को अस्वीकार करके न चले, फिर चाहे उसका कोई भी परिणाम हो। वह जीवन का प्रारम्भ जैसे नये सिरे से करना चाहती थी और प्रस्तुत जीवन को गलत शुरु हुआ समझकर मानो उसे यही खत्म हुआ देखना चाहती थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि वह कोई क्रान्ति नही चाहती थी, विवाह संस्था को तोड़-फोड़ विध्वंस नही चाहती थी पर वह अपने जीवन से पूर्णतया असंतुष्ट थी। वह मानसिक विक्षिप्तियों से दूर शान्ति चाहती थी। पारिवारिक उलझनों से दूर व्यवस्था चाहती थी। और पति व्यवहार की विच्छृंखलता से दूर पति प्रेम चाहती थी पर उसके जीवन मे कही कुछ यह सब था नहीं और अपनी इस सारी व्यथा को वह चुपचाप सहन करती हुई उसी मे घुलती जा रही थी, अपने को मिटाती जा रही थी। वह स्वय ही कहती है, "मैं जानती हूं कि मैं अधिक काल नही जीऊंगी। ऐसा जीना कठिन है, व्यर्थ है।"[१]

धीरे-धीरे परिस्थितियों से विवश होती जा रही कल्याणी की स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है और वह अपने जीवन को दूसरी ही दिशा देती है। अब वह दिन मे एक बार खाती है, बार बार स्नान करती है और कम-से-कम चार घंटे मन्दिर को देती है। वह भक्ति भावना मे अपने को लय कर देना चाहती है। पति चाहते थे कि धनोपार्जन के अतिरिक्त कल्याणी स्वच्छन्दता की माग न करे। सो कल्याणी अपने को पति इच्छा के अनुकूल ही नये साँचे मे ढालने का प्रयास करती है। वह पतिधर्म का पालन करने और पति को प्रसन्न करने के लिये अपना निजत्व धीरे-धीरे मिटाती चलती है। पर अपने पति को किसी प्रकार अपमानित नही किया चाहती। वह कहती है "उनका मुझ पर बहुत आभार है। कृपापूर्वक उन्होंने मुझे स्वीकार किया है। मैंने कहा, मैं आपके मन की गृहलक्ष्मी बनकर स्वय भी रहना

१ जैनेन्द्रकुमार—कल्याणी, (१९३२), बम्बई, पृ० ७२।

चाहती हूं, पर वह तभी रह सकती हूँ जब डाक्टरनी न रहूँ। डाक्टर होकर अन्तःपुर की शोभा मुझसे बहुत न बढ़ेगी। उस हालत में हर किसी के सामने मुँह उघाड़े मिलना और बोलना होता है। यह भाव नारी के योग्य नहीं है, यह मैं नहीं कहती हूँ। बल्कि उस भाव परम्परा पर चलने की मैं अब इच्छा रखती हूँ दोनों में से कोई एक चुनकर मुझे दे दो—पातिव्रत या डाक्टरी। मैं पति में परायण हो जाऊँ, या डाक्टरी की कमाई करके दूँ, दोनों साथ होना कठिन हैं। पर दो नावों पर रहेंगे तो हालत डगमग रहेगी। और जो मेरे चुनने की बात हो तो मैं कहूंगी, डाक्टर मैं नहीं बनना चाहती।"[1]

गुरू की कल्याणी का इस कल्याणी में बदल जाने पर कदाचित आश्चर्य हो? वह कल्याणी जो सभा सोसायटी में जाती है अपनी स्वतन्त्रता चाहती है, करती है और पूरे रूप में 'माडर्न' है, उसका सहसा भाव ललना बनने की बात करना, डाक्टरी छोड़ गृहस्थिन बनने की बात अविश्वास पूर्ण भी हो सकती है। पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। कल्याणी का यह भाव परिवर्तन शान्ति एवं व्यवस्था के प्रति उत्कट लालसा, पारिवारिक अतृप्ति एवं असन्तोष तथा पति सुख की मंगल कामना की प्रतिक्रिया स्वरूप ही उत्पन्न हुआ था। और जो परिस्थिति डा० असरानी ने कल्याणी के सामने प्रस्तुत कर दी थी उसमें सिवाय इसके कि कल्याणी इसी मार्ग का अवलम्बन करे, उसके सम्मुख और चारा भी क्या था? बीच बाजार में डा० असरानी कल्याणी को जूते से मारते हैं क्योंकि वह एक सभा में निश्चित समय पर नहीं पहुंच पाती और डा० भटनागर की पत्नी को देखने चली जाती है। किन्तु इस अपमान को भी कल्याणी चुपचाप बिना किसी प्रतिरोध के पी जाती है। और वह पति परायण तब भी बनी रहना चाहती है।

बाद में पता चलता है कि प्रीमियर मित्र को विदेश में कल्याणी ने निराश किया था, जिसकी उसके मन पर गहरी प्रतिक्रिया हुई है। इसीलिए कल्याणी में इतना अन्तर्विरोध मिलता है। उसमें आदर्श और प्रवृत्ति का संघर्ष बराबर बना रहता है। एक ओर वह अपना निजत्व मिटा कर पति को संतुष्ट करना चाहती है, पातिव्रत धर्म का पालन करना चाहती है। दूसरी ओर अतृप्ति और अवसाद भी उसे मथता रहता है। इन दो असंगतियों के बीच कल्याणी आगे बढ़ती है। भारतीय तपोवन की स्थापना कल्याणी का एक सपना है। इस स्वप्न को साकारता प्रदान करने के लिए वह अनेक इष्टमित्रों के समक्ष हाथ फैलाती है यहाँ तक कि प्रीमियर तक के समक्ष भी, पर सभी जगह उसे निराशा की प्राप्ति होती है। इस वितृष्णा, कुंठा, अपमान और अतृप्ति के साथ कल्याणी अपने पातिव्रत धर्म का सामंजस्य स्थापित करना चाहती है—पूर्णतया अतुकान्त सी बात, और कल्याणी इसमें असफल ही रहती है। एक दिन वह खीझ कर कहती भी है—"तुम साफ-साफ कह क्यों नहीं

---

१ जैनेन्द्रकुमार—कल्याणी, (१९३२), बम्बई, पृ० ३९।

देते कि तुम क्या चाहते हो ? मुझे तिल-तिल कर बेचना चाहते हो—सो वह तो हो रहा है। आखिरी सास तक मेरा बिक जायगा, तब भी मैं इकार नही करूँगी।"[1]

कल्याणी के इस असन्तोष का एक अन्य मनोवैज्ञानिक पहलू भी है। वह क्यो एक असफल गृहिणी बनी, इसका कारण तो स्पष्ट है। डाक्टरी और गृहस्थी दोनो का सामंजस्य कल्याणी के लिए दुष्कर था। उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति कि डाक्टरी अलग चीज है, पातिव्रत्य अलग चीज है, पूर्णतया निराधार नही है। इन दो असंगतियो का समन्वय डा० असरानी चाहते थे, जबकि कल्याणी केवल गृहस्थी चाहती थी, पातिव्रत्य धर्म का पालन कर पति को संतुष्ट करना चाहती थी, और इसी परस्पर अन्तर्विरोध के कारण ही कल्याणी असफल गृहिणी बन कर रह जाती है। कल्याणी का अपने पति से उन्मन रहना मनोविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली मे अचेतन अहं (Ego) और अचेतन (ID) के परस्पर घात प्रतिघात एवं अन्त मे अचेतन (ID) की विजय ही है। जैनेन्द्र की कथाकृतियो मे इसी अचेतन अहं (Ego) और अचेतन (ID) का सघर्ष चलता रहता है। कभी ऐसी परिस्थिति आती है कि अचेतन अहं (Ego) विजयी परिलक्षित होता है। और कभी अचेतन (ID) की विजय का आभास होता है। प्रत्येक मे घर (Ego) की बाहर (ID) के प्रति उत्कट लालसा है, आकाक्षा है, और परिस्थितिया प्राय इस प्रकार की होती हैं, कि घर बाहर के प्रति आत्मसमर्पण के लिए विवश रहता है। और इसी आधार पर यह स्पष्ट है कि कल्याणी का पति से उन्मन रहना अचेतन (ID) की विजय ही है। अत मे कल्याणी की मृत्यु एक तीखा विषाद छोड जाती है।

कल्याणी की परिकल्पना तत्कालीन समाज मे पति-पत्नी के मध्य परस्पर अन्तर्विरोध का परिणाम है। पश्चिमी शिक्षा के प्रसार से नारियो मे अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए रखने की प्रबल भावना जन्म ले रही थी, पर साथ ही वे अपनी परम्पराए भी नहीं त्यागना चाहती थीं। ये दो परस्पर विरोधी बातें थीं क्योकि भारतीय परम्परा मे नारी पति के सम्मुख अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रख सकती, वह अपने पति की पूर्ण रूप से सहचरी होती थीं, और भारतीय मनोवृत्ति इस प्रकार की निर्मित भी हो गई थी कि पुरुष नारी पर अपना पूर्ण अधिकार और नियन्त्रण चाहता था। वह नारी को अपनी दासी समझता था, और चाहता था कि नारी प्रत्येक क्षेत्र मे उसकी आज्ञाओं का पालन करे। नारी मे जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होता जा रहा था, इस भावना के विरुद्ध उसके अन्तरमन में विरोध भी उत्पन्न होता जा रहा था। परिणामस्वरूप ऐसे विवाहित जीवन अशातिपूर्ण और हलचलो से व्याप्त रहते थे। लेखक का उद्देश्य ऐसी ही परिस्थिति का चित्रण करना था, और कल्याणी का चरित्र इसी सन्दर्भ मे विकसित हुआ है।

---

१. जैनेन्द्रकुमार—कल्याणी, (१९३२), बम्बई, पृ० ८७।

गृहस्थ जीवन में प्रेम का संघर्ष

भारत मे नारियो को विवाह सम्बन्धी वह स्वतन्त्रता प्राप्त नही थी, जो पश्चिमी देशों मे साधारण सी बात थी। इसीलिए नारियो को जीवन पर्यन्त अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता था। यो भी यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तो हर व्यक्ति की भावनाओ मे कोई न कोई विशेषता होती है। उसके सोचने का ढग भिन्न होता है, उसकी कार्य प्रणाली भिन्न होती है उसकी कल्पनाए धारणाए सभी कुछ भिन्न होती हैं। यद्यपि कई चीजो म उसकी अन्य व्यक्तियो से समानता हो सकती है पर कोई न कोई विशिष्टता उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का निर्माण करती है। प्रकट है कि अपने जीवन साथी के रूप मे वह अपनी रुचि एव अपने विचारो वाली नारी को चाहेगा, जिससे उसका जीवन स्वय के सदृश निर्मित हो सके। यही बात नारियो के सम्बन्ध मे होती है। चू कि अग्रेजो के भारत मे आगमन के पश्चात् चतुर्दिक परिवर्तन लक्षित हुआ और धीरे-धीरे प्रगतिशीलता की भावना का प्रसारण हुआ तो समाज के कठोर एव कुछ सीमा तक रूढ नियमो मे भी शिथिलता आई तथा नारियो को समाज मे अपना स्थान बनाने का अवसर भी मिला। इसम उनका सम्पर्क अपने रुचि एव विचारो के अनुकूल पुरुषो से प्राय स्थापित हो जाता था, और धीरे धीरे उनमें प्रेम भाव का भी उदय हो जाता था। यह तो हुई प्रेम होने की बात पर यह आवश्यक नही था, कि प्रेम का अन्त विवाह म ही हो जाय। समाज विवाह सम्बन्धी नियमो के शिथिल करने को तत्पर न था, और विशेषतया नारी के सम्बन्ध म तो वह किंचित मात्र भी झुकने को तैयार न होता था। परिणाम यह होता था, कि नारियां विवशताओ की शृंखलाओ मे आबद्ध समाज की कठोरता से समझौता कर लेती थी। और इस प्रक्रिया मे उन्हे अपने जीवन स सुख एव सतोष को सदव के लिए तिलाजलि दे देनी पडती थी। यही नही, उनका विवाहित जीवन भी प्राय असतोषपूर्ण ही रहता था। वहाँ कत्तव्य एव प्रेम के बीच बराबर सघर्ष वतमान रहता था, और यदि कही पति को पूर्व प्रेम सम्बन्ध का आभास हो जाता था तो बेचारी नारियां सन्देह का शिकार बनी रहती थी। कभी कभी तो ऐसा होता था, कि पति स्वय दूसरी नारी से प्रेम करने लगता था, ऐसी अवस्था मे तो नारियो को और भी विषम परिस्थिति का सामना करना पडता था। पर नारियाँ कभी भी अपने पातिव्रत धर्म को नही त्यागती थी। उनका प्रेम उनकी राहो पर अधकार की भाँति आच्छादित रहता था, पर उनका कत्तव्य उन्हे सदैव आलोक प्रदान करता था और वे कभी कत्तव्य के सम्मुख अपने प्रेम को महत्त्व नही देती थी, पति के सम्मुख प्रेमी महत्त्वहीन होता था। कभी कभी ऐसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती थी, जब पति का मित्र उनसे प्रेम करने लगता था, और उनका भावुक मन उसे अस्वीकृत प्रदान कर उनका जीवन नष्ट नही करना चाहता था। यद्यपि इसका यह तात्पर्य नही है कि वे अपने पातिव्रत धर्म को त्याग देती थी। वे उसका भी पालन करती थी और अपने प्रेमियो का जीवन निर्माण करने का भी प्रयत्न करती थी। हिन्दी उपन्यासो मे ऐसी नायिकाओ

के रूप सुनीता (सुनीता), मृणाल (त्यागपत्र), जमना (नारी) तथा अलका (अलका) आदि में प्राप्त होते हैं।

"निराला" के उपन्यास "अलका" (१९३३) की नायिका शोभा कृषक परिवार से सम्बन्धित है। वह एक विवाहित युवती है, जिसका पति विजय बम्बई विश्वविद्यालय में पढ़ता है। गाँव में इन्फ्लूएंजा का प्रकोप तेजी से है जिसमें शोभा के माता पिता दोनों की मृत्यु हो जाती है। अकेली शोभा एक व्यक्ति के बहकाने से कठिनाइयों में फंस जाती है, पर आने वाले दुर्भाग्य का संकेत पाकर वह भाग जाती है। एक वीरान जगह पर वह बेहोश होकर गिर पड़ती है। वहाँ पं० स्नेहशंकर उसे अपने घर ले जाते हैं। शोभा वहीं अलका बन जाती है। स्नेहशंकर उसे अपनी पुत्री की तरह पालते हैं और सान्त्वना देते हैं। अलका वहीं पढ़ने का सिलसिला शुरू करती है और दर्शन की अच्छी खासी ज्ञाता बन जाती है। वह बहुत ही सरल स्वभाव की है। छल कपट से बिल्कुल अनभिज्ञ उसके हृदय में उदारता है, दया है। वह गम्भीर स्वभाव की है और जब कभी उसे अपने अकेलेपन में विजय की याद आती है, पं० स्नेहशंकर का पितृ-तुल्य स्नेह उसे दबा देता है।

अलका क्लब वगैरह भी जाने लगती है। ऊंचे तबके के लोगों के समाज में आने के कारण वह एक प्रकार से पूर्ण आधुनिक बन जाती है। एक दिन वह क्लब में प्रभाकर नामक युवक को देखती है, और उससे प्रभावित होती है। वह मन ही मन उसके प्रति आकर्षित होती चलती है, और प्रभाकर के कहने से ही श्रमिकों के एक स्कूल में पढ़ाने भी जाने लगती है। वहाँ से लौटते समय एक दिन मुरलीधर आदि कुछ दुष्ट लोग उसे कार में बैठा कर उड़ा ले जाना चाहते हैं, पर अलका पिस्तौल से उनकी हत्या कर देती है। पर खुद भी बेहोश हो जाती है। संयोग से उसी राह प्रभाकर भी गुजर रहा था। वह उसे उठा कर घर ले आता है। वहीं प्रभाकर का पुराना मित्र अजीत भी आता है जो प्रभाकर को पहचान लेता है। वह प्रभाकर और कोई नहीं स्वयं अलका का पति विजय था।

इस प्रकार अलका का चरित्र एक छोटे से, धूल में लिपटे हुए बीज के निखरने की कहानी सदृश ही है। अलका का चरित्र और भी स्पष्ट होकर निखरता, यदि लेखक उसे अपने हाथों की कठपुतली न बना डालता। अलका के चरित्र का स्वतन्त्र विकास कहीं नहीं हो पाया है। वह लेखक की दिशाओं में उसके संकेतों के अनुसार ही घूमती रहती है। वास्तव में अलका की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में लेखक का उद्देश्य भारतीय नारियों के समक्ष यह आदर्श रखना था, कि उनमें तीव्र प्रतिभा एवं चेतना सोई हुई है, जिसका देश के लिए उन्हें विकास करना होगा। वे आधुनिकता की ओर चाहे जितना बढ़ सकती हैं, पर उसका तात्पर्य यह नहीं, कि वे अपने परम्परागत आदर्शों को भी त्याग दें, और उच्छृंखलता की सीमा का अति-

क्रमश कर दें। वे उस आधुनिकता से भी अलका की भाँति अपनी पवित्रता और सतीत्व की रक्षा कर सकती है। अलका नहीं जानती थी, कि प्रभाकर ही उसका पति है और जाने अनजाने वह उसकी ओर आकर्षित हो जाती है उसके विवाहित जीवन में संघर्ष उत्पन्न होता है पर वह भरसक अपने पति के साथ विश्वासघात नही करती जिसकी याद वह परिवर्तित परिस्थितियो मे अपनी पूर्ण आधुनिकता के बावजूद भी सीने से चिपकाए रहती है। अलका की कल्पना कदाचित् तत्कालीन कट्टरपंथियों के लिए विचित्र लगी होगी, पर तब उपन्यासकार नवीनता के प्रति अपना अधिक आग्रह प्रकट करने लगा था, और वह प्राचीनता के प्रति आस्थावान रहकर अपनी प्रगति कुण्ठित नही करना चाहता था।[1] अलका भारतीय नारी के विकास की कहानी ही है जो तत्कालीन परिस्थितियो की पृष्ठभूमि मे कुशलतापूर्वक प्रस्तुत की गई है।

इस श्रेणी मे जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुनीता' (१६३६) की नायिका सुनीता का भी अध्ययन किया जा सकता है। सुनीता की तुलना प्राय रवीन्द्रनाथ के 'घरे बाहिरे' की मधुरानी से की जाती है, पर दोनो के सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् सरलता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सुनीता, मधुरानी की अपेक्षा अधिक सशक्त है। सुनीता मे भाव प्रवणता, त्याग की अनुपम प्रवृत्ति और आदर्शवाद कूट कूट कर भरा हुआ है। "सुनीता" मे हरि प्रसन्न नामक अपने एक मित्र के जीवन प्रवाह को एक निश्चित गति प्रदान करने मे श्रीकान्त अपनी पत्नी सुनीता को साधन बनाना चाहते हैं। नारी मे जो जन्मजात लज्जा होती है उसका पाश्चात्य परम्परा मे चाहे कुछ भी स्थान न हो, पर अपनी भारतीय परम्परा मे वह नारी का आभूषण समझी गई है। अपने इसी आभूषण को वह आधुनिक सभ्यता एव सस्कृति के चौराहे पर नीलाम कर उससे प्राप्त त्याग एव आत्मोत्सर्ग के धन से हरिप्रसन्न की दमित शमित वासनाओ की तृप्ति करती है।

सुनीता पतिपरायण है, गृहस्थ जीवन मे कुशल है और अपने पति के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करती है। पर "उसकी पति परायणता इतनी दुष्प्राप्य किसी स्थल पर नही हुई है कि प्रायश्चित का सहारा उसे दरकार हो। पति मे उसकी निष्ठा उसे "हरिप्रसन्न" के प्रति और भी स्नेहशील और उदार होने का बल देती है,

---

१ However the novels of present age still testify to a persistant moral disquietude In this respect the generation of today more definitely continues that of yesterday It remains as viewed in far the greater number of interesting works, instinct with a mood of revolt against the existing order of ideas and the fact Already in the years before the first world war it was evincing a tendency to pessimism '

—कजामुई कैजमियां ए हिस्ट्री ऑव इगलिश लिट्रचर, लन्दन, पृ० ४४२।

आरम्भ से उसकी आँख खुली है और अन्त तक जो उसने किया है या उससे हुआ है, उसमें वह मोह मुग्ध नही है। आरम्भ से वह जागरूक है और कही गृहिणी धर्म से च्युत नही है। उस "घर" में अंत तक इतना स्वास्थ्य है कि "हरिप्रसन्न" को हठात् स्मृति से दूर रखना उसके लिए जरूरी नही है। प्रत्युत "हरिप्रसन्न" के प्रति सदा वह घर अपना ऋण मानेगा और उसकी याद रखेगा[1]।"

"सुन्दरी, सुशीला, सुनीता, उच्च शिक्षिता हैं। घर के अपने नौकरों चाकरों को हटाकर घर का काम धन्धा भी स्वयं अपने हाथों से करती हैं। ऊँची शिक्षा भी उसके पूर्ण गृहस्थिन बनने की राह मे नही आती, यहाँ तक कि वह चौका बासन भी अपने हाथों से करती है। सृष्टि के दो मूल पक्ष प्रधान रूप से है—"स्व" अर्थात् भोग्य या ज्ञेय। इस "स्व" और "पर" का भेद माया है। मैं और मेरा से मिलकर घर बनता है। पर सुनीता और श्रीकान्त ने जो घर बनाया है, वह घर ही उन दोनों के संयुक्त अस्तित्व को अपने में लय कर लेता है। काम काज की बात जहाँ तक है, दोनों एक हैं, पति पत्नी है पर उसके बाद दोनों अलग-अलग ही अपनी बुद्धि प्रक्रियाओं से संघर्ष करते रहते हैं। सुनीता के पास सशक्त मन है। मन की सबलता का अर्थ है सृजनशीलता, कल्पनाशीलता। वह केवल काम-धन्धों की बातों से ही सम्बन्ध रखती है, बाकी सब कुछ उसका "स्व" है।

सुनीता दूसरे की भावनाओं का भी ध्यान रखती है, यही नहीं सभी कुछ उसका "स्व" है। वह यह भी जानती है कि किस बात से किसको दुख पहुँचेगा। हरिप्रसन्न सुनीता से पूर्ण रूप से मिल नहीं पाया है, और दोनों मे स्पष्टता नहीं आ पाई है। हरिप्रसन्न को पन्द्रह रुपये की आवश्यकता है। सुनीता श्रीकान्त को रुपये देते हुए अपना आशय प्रकट करती है कि हरिप्रसन्न को यह बिलकुल भी नही ज्ञात होना चाहिये कि मुझे भी यह रहस्य ज्ञात है।

सुनीता केवल साधारण नारी ही नही है, अपने कर्त्तव्यों को पहचानने की, अपने उत्तरदायित्वों को निबाहने की उसमें पूर्ण शक्ति है। वह नारी के महान् रूप को ही अपनाने का प्रयास करती है। त्याग······, और त्याग जैनेन्द्र के सभी-पात्र यही चिल्लाते रहते हैं और करते भी हैं। सुनीता उनसे परे नहीं है। नारी क्या है? वह सही मायने मे इसे पहचान पाई है। हरिप्रसन्न से वह कहती है, "······हमारा यह काम है कि हम पुरुषों को सामने चलावें। जब तक वह सामने बढ़ता है, हम पीछे पीछे हैं। जब वह पीठ की ओर भागना चाहे, तब हम सामने सामने हो आती है। हमसे पार होकर वह नही जा सकेगा। स्त्री यह न सहेगी कि पुरुष उसके आगे मार्ग स्पष्ट न करता जाये। पुरुष इस दायित्व से भागना चाहेगा तो पीछे स्त्री में गिरफ्तार होकर फिर उसे आगे-आगे चलना होगा। पुरुषों के इस अधिकार के आगे स्त्री कृतज्ञ है। किन्तु स्त्री का भी यही अधिकार है कि पुरुष को पदच्युत न होने दे।"[2]

---

१. जैनेन्द्रकुमार : "जैनेन्द्र के विचार", पृष्ठ ३५।
२. जैनेन्द्रकुमार : सुनीता (१९३९); बम्बई, पृष्ठ ६६।

यों सुनीता मननशील है, चिन्तनशील है पर वह वाक्शून्य नहीं है, उसमें अच्छी खासी तर्क शक्ति भी है और विवादों में भली भाँति भाग ले सकती है। उसके स्वभाव में शुष्कता भी है, सरसता भी। पर दोनों का कहीं अतिक्रमण नहीं हुआ है। वह न कहीं पूर्ण रूप से नीरस ही है और न कहीं सरस है। चुप रहेगी तो बस चुप, लेकिन बोलना जब शुरू करेगी तो सरसता का वातावरण उत्पन्न कर देती है।

सुनीता सदैव घर की चार दीवारी में रही है, मर्यादाओं से बंधी रही है, इसीलिये उसे ऐसे चरित्रों के प्रति आकर्षण है, सहानुभूति है, जिसमें गजब की आवारगी है। यों भी यह मानव स्वभाव है कि दूरी, दृश्य में रुचिरता रहती है। वह हरिप्रसन्न को राह पर लाने के लिए कटिबद्ध हो जाती है। यदि नारी यह नहीं कर सकती, तो, "वह सोचती है कि स्त्री फिर किसलिये है, यदि पुरुषों को प्रयोजन-दान फल-दान में नियोजित नहीं करती। क्या स्त्री इसलिये है कि पुरुष को अपने से निरपेक्ष रहने दे और महाप्रकृति को बच्चा? क्योंकि दुनिया को रेगिस्तान नहीं होना है, क्योंकि उसको लहलाकर हरियाला हो उठना है, इसीलिए क्या पुरुषों के इस जगत् में विधाता ने हम स्त्रियों को नहीं सिरजा है? —नहीं-नहीं हरिप्रसन्न यों खुला ही खुला छूटा ही छूटा, एक ही एक बसे रहने दिया जायगा[1]।

और जब सुनीता से हरिप्रसन्न राष्ट्र के कार्यों में संलग्न होने को कहता है तो सुनीता की अपनी परिस्थिति तथा वह महत्ती कार्य दोनों उसकी चेतना को मथ जाते हैं। वह परिवार का विशृंखलित नहीं करना चाहती, वह परिवार की शान्ति भंग नहीं करना चाहती पर उसके अन्तरमन का विद्रोह उसे जैसे चेतावनी देता है कि वह बड़ा हित इतना लघु इतना सीमित तो नहीं कि उसे परिवार की परिधि के आगे न ले जाया जाय। पर नहीं, वह भारतीय नारी है और नारीत्व के सारे गुण उसमें कूट-कूटकर भरे हुए हैं। नारी का सभी कुछ अपने पति में है। स्वामी ही उसके जीवन की सारी प्रक्रियाओं का लक्ष्य होता है। आधुनिक सभ्यता में यह बात कुछ लोग रूढ़िवादी भले ही कह लें, यशपाल अश्क आदि प्रगतिशील लेखक उसका तिरस्कार भले ही कर लें पर यह बात उतनी ही सच है, जितनी यह सृष्टि, और इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सुनीता इससे परिचित है। वह हरिप्रसन्न से कहती है 'तुम राष्ट्र के लिये मेरा स्वत्वदान मांगते हो। मैं इससे चूकती नहीं, लेकिन मैं अपना स्वत्व पति की सेवा में अर्पण कर दूँ तो क्या अन्तर है? मेरे लिए तो इतना ही इष्ट है कि अपना स्वत्व अपने पास न रखूँ, उसे लोगों के चरणों को सहारने वाली धूल में मिला दूँ? मेरे लिए तो सारा राष्ट्र, सारा समाज, सारा श्रेय जिस व्यक्ति में समा जाना चाहिए, वह तो मुझे प्राप्त मेरे स्वामी हैं।"[2]

और रात्रि के निर्जन वातावरण में जब हरिप्रसन्न सुनीता को अपनी बाहों

१ जैनेन्द्रकुमार सुनीता (१९३६), बम्बई, पृष्ठ ७४-७५।
२ जैनेन्द्रकुमार सुनीता (१९३६), बम्बई, पृष्ठ १६[illegible]

में समेट लेता है तो सुनीता विक्षिप्त हो अपने सारे वस्त्र उतार कहती है—"हरी, मुझे लो, मुझे पाओ। इस एक आवरण को भी हटाये देती हूँ। वही मुझको ढक रहा है। मुझे चाहते हो न ? मैं भी इन्कार नहीं करती। यह लो···"[1]

ऐसे स्थल सुनीता के चरित्र को दुरूह बना देते हैं पर उसके आकर्षण को कम नहीं करते, यह निर्विवाद है। उसमें बौद्धिक पक्ष अत्यन्त प्रबल है, इसलिये वह अपनी भावनाओं, अपनी परिस्थितियों, अपनी विवशताओं से पीड़ित रहती है। उसमें विद्रोह भी प्रस्फुटित होता है तो उसको परम्परा उसका दमन कर देती है, पर वह अन्दर ही अन्दर नासूर की भाँति उसकी अशान्ति का कारण बन जाती है। एक तरफ श्रीकान्त के प्रति उनका कर्तव्य है, दूसरी ओर हरिप्रसन्न के प्रति उसका उत्तरदायित्व और फिर तीसरी ओर हरिप्रसन्न उत्पन्न कर देता है राष्ट्र के प्रति उसका महती उत्तरदायित्व। वह इन्हीं तीनों के संघर्ष में डूबती उतराती रहती है, पर अन्त में विजय उसके कर्तव्य की होती है। वह श्रीकान्त के कदमों में ही शरण पाती है। प्रारम्भ में सुनीता यों गृहस्थी का भार उठाती तो चलती है, पर पति से खीची-खीची से रहती है। यही हाल श्रीकान्त का भी था। उसे यों भी कह लें, घर एक प्रकार से उजड़ा हुआ सा था। "घर" में "बाहर" (हरिप्रसन्न) का प्रवेश होता है, और फिर "घर" की स्थिति ही बदल जाती है। अन्त में सुनीता और श्रीकान्त का वैवाहिक जीवन उचित दिशा प्राप्त कर लेता है, इसीलिए 'घर' एक प्रकार से "बाहर" का ऋणी ही है।

सुनीता का चरित्र दो अन्तर्विरोध के मध्य निर्मित हुआ है। एक ओर वह पति परायण है, विवाह संस्था को भी नहीं तोड़ना चाहती क्योंकि वह निबाहने योग्य संस्था है, और ईश्वर में विश्वास रखती है। दूसरी ओर वह अपने प्रेमी को उचित राह पर लाने और नहीं मानने से पुरुष बनाने में भी कोई कसर नहीं रखती, यहाँ तक कि यदि वह कामाग्नि से उत्पीड़ित हो संघर्ष कर रहा है, तो उसकी कामवृत्ति को भी पूर्ण करने को तत्पर हो जाती है। लेकिन अन्त में अचेतन (ID) की ही विजय होती है। सुनीता की परिकल्पना के पीछे लेखक का उद्देश्य परस्पर विरोधी परिस्थितियों में नारी को रखकर उसकी परीक्षा करना, तथा उसका आत्म-विश्वास, उसकी पवित्रता, एवं पातिव्रत-धर्म के पालन की उत्कट भावना को प्रकट करना था। इस कल्पना का एक मनोवैज्ञानिक उद्देश्य भी था। कुछ लोग जीवन में रोमांच (Sensation) चाहते हैं। प्रायः पति अपनी पत्नी को तब तक प्यार नहीं कर पाता, जब तक वह पूर्ण रूप से पति-परायण रहती है। पर जब एक अन्य पक्ष भी आ उपस्थित होता है, और पत्नी उसकी ओर बढ़ने लगती है, तो चोट खाया हुआ (Injured thirty party) पक्ष सजग होता है, और अपनी पत्नी को पूरे रूप में

१ जैनेन्द्रकुमार : सुनीता (१९३६), बम्बई, पृष्ठ २०८।

प्राप्त करना चाहता है, उससे प्रेम करता है। सुनीता और श्रीकान्त के साथ यही होता है।

जैनेन्द्र के एक अन्य उपन्यास "त्याग पत्र" (१९३७) की नायिका मृणाल की माँ की बचपन में ही मृत्यु हो गई थी। अतः वह अपने भाई के साथ रहने लगी। मृणाल के पास प्रचुर मात्रा में सौंदर्य था। एक दिन स्कूल में उसकी एक सहेली मास्टर साहब की कुर्सी में एक पिन चुभो देती है। मास्टर साहब के बैठते ही वह पिन जब उन्हें गड़ी तो वे अत्यन्त ही क्रोधित हुए। शीला को मास्टर साहब की क्रोधाग्नि में झुलसने से बचाने के लिए सारा अपराध अपने सिर ले लेती है। और शारीरिक दंड भी सह लेती है। इससे शीला और मृणाल दोनों एक दूसरे के और भी निकट हो गई दोनों में और भी घनिष्ठता हो गई। छोटी अवस्था से ही मृणाल अपने भतीजे प्रमोद से बेहद प्यार करती थी और जैसे जैसे वह बड़ी होती गई, वह प्यार गहनतम ही होता गया। बड़ी होने पर वह प्रमोद को कभी सीने से लगा लेती, कभी अपने आलिंगन में जकड़ कर प्यार करती। पर कुछ ही दिनों पश्चात् मृणाल परायी हो गयी, उसका विवाह हो गया। कुछ वर्षों पश्चात् प्रमोद को पता चलता है कि मृणाल अपने पति गृह से निष्कासित हो चुकी है और वह एक कोयले वाले के साथ रहने लगी है। कुछ दिनों पश्चात् जब मृणाल गर्भवती हो गई तो वह कोयले वाला भाग गया। अनेक यन्त्रणाएँ सहने के पश्चात् वह एक डाक्टर के यहाँ मास्टरनी हो गई। उसी डाक्टर साहब के यहाँ प्रमोद के विवाह की बातचीत चल रही थी। मृणाल के बहुत मना करने पर भी प्रमोद डाक्टर साहब से सारी वास्तविकता बता देता है। परिणामस्वरूप डाक्टर साहब का परिवार प्रमोद के विवाह की बातचीत भंग कर देता है, और बेचारी मृणाल नौकरी से भी निकाल दी गई। उसे एक बच्ची होती है पर वह भी उसके विषाद को तीव्रता करने के लिए काल कवलित हो जाती है। अनेक वर्षों तक दर दर की ठोकरें खाने के पश्चात् आखिरकार मृणाल की मृत्यु हो जाती है।

जैनेन्द्र के मृणाल के चरित्र को मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया है। वह प्रारम्भ से अन्त तक अमुक्त वासना से आलोड़ित है पर इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति न कर वह भी आत्मत्याग के मार्ग को अपनाती है। मृणाल के अन्तरमन में अपनी जिन्दगी के प्रति, इस व्यवस्था के प्रति एक जबरदस्त विद्रोह की भावना है, जो पाठकों के दिलोदिमाग को चीरती चलती है। तप और साधना—मृणाल ने अपने जीवन के यही दो चरम लक्ष्य बना लिए हैं। वह अपनी व्यथा को स्वयं ही चुपचाप सहन करती चलती है। समाज की अव्यवस्था और पुरुष की वासनात्मक भूल वह सहज रूप से सहन करती है, पर उसके मन में जो विद्रोह है, जो असंतोष है, वह कभी हिंसात्मक रूप नहीं लेने पाता। वह समाज को तोड़ना फोड़ना नहीं चाहती। क्योंकि—"समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे? या किसके भीतर

बिगड़ेंगे ? इसलिए मै इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा मे खुद ही टूटती रहूं।"[1]

यहां स्वभावतः यह प्रश्न होता है कि मृणाल अपने को ही क्यो तोड़ना चाहती है ? यह मात्र इसीलिए नही कि उसमे कही भीरुता है या संघर्ष करने की क्षमता नही है, समाज की अव्यवस्था को दूर करने की प्रवृत्ति नही है ? जैनेन्द्र की धारणा है कि ब्रह्माण्ड और पिण्ड मे एक ही सत्ता की प्रधानता है। वे जीवन को समग्र रूप मे देखना चाहते हैं, उसकी खण्डता के पक्षपाती नही हैं। इसके लिए आवश्यक तत्व है प्रेम। प्रेम का ही एक रूप अहिंसा है और जैनेन्द्र के नारी पात्र इसी अहिंसात्मक तत्व से निर्मित हुए हैं। वे सभी यातनाएं सहन करती जायेंगी, एक के बाद एक व्यथा ग्रहण करती जायगी, पर सभी कुछ चुपचाप होता चलता है, कही उनके मुख से आह तक नही प्रकट होगी। आत्म त्याग ही उनका प्रधान उद्देश्य होता है। मृणाल इसका अपवाद नही बल्कि एक जबर्दस्त उदाहरण है। जैनेन्द्र स्वभावत: गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान मे सम्पूर्ण आकृति को पहले महत्ता दी गई है, रेखाओं को बाद मे। क्योंकि उनके मतानुसार अलग-अलग रेखाओ का न तो कोई अस्तित्व ही है, न कोई महत्व ही है। हम स्वभावत. किसी वस्तु को एक समष्टि या इकाई के रूप मे देखते है। हम उसे खडित रूप मे नही देखते। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान मे उत्तेजना और प्रतिक्रिया के शब्दो मे व्यवहार की व्याख्या पसन्द नही की जाती। जैनेन्द्र ने यही ग्रहण किया है और तदनुकूल मृणाल का चरित्र निर्मित होता है। वह गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिको के सिद्धान्तो के अनुरूप है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रेम का ही एक रूप अहिंसा है। मृणाल उसी अहिंसा मे विश्वास करते-करते आत्मव्यथा चुपचाप सहन करती चलती है, और उसी मे उसकी मृत्यु भी होती है। गुरु की सीधी-सादी मृणाल मे धीरे-धीरे चलकर इसीलिए इतना ज्ञान और दर्शन की गूढ बातें आ जाती है, क्योंकि सचमुच जो शास्त्र मे नही मिलता, वह ज्ञान आत्मव्यथा मे मिल जाता है।

मृणाल के जीवन मे प्रारम्भ से ही अतृप्ति है। उसके माता पिता की मृत्यु हो गई होती है। माँ की ममता उसे प्राप्त नही हुई, पिता के स्नेह से भी वह वचित ही रही है। वह अपने भाई के यहां रहती है और ले देकर उसे जो भी थोड़ा बहुत प्रेम मिला है वह केवल अपने भाई का ही। पर जिस सीमा तक वह प्रेम की अपेक्षा करती है, भाई का प्रेम उसे पूर्ण नही कर पाता। भाई का जो स्नेह मिलता है, भाभी का व्यवहार उसे उल्टा ही करता चलता है। शीला के भाई से उसका प्रेम सम्बन्ध भी स्थापित होता है पर वह भी केवल क्षणिक ही था, मानसिक चेतना मे एक हिलोर उठाकर अपनी गहरी विषादमयी प्रतिक्रिया छोड शांत हो जाता है। इसके पश्चात् उसका बेमेल विवाह, पति से विचारो का परस्पर सामंजस्य न होना और

१. जैनेन्द्रकुमार : त्यागपत्र, (१९३७), बम्बई, पृष्ठ ८०।

पति द्वारा दी जाने वाली यन्त्रणाएं, सभी कुछ जैसे मृणाल की अतृप्ति को एक व्यापक परिवेश में आबद्ध कर विद्रूपता का रूप धारण कर लेती है। घर तब भी मृणाल सब कुछ सहन करती चलती है। पति धर्म का भी पालन करती चलती है। पति उस घर से निष्कासित कर देते हैं तो भी वह अपना पति धर्म नहीं छोड़ती। 'पति को मैंने नहीं छोड़ा। उन्होंने ही मुझे छोड़ा है। मैं स्त्री धर्म को पतिव्रत धर्म ही मानती हूं। उसका स्वतन्त्र धर्म मैं नहीं मानती। क्या पतिव्रता को यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता तब भी वह अपना भार उस पर डाले रहे? वह मुझे नहीं देखना चाहते, यह जानकर मैंने उनकी आंखों के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया। उन्होंने कहा—"मैं तेरा पति नहीं हूं, तब मैं किस अधिकार से अपने को उन पर डाले रहती? पतिव्रता का यह धर्म नहीं है।"[1]

पर अंत में वह कोयले वाले को आत्म समर्पण कर ही बैठती है। वह परिस्थितियों से निरन्तर पराजित होते रहने पर भी साहस और धीरज नहीं खोती है। आत्महत्या करके अपने जीवन को सारी यन्त्रणाओं से मुक्ति नहीं दे देती है। वह आत्मसमर्पण करती है एक कोयले वाले को। यही एक व्यक्ति ऐसा था जिसने डूबती मृणाल को जैसे तिनके का सहारा दिया। हारती मृणाल को आलम्बन दिया। उसका यह आत्मसमर्पण अनायास ही नहीं है, किसी हिस्टीरिया ग्रस्त रोग का उन्माद नहीं है। उसने यह सब उत्तेजना में नहीं बल्कि ठंडे मस्तिष्क से किया है। क्योंकि मृणाल अपने पति गृह से निष्कासित हो चुकी थी, पति से समझौते का उसका प्रयत्न भी असफल हो चुका था और वह निराश्रित हो चारों ओर से हारती, ठोकर खाती जा रही थी। ऐसे ही कठिन समय में वह कोयले वाले के सम्पर्क में आती है। कोयले वाला अपना सब कुछ भूल, अपना परिवार छोड़ मृणाल के साथ रहता है। मृणाल स्वयं ही कहती है—"उसका प्रेम स्वीकार करने की कल्पना भी दुर्विसह थी। पर उसका दायित्व क्या मुझ पर न था? और यह भी ठीक है कि उस समय उसका (कोयले वाले का) सर्वस्व मैं ही थी। मैं उसके हाथ से निकलती तो वह अनर्थ ही कर बैठता। अपने को मार लेता, या शक्ति होती तो मुझे मार देता। सच कहती हूं प्रमोद, कि उस समय उस आदमी पर मुझे इतनी करुणा आई कि मैं ही जानती हूं। मैं उसके इस भ्रम को किसी भांति न तोड़ सकी कि मैं उसकी हूं, उस पर मुग्ध हूं। ऐसा करना निर्दयता होती, मेरे पास जो कुछ बचा खुचा था, मैंने उसे सौंप दिया।"

इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक मृणाल का चरित्र आत्म त्याग पर ही निर्भर करता है। जीवनशक्ति का मूलस्रोत आत्मव्यथा में है। दुख उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों, और पीड़ा उत्पन्न करने वाले वातावरण से घृणा न करनी चाहिए। विषाद कोई अभिशाप नहीं है, और उससे दूर न भाग उसमें आनन्दोल्लास की

---

१ जैनेन्द्रकुमार त्यागपत्र, (१९३७), बम्बई, पृष्ठ ९८-९९।

सम्भावना खोज निकालना ही अहिंसा का चरम लक्ष्य है। अभुक्त वासना को संजो कर रखना नहीं बल्कि उसका विवरण करते रहना भी अहिंसा के अंतर्गत है। मृणाल को इसीलिए अपनी मुक्ति का एक मात्र मार्ग आत्मसमर्पण मे ही दृष्टिगोचर होता है, और एक बार जब उसे राह मिली तो वह हिचकती नहीं। मृणाल की संवेदन शीलता, उसकी भावुकता, चरित्र की गम्भीरता सभी कुछ जैसे पैने अस्त्र की भाँति पाठकों के हृदय को चीरते चलते है, और सभी जैसे यह समस्या प्रस्तुत करते चलते है कि नारी क्या इसीलिए प्रताडित है, निर्दयता का शिकार है, कि आर्थिक रूप से वह परतन्त्र है, पुरुष के आश्रित है? आत्मपीड़न की साधना मे ही अंत में मृणाल की मृत्यु हो जाती है और वह जैसे इस जीवन्त समस्या के सम्मुख प्रश्नसूचक चिन्ह लगाकर जाती है। मृणाल की परिकल्पना का स्रोत वे भारतीय परम्पराएं थी, जिनके शिकंजे में नारी कुछ इस तरह जकड़ी हुई थी, कि उसका अस्तित्व दासी के अतिरिक्त कुछ और न रह गया था। उसे विवाह में अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट करने की स्वतन्त्रता न थी। माता पिता उसे अपनी इच्छानुसार चाहे जिसके गले मढ़ सकते थे, वह कुछ कह भी न सकती थी। फिर नारी की आर्थिक समस्या भी भीषण रूप से उपस्थित थी। नौकरी आदि की वह व्यवस्था नारियों के लिए उस समय सुलभ न थी जो आज अति सामान्य है। वे आर्थिक रूप से विवाह के पूर्व अपने अभिभावकों और विवाहोपरान्त अपने पति पर आश्रित रहती थी, जिससे उनके रहे सहे स्वतन्त्र अस्तित्व का भी लोप हो जाता था। जैनेन्द्र मृणाल के माध्यम से इन्हीं परिस्थितियों का चित्रण करना चाहते थे, जिससे समाज इस भीषण समस्या के समाधान के लिए कोई दिशा निकाल सके। वे स्वयं किसी क्रान्ति के पक्ष में न थे, और गांधीवादी होने के नाते स्वत. इस समस्या का धीरे-धीरे शान्तिपूर्ण ढंग से बिना किसी क्रान्ति के कोई समाधान चाहते थे। मृणाल इसीलिए घुट-घुट कर मर जाना अधिक समझती है। अपने उद्देश्य मे जैनेन्द्र को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

इसी दृष्टि से सियारामशरण गुप्त के उपन्यास "नारी" स० (१९९४) की नायिका जमना का भी अध्ययन किया जा सकता है। जमना का पति घर से भाग गया है। वह अपने एकमात्र पुत्र हल्ली के साथ अकेले गाँव में रहती है। उसमे अभी यौवन है, वह सुन्दर है, और इसीलिए उसके सम्मुख फिर से घर बसाने के अनेक प्रलोभन आ चुके थे, पर वह यह न चाहती थी। उसका मन कहता था कि उसका पति एक दिन अवश्य वापस आयगा और वह बेसब्री मे उस दिन की प्रतीक्षा कर रही थी। वह निरन्तर अपने से संघर्ष करती रहती है। कभी दुर्बल पड़ जाती है, पर साहस और धैर्य नहीं खोती। उसका धैर्य और परिस्थितियों से संघर्ष करने की हिम्मत सचमुच बड़ी प्रशंसनीय है। वह दयावान है, अपनी विवशता और निर्धनता में भी उसका हृदय दयालु है, वह बेईमानदारी की बात सोच ही नहीं सकती। मोतीलाल महाजन को वह रुपये बराबर देती आई है, पर उनसे रसीद नहीं लेती थी और जब मोतीलाल ने एक अच्छी खासी रकम बकाया के रूप में दिखा दी तो भ

अजीत के लाख कहने पर भी वह मोतीलाल को बेईमान कहने या रुपया देने से अस्वीकार करने की बात नहीं सोच पाती।

जमना में ममता का भाव कूट-कूट कर भरा है। अपने हल्ली के अच्छे चरित्र चित्रण पर तो वह बल देती है, साथ ही उसे प्यार भी करती है। यही नहीं वह गाँव के अन्य बच्चों को भी ममता भरी दृष्टि से देखती है। हीरा हल्ली के रुपये चुरा लेता है। पंडित जी उसे मारने को कहते हैं तो वह हल्ली से कहलाती है, रुपये गये तो गये, हीरा को न मारें। पर अजीत उसे जमना के बारे में सच ही कहता था—' देखो जमना, तुम सतजुग की रहने वाली हो, परन्तु समय तो सतजुग का नहीं है। कलयुग के लिये कलजुग का ही बनना पड़ता है।'[1]

और जमना सचमुच इसी के अनुरूप ही थी। वह परिस्थितियों से संघर्ष तो करती गई पर अकेली बेबस नारी कब तक संघर्ष करती? उसे चाहिये था किसी का आलम्बन, किसी का विश्वास, किसी की शक्ति, यह सब उसे न प्राप्त थे, और एक दिन हार कर वह अजीत से विवाह के लिये भी कहती है, पर तभी एक दिन सुनाई पड़ता है कि आज उसका पति वापस लौटने वाला है और फिर भी अस्थिर हो जाती है। वह दुविधा में पड़ जाती है, पर पति केवल कुएं और जमीन की रजिस्ट्री मोतीलाल के नाम कर चला जाता है गाँव नहीं आता है। यह जमना की बेबसी की सबसे बड़ी हार थी। और आखिर में हल्ली कहता है— माँ, अब *तुम यह घर छोड़ दो। हम लोग अजीत काका के घर यहाँ से भी अच्छी तरह* होंगे। इस घर में रज के मारे तुम बच न सकोगी। अब मैं अपने बप्पा को बप्पा न कहूँगा।'[2]

यही बात जमना के मन में भी विद्रोह के रूप में फूट रहा था, पर वह स्पष्ट नहीं कर पाती थी। हल्ली ने सब कुछ समझ लिया, और उसके कथन से जैसे उसे ताकत मिली उसकी दिशा स्पष्ट हुई और वह चल पड़ी। जमना के व्यक्तित्व के मूल में अतृप्ति की भावना है। वह अभुक्त वासना का लिये ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित होती है। वह अभुक्त वासना के वितरण में ही अपनी सफलता मानती है। अपनी व्यथा और अपनी अतृप्ति को वह चुपचाप पीकर संघर्ष में आगे बढ़ती है, और साहस से उसका सामना करती है। जमना का प्रेम की ओर झुकना उसकी विवशता की बड़ी मार्मिक कहानी है। वह आशा की अंतिम किरण तक अपने कर्तव्य पथ का पालन करती रही, और जब हर तरफ से निराश हो जाती है, तभी वह जीवन में एक आलम्बन की ओर झुकती है। जमना की धैर्यशीलता, उसका साहस एवं आत्मविश्वास नारियों के समक्ष एक अनुकरणीय आदर्श रखते हैं, जिनके अंकन में लेखक को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

---

१ सियारामशरण गुप्त नारी, (सं० १९९४), झाँसी, पृष्ठ ७१।

२ सियारामशरण गुप्त नारी, (सं० १९९४), झाँसी, पृष्ठ १९०।

अनमेल विवाह और पारिवारिक अशान्ति

गृहस्थ जीवन की सफलता के मार्ग मे सबसे बड़ी बाधा अनमेल विवाह होता था। दहेज की समस्या, सामान्य रूप से व्याप्त निर्धनता तथा ऐसे ही अनेक कारणों से विवश माता-पिता को अपनी लडकियो का विवाह प्रायः ऐसे व्यक्तियो से कर देना पडता था, जो स्वयं उनकी ही आयु के होते थे, और जिनकी संताने उसी आयु की होती थी, जितनी आयु स्वय लडकी की होती थी। ऐसी अवस्था मे बेचारी लड़की की सारी कल्पनाएं और इच्छाएं कालगति के साथ ही झुलस जाती थी, और आत्मव्यथा के साथ ही उसका जीवन असन्तोषपूर्ण हो जाता था। उसके सम्मुख सबसे बडी विवशता तो यह रहती थी कि यदि वे अपने पति के पहले के पुत्रो को प्यार न करे, उनकी देख-भाल न करें, तो समाज उन्हे घृणा की दृष्टि से देखता था, और उन्हे अपयश प्राप्त होता था। इसके विपरीत यदि वे उन पुत्रों को प्यार करती थी, तो पति उन्हे सन्देह की दृष्टि से देखता था। ऐसे वातावरण मे पारिवारिक अशांति की स्थिति बराबर बनी रहती थी, और असन्तोष की ज्वाला परिवार के सभी सदस्यो के मन मे भीतर सुलगती रहती थी। परिणाम यह होता था कि अच्छा खासा परिवार नष्ट हो जाता था। समाज में ऐसी नारियों का बाहुल्य पहले भी था, आज भी है, और कदाचित् आगे आने वाले उस युग तक रहेगा, जब तक कि वर्तमान मान्यताओं और व्यवस्था में पूर्ण रूप से परिवर्तन नही हो जाता। पर उपन्यासो मे ऐसी नारियो के चित्रण के प्रयास बहुत ही कम क्या, नही के बराबर हुए हैं। आलोच्य-काल मे इस प्रकार की दो ही नायिकाएं निर्मला, (निर्मला), तथा प्रभा (जीजी जी) के रूप मे प्राप्त होती है। अनमेल विवाह के कुछ अन्य भी दुष्परिणाम होते है, जिनमे सबसे प्रमुख है नारी की स्वतन्त्रता का अपहरण। इसका चित्रण अचल की नायिका मजु (अलका) प्रस्तुत करती है।

प्रेमचन्द के उपन्यास "निर्मला" (१९२२-२३) की नायिका निर्मला एक ऐसी नारी के रूप मे चित्रित की गई है जो अपने अनमेल विवाह के कारण जीवन भर करुणा एव दुःख ग्रस्त रहती है। इस असंगति के कारण एक भरा पूरा हँसता परिवार विनाश की कालिमा के नीचे ढक जाता है, उसकी सुख शांति समाप्त हो जाती है। निर्मला के पिता का देहान्त हो जाता है और परिवार का सम्पूर्ण बोझ उसकी माता कल्याणी पर आ जाता है। वह परिवार का बोझ ही सरलता से नही उठा सकती तो निर्मला का विवाह कैसे करे? अच्छे विवाह के लिए अच्छा दहेज चाहिए और कल्याणी यह न कर सकने के कारण निर्मला का विवाह बाबू तोताराम से कर देती है, जिनके पहले से ही तीन पुत्र हैं। सबसे बड़े पुत्र मनसाराम की आयु १६ वर्ष की है, और निर्मला उससे छोटी है। भाग्य की विडम्बना और समाज की क्रूर परम्पराओं ने बेचारी निर्मला को अपने से अधिक आयु वाले पुत्र की माता बना दिया। निश्चित था कि विवाह के पश्चात् निर्मला और तोताराम के जीवन

में असन्तोष उत्पन्न हो, कटुता उत्पन्न हो और परिस्थितियाँ ऐसी थी कि दोनो उससे बच न सके। निर्मला की परिस्थितियो का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण लेखक ने प्रस्तुत किया है— 'वह अपना रूप और यौवन उन्हें न दिखाना चाहती थी, क्योंकि वहाँ देखने वाली आँखें न थी। वह इन्हें इस रस का आस्वादन करने के योग्य न समझती थी। कली प्रभात समीर ही के स्पर्श से खिलती है। दोनो में समान सारस्य है। निर्मला के लिए वह प्रभात समीर नहीं था?'[१]

निर्मला के पास सौन्दर्य की कमी न थी। वह एक खिलती हुई कली थी और उसके मुखमण्डल पर एक स्वर्गीय आभा प्रदीप्त रहती थी। वह जब कभी भी अपने आभूषण पहनती शृंगार करती और दर्पण के सम्मुख खड़ी होती तो जल उठती। उसका सारा बनाव शृंगार किस लिए? उसका सौन्दर्य किस लिए? उस अनमेल विवाह में एक सुन्दर युवती की मनोरम कल्पनाएं, दुल्हन बनने के सपने सुख संतोषपूर्ण जिन्दगी की इच्छाएं और अपनी सन्तानो को पाल पोस कर ऊँची शिक्षा देने की सारी हसरतें जल कर राख हो गई थी। और यही नही समस्या सिर्फ विवाह तक ही न सीमित थी। उसके चारो ओर की परिस्थितियाँ भी अजब की थीं। यदि वह अपनी सौत के पुत्रो को प्यार देती है अपने मन का सारा दुलार उन पर उंडेलती है, ममता देती है तो पति की संशयावस्था का कारण बनती है और यदि ऐसा नहीं करती है तो समाज की प्रताड़नाओ का शिकार बनती है। ऐसी विषम परिस्थितियो में मानसिक सन्तुलन बनाए रखना बड़ा कठिन होता है और निर्मला के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के कुशल चित्रण के कारण ही निर्मला का चरित्र इतना स्वाभाविक और प्रभावशाली बन पड़ा है।

निर्मला के चरित्र की दो बातें मुख्य हैं। उसके एक ओर कर्त्तव्य है, दूसरी ओर प्रेम। धैर्य एवं सहनशीलता के साथ अपनी विषम परिस्थितियों से संघर्ष करती हुई वह कर्त्तव्य की ओर उन्मुख होती है। प्राय विवाह की बात से लड़कियाँ उत्सुकता की परिधि में आ जाती हैं। भावी जीवन क्या होगा, कैसा होगा, पति कैसे होगे, घर वाले कैसे होंगे, आदि के प्रति उनकी सहज जिज्ञासा होती है। पर निर्मला अपने विवाह की बात से अत्यन्त गम्भीर हो जाती है। उसकी यह गम्भीरता ही मानो उसके भावी जीवन का सकेत देती है। बाबू तोताराम के यहाँ वह गृहस्थी का भार सम्भाल लेती है और अपना कर्त्तव्य पथ पहचानने की कोशिश करती है। एक बार जब वह अपना कर्त्तव्य पथ पहचान लेती है तो बराबर उस पर चलती है। हाँ, वह पत्नीत्व के धर्म का पालन करने में असमर्थ रहती है। बाबू तोताराम के प्रति जो आकर्षण उसमें होना चाहिए, उसका अभाव हमे प्रारम्भ से ही मिलता है। इसका कारण स्पष्ट है। प्रेमचन्द ने प्रारम्भ में ही उसके मुख से कहलवाया है कि, "अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर

१ प्रेमचन्द निर्मला, (१९२२ २३), बनारस, पृष्ठ ३८।

झुका कर, देह चुराकर निकलती थी, अब उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था। वह उसे प्रेम की वस्तु नहीं, सम्मान की वस्तु समझती थी।"[१]

तोताराम खर्च बहुत करता है, निर्मला को खजान्ची बना देता है, उसके एक संकेत मात्र पर कुछ भी कर सकने को तैयार हो जाता है, दाम्पत्य प्रेम का व्यावहारिक उपयोग भी करता है पर तब भी निर्मला को वह सुख-संतोष नहीं दे पाता, जिसकी वह अधिकारिणी है और जो लड़कियों की चिर-संचित अभिलाषा होती है—वह यह, कि वे महसूस कर सकें कि पति हम उम्र हों, सुन्दर हों, प्रेम करने वाले हों आदि और यह चीज़ जब तोताराम के पास थी ही नहीं तो वे बेचारे निर्मला को कहाँ से देते ? और सियाराम जब एक दिन बहुत मार खाता है तो उस दिन से मानो अंधियारे में छिपा हुआ उसका कर्त्तव्य पथ सामने आ जाता है। उसकी ममता जाग पड़ती है और वह उस बालकों को प्यार कर अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहती है, "...... "बालक को गोद में लिए हुए उसे वह तृप्ति हो रही थी, जो अब तक कभी न हुई थी। आज पहली बार उसे वह आत्म वेदना हुई, जिसके बिना आँखें नहीं खुलती, अपना कर्त्तव्य मार्ग नहीं सूझता। वह मार्ग अब दिखाई देने लगा।'[२]

इस प्रकार उसके हृदय का जो विकास अवरुद्ध हो गया था, वह बच्चों के पालन-पोषण और कर्तव्य पालन में प्रकट होता है। बच्चों के प्रति उसके मन में कोई कुभावना दृष्टिगोचर नहीं होती और इसी कारण पति उस पर सन्देह करता है, पर वह इसकी परवाह नहीं करती। वास्तव में एक अतृप्त नारी हृदय किस प्रकार मातृ-हृदय में परिणत हो सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण निर्मला का चरित्र है। यह एक प्रकार से अतृप्त हृदय के लिए संतोष का साधन था, वैसे अपने पति के घर आने पर उसे सही मार्ग में कभी सुख सन्तोष नहीं मिला। और अपनी इस दारुण निराशा एवं व्यथा का समाधान वह यह कह करती है—"संसार में सबके सब प्राणी सुख सेज ही पर तो नहीं सोते। मैं भी उन्हीं अभागों में हूं। मुझे भी विधाता ने दुख की गठरी ढोने के लिये चुना है। वह बोझ सिर से उतर नहीं सकता......उम्र भर का कैदी कहाँ तक रोयेगा ? रोए भी तो कौन देखता है ? किसे उस पर दया आती है ? रोने से काम में हर्ज होने के कारण उसे और यातनाएं तो सहनी ही पड़ती है।"[३]

वह मन्साराम से अंग्रेजी पढ़ती है, बात करती है तो 'उसकी विलासिनी कल्पना उत्तेजित भी होती थी और तृप्त भी। उससे बातें करते हुए उसे एक अपार सुख का अनुभव होता था, जिसे वह शब्दों में प्रकट न कर सकती थी। कुवासना की

१. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३), बनारस, पृष्ठ ३७।
२. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३), बनारस, पृष्ठ ४३।
३. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३), बनारस, पृ० ५०।

उसके मन में छाया भी न थी। वह स्वप्न में भी मन्साराम से कलुषित प्रेम करने की बात न सोच सकती थी।"[1]

यही पति के सन्देह का कारण बनती है, पर निर्मला सहनशील है, धैर्यवान है। मन्साराम को लेकर किए गए सन्देह को वह केवल इसलिये सन्देह बना रहने देना चाहती है कि सफाई देने की चेष्टा में पति का सन्देह कहीं और न दृढ़ हो जाय? परिणामस्वरूप वह मन की भावनाओं को मन में दबे रहने देना चाहती है। रुक्मिणी जो बराबर निर्मला के चरित्र पर आघात करती है, उन्हें भी निर्मला चुपचाप सहन कर लेती है। अपने कर्तव्य पर उसने अपना आत्म गौरव, अपनी इच्छाएं कामनाएं सभी कुछ स्वाहा कर दी थी। सियाराम को गहने लिये जाते देखती है पर वह चुप रहती है। मन्साराम को ताजा खून देने का निर्णय करती है। पर कभी अपनी परिस्थितियों की विषमता से दूर नहीं भागती, साहस नहीं खोती। जब तक वह जीवित रही वह अपनी सहनशीलता को चरम सीमा पर ले जाती है। उसमें कहीं भी कटुता, आक्रोश, ईर्ष्या या द्वेष का चिन्ह तक हम नहीं पाते।

निर्मला का चरित्र सचमुच बहुत ही आकर्षक है, मार्मिक है और आंखें खोलने वाला है। वह एक टाइप (Type) है जो समाज में नारियों के उस वर्ग की प्रतिनिधि बन कर आती है जो दहेज की कुप्रथा, अनमेल विवाह और असंगतियों के कारण जीवन भर असंतोष, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व और विषम परिस्थितियों से संघर्ष करती रहती हैं और अन्त में उसी में मर जाती हैं। निर्मला के रूप में हम उस नारी को पाते हैं जो कर्तव्य पथ पर चल कर अपना जीवन समाप्त करती है। उसका न तो अपना अहं है न अपनी लालसा। सभी कुछ ऐसा है जैसे वह कर्तव्य की पुतली बन गई हो। निर्मला की परिकल्पना की स्रोत भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्पराओं में निहित है, जिनमें नारी परिवार और पति के लिये ही जीती है और मरती है। साथ ही विवाह की वह कुप्रथा भी जिसमें नारियों को विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता न प्राप्त थी, दहेज का कुप्रभाव और नारियों की आर्थिक समस्या आदि ने मिलकर निर्मला की रचना की प्रेरणा दी और प्रेमचन्द ने उसे पूर्ण सफलता के साथ प्रस्तुत भी किया। निर्मला का चरित्र समाज की उन सारी कुरीतियों का गहराई में कुरेद कर रख देता है जिसमें नारी अपना अस्तित्व खोती जा रही थी।

'उग्र' उपन्यास 'जीजी जी" (१९४३) में जीजी जी का वास्तविक नाम प्रभा है। इस उपन्यास में नारियों की तत्कालीन सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए लेखक ने वस्तुतः यह चित्रित करने का प्रयत्न किया है कि घर में जब तक कोई पुत्र नहीं रहता, तब तक तो लड़कियों को बड़ा मान मिलता है, पर ज्यों ही घर में किसी पुत्र का जन्म होता है, वे सर्वथा उपेक्षणीय समझी जाने लगती हैं।

---

[1] प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३), बनारस, पृ० ६३।

प्रभा का पालन पोषण भी बिल्कुल पुत्र के समान होता था। जब तक परिवार में कोई पुत्र नहीं था, पर एक पुत्र के जन्म लेते ही वह इस कदर उपेक्षणीय हो जाती है, कि उसका व्यक्तित्व अन्दर ही अन्दर खण्डित होने लगता है। फ्रायड ने इसके लिए निश्चित तर्क दिये है। उसके अनुसार लड़कियाँ अपने भाइयों और पिता को देखकर बराबर इस भावना से प्रताड़ित होती रहती हैं कि अन्तत: इस सृष्टि में जन्म लेकर उन्होंने ऐसा कौन सा भीषण पाप किया है, जिससे वे उपेक्षणीय समझी जाने लगती है। प्रभा को अपनी इच्छा के विरुद्ध एक ऐसे व्यक्ति के साथ, जो उसकी विमाता द्वारा चुना गया है, विवाह करना पड़ता है, जिसके सम्बन्ध में वह जानती है कि उसकी पहली पत्नी मर चुकी है, वह वेश्यागामी है शराब पीता और आवारा तथा लम्पट है। विवाह के पूर्व से लेकर और विवाह तक उसके ऊपर जो अत्याचार किए गए हैं, वे अत्यन्त निन्दनीय है, पर प्रभा उनका विरोध नहीं करती। उसमें विद्रोह की भावना किंचित् मात्र भी नहीं है, क्योंकि "अभागी नारी जाति कहे तो युगों से विद्रोह से विलग कर दी गई है और अब विद्रोहिणी नारी को शृंखलित नारियाँ ही अवारी कहने लगती है, फिर वह मीराबाई ही क्यों न हों। विद्रोह में मंगल नहीं……।"[1] इस प्रकार चुपचाप सारा अत्याचार सहन कर जब वह पति-गृह आती है, तो प्रत्येक चीज अव्यवस्थित पाती है। दहेज में उसे अपने पिता के घर से जो सामान मिला था, उसे रखने तक की जगह वहाँ न थी। यही नहीं उसे अपने पति के अत्याचार भी सहन करने पड़ते हैं, जिसे वह चुपचाप सहती जाती है, क्योंकि, "…शादी होने के बरसों पहले मैंने पत्नी जीवन का प्रोग्राम बना लिया था, जिसका मोटो है—सहन, सो बिना किसी शोरोगिला के मैंने जो भी पाया, उसे चमकाने की कोशिश शुरु की थी।"[2] किन्तु प्रभा की सहनशीलता उस दिन परा-काष्ठा पर पहुँच जाती है, जब उसका पति दीनानाथ उससे पूर्णतया नंगी होने को कहता है और वह अस्वीकार कर देती है। वह क्रुद्ध कर प्रभा को त्याग देता है और अन्त में उसकी व्यथा में ही मृत्यु हो जाती है।

प्रभा का चरित्र पूर्णतया आदर्शवादी है, उसमें सहनशीलता है, सहिष्णुता है, विनय और दया की भावना है। उसके रूप में एक ऐसी नारी का चरित्र प्रकाशित हुआ है, जो पीड़ा में ही जन्म लेती है, पीड़ा में ही उसकी मृत्यु हो जाती है, पर वह अपने आदर्शों का त्याग नहीं करती। यदि प्रभा का अनमेल विवाह न होता, तो उसकी गृहस्थी इस प्रकार न उजड़ती, और न विवाहित जीवन में इस प्रकार का संघर्ष ही उत्पन्न होता। उसमें बहन की भी सारी पवित्र भावनाएं साकार हुई हैं, और वह अपनी विमाता के पुत्र को उसी प्रकार अपना स्नेह देती है, जैसे वह उसकी अपनी ही माता का पुत्र हो। प्रभा का चरित्र बड़ा महानुभूतिपूर्ण है।

---

१. पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" : जीजी जी, (१९४३), बनारस, पृ० ५०-५१।
२. पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" : जीजी जी, (१९४३), बनारस, पृ० ८३।

अनमेल विवाह का और भी दुष्परिणाम नारी की स्वतन्त्रता के अपहरण के रूप में होता है। नारी सहिष्णुता की राह अपनाता है, पर अन्ततोगत्वा उस पति की वासना एवं अन्याय के समक्ष विद्रोह करना पड़ता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो अचल कृत 'उल्का' (१९४७) में नारी जीवन की पीड़ा एवं व्यथा से युक्त समस्याओं का ममस्पर्शी चित्रण किया गया है। आत्म चरित्रात्मक शैली में लिखे गये इस उपन्यास की नायिका मंजु एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार में जन्म लेती है और कुण्ठाग्रस्त निराशा एवं अवसाद से परिपूर्ण तथा रूढ़ियों एवं परम्पराओं से ग्रस्त पारिवारिक वातावरण में उसका चरित्र विकसित होता है। वह चाँद नामक युवक से प्रेम करती है जो उसके जीवन का निर्देशक एवं साथी है। दोनों का प्रेम व्यक्ति वादी धरातल पर विकसित होता है। उन दोनों की अपनी व्यक्तिगत सृष्टि होती है, जिसमें उनके सपने पलते हैं, उनके विश्वासों को प्राण मिलता है और उनकी जीवन संवेदनाएं विकसित होती हैं। पर एक दिन उनकी यह सृष्टि ध्वस्त हो जाती है, जब दोनों का परस्पर विवाह नहीं हो पाता। मंजु का विवाह किशोर से हो जाता है। किशोर के जीवन का एक मात्र लक्ष्य वासना तृप्ति है। उसके लिये नारी केवल भोग की एक सामग्री मात्र है। उसके विचार अत्यन्त जड़ एवं असंस्कृत हैं। वह पूर्णतया असम्य है। इस प्रकार अनमेल विवाह की बलिवेदी पर मंजु चढ़ा दी जाती है। विवाह की सामाजिक स्वीकृति एवं सत्सम्बन्धित परतन्त्रता की छाया में विकसित होने वाली नारी की विवशताएं, पारिवारिक कर्तव्य परम्पराओं की गहरी दीवाल एवं जाति भेद की विषमताएं—मंजु के जीवन के विनाश के लिए पर्याप्त थीं। पर वह अपनी आत्मिक शक्ति खोती नहीं और निरन्तर संघर्ष करती रहती है अपने अधिकारों के लिए, अपनी स्थिति की स्वीकृति के लिये। चाँद की आदर्शवादिता उसके और मंजु के परस्पर प्रेम को भैया और बहन के प्रेम का रूप प्रदान कर देता है, और मंजु कर्तव्य की बलिवेदी पर प्रेम का उत्सर्ग कर देती है। वह स्वीकार कर लेती है, "मेरा शरीर स्त्री का शरीर है। मेरा मन लाचारी का मन है। जो मिलता है वह मिलेगा। मुझ तो जन्मावधि सहते जाना है। चाहने न चाहने का कोई मूल्य नहीं है।"[1] यह नारी जीवन की चरम सहिष्णुता हो सकती है, पर प्रश्न उठता है कि क्या नारी जीवन का यही एक मात्र लक्ष्य है कि वह अन्याय सहन करे? अन्याय सहन करना पाप है। संसार में किसी भी व्यक्ति ने अन्याय सहन का समर्थन नहीं किया है। पर मंजु प्रारम्भ में काफी सहिष्णु बनने का प्रयत्न करती है। उसका मन कदाचित् इस बात से प्रति आशान्वित रहता है कि एक दिन उसका कामुक और लम्पट पति एक दिन उसके मन की भावनाओं को वास्तविक रूप से समझकर उसका सम्मान करेगा। पर किशोर पत्नी को अपनी निजी सम्पत्ति समझता है, और वह भी निर्जीव गठरी मात्र। उसकी कामुकता से धीरे धीरे मंजु के मन में घृणा पल्लवित

---

[1] अचल उल्का, (१९४७) इलाहाबाद, पृष्ठ ७०।

होने लगती है और इसी के साथ उसके मन में विद्रोह भी जन्म ले लेता है। वह सोचती है, "नारी केवल शरीर नहीं— केवल स्थूल क्षुधा और तृषा की गठरी नहीं। उसकी आत्मा में रहने के लिये भी कुछ चाहिये।"[1] इस प्रकार पति की कामुकता मंजु के जीवन में नया मोड़ उत्पन्न करती है।

मंजु के जीवन की विषमताओं का यहीं अन्त नहीं होता। किशोर अत्यन्त शंकालु और ईर्ष्यालु स्वभाव का व्यक्ति है। वह मंजु की प्रत्येक स्वतन्त्रता का हनन करता है। उसे किसी से मिलने या बोलने तक की मनाही कर देता है। वह प्रकाश नामक एक व्यक्ति से भी नहीं मिल पाती, जिससे उसका परिचय एक बार बनारस में हुआ था, और जो यह स्वीकारता है कि विवाह कहीं किसी के लगाने से लगता है या कहलाने से होता है। जो इस प्रकार होते हैं, उन्हें मैं विवाह नहीं केवल परम्परा की गुलामी और चरित्रावरण मानता हूं।[2] प्रकाश के सहारे ही चाँद मेघा मंजु को छोड़कर विदेश गया था। अन्त में मंजु के मन का विद्रोह अपनी चरम सीमा पर पहुंचता है। वह पति का घर छोड़ देती है। मायके आकर आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बिनी बनने का प्रयत्न करती है। उसकी धारणा है: मैं उन औरतों में नहीं हूँ जो अपने व्यक्तित्व का बलिदान करती घूमती हैं। जिनकी कोई मर्यादा और शील नहीं होता। मैं उनमें नहीं जिनका चरित्र अभी घूंघट के अन्दर ही पनप रहा है और पर-पुरुष की हवा लग जाने से ही बरबाद हो जाता है। पत्नी को पति की आज्ञा माननी चाहिए। पर मैं पति की गुलामी करने को ही सच्चरित्रता नहीं मानती।... मुझमें आत्मनिर्भरता की कमी नहीं।"[3] मंजु इस प्रकार उस नयी नारी के स्वरूप का प्रतीक बन जाती है, जो अपनी स्वतन्त्रता का हनन किन्हीं भी परिस्थितियों में नहीं करना चाहती और साथ पति की अंधी बन कर झूठी सच्चरित्रता की बलिवेदी पर अपने जीवन को तोड़ना चाहती। वे आर्थिक समस्याओं को समाधान में अपने जीवन की दूसरी समस्याओं का समाधान खोजती हैं। मायके आकर अध्यापिका बन जाती है। प्रकाश उसकी सहायता करता है। पर समाज उन दोनों पर भी लांछन लगाने से बाज नहीं आता। क्षुब्ध होकर मंजु नागपुर चली जाती है। वहाँ एक होटल में अत्यन्त नाटकीय परिस्थितियों में उसकी भेंट अपने पति से हो जाती है, जो इस बीच विवाह कर चुका होता है। यह नारी की स्थिति पर बड़ा विद्रूप बन कर रह जाता है।

इस प्रकार मंजु की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में प्रेम का वास्तविक स्वरूप, सामाजिक रूढ़ियों एवं विषमताओं के कारण उसकी विवशता और आदर्श की अभिव्यंजना, अनमेल विवाह की असफलता एवं उसकी यातनाएं, नारी की पीड़ा

1. [illegible] (१९६३), इलाहाबाद, पृष्ठ १०६।
2. वही, पृष्ठ १६६।
3. वही, पृष्ठ २०१।

एव अवसादग्रस्त जीवन, पुरुष की वासना, हवस एव अन्याय तथा नारी की सम्भाव्य सीमाओं तक सहिष्णुता और फिर अतिक्रमण की स्थिति में अन्याय का विरोध, विद्रोह एव आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनने की प्रयत्नशीलता अधिकाश रूप मे क्रियाशील रहती है। मजु ने इस सृष्टि का अन्याय सहा था, उसकी यातनाओं एवं पीडाओं को भोगा था। इसने उसकी चेतना को अनेक अनुभव प्रदान किये थे। तभी वह इसकी छाया मे अपनी बच्ची का चरित्र विकसित करने का प्रयत्न करती है। वह कहती है, 'फिर आज मेरे जीवन धारण का एक उद्देश्य है। मुझे अपनी सन्तान को पालना है उसे दुनिया मे सघर्ष करना सिखाना है। जन्म से वह सामाजिक कलक के आवरण से डरी-डरी आयी लेकिन मैं जानती हूँ वह क्या है?—कैसी है—कहाँ से आयी है।'[1] पर इतना सब होने हुए मजु पूर्णतया आधुनिक नहीं है। आधुनिक इस अर्थ मे—जिसमे सामान्यत हम आज परिचित हैं। अर्थात् परम्पराओं, रूढियों से मुक्त फैशनपरस्ती एव विलासिता मे जीवन व्यतीत करना और पुरुष की सत्ता के प्रति अनावश्यक विद्रोह, अपने अन्तरमन के स्नेह दया एव कोमलता का नाश करना मजु का ध्येय नहीं है। उसका ईश्वर पर भी कभी विश्वास नहीं टूटता। यद्यपि वह उससे दान के रूप मे बराबर यातनाएं ही पाती है, पर वह उसकी सत्ता के प्रति आस्थावान ही बनी रहती है। उसमे अद्भुत आत्मशक्ति भी है, साथ ही वह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा बराबर करती रहती है, पर उसके मन की कोमलता बराबर बनी रहती है। यहाँ तक कि नागपुर मे प्रकाश द्वारा अपने पति की दुर्गति किए जाने के बावजूद और यह जानते हुए भी कि उसके पति ने दूसरा विवाह कर लिया है, उसके मन मे अपने पति के प्रति कोमलता और सस्कार जन्य सहानुभूति उत्पन्न होती है। इस प्रकार मनोवेगो द्वारा मजु के व्यक्तित्व का विकास होता है। वह उस उल्का की भाँति है, जो अन्धकार मे प्रकाश की रश्मियाँ बिखेरती है अपने युग मे अपनी जगह बनाने का प्रयत्न करती है और अन्तहीन राहो पर चलकर अपना लक्ष्य प्राप्त करती है। वह नई नारी की स्वतन्त्रता का प्रतीक बन जाती है।

विवाहित जीवन में पति की अपेक्षा प्रेमी को अधिक महत्व प्रदान करना

प्रत्येक व्यक्ति मे अपना अहं, अपना आत्म सम्मान होता है, कुछ उसे महत्व देते हैं, कुछ नहीं देते हैं। जहाँ तक नारियों का सम्बन्ध है, जब उनमे नवीन चेतना एव जागृति नहीं उत्पन्न हुई थी, उनकी शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार नहीं हुआ था, तब तक उन्हे स्वय कदाचित् यह नहीं ज्ञात था कि व्यक्ति का अहं, और उसका आत्म सम्मान भी कोई चीज होती है, जिसे व्यक्ति अधिकाशत अत्यधिक महत्वपूर्ण मानता है। पर ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात् धीरे धीरे स्थिति में जब परिवर्तन हुआ तो नारियो मे भी अपने अहं एव आत्मसम्मान की भावना उदित

१ अचल उल्का, (१९४७), इलाहाबाद, पृष्ठ २२३।

होने लगी, और उनकी रक्षा के प्रयत्न भी आरम्भ हुए। नारियों में पुरुष की तुलना में हीनता की जो ग्रंथि थी, वह भी समाप्त होने लगी, और वे पुरुषों की अपेक्षा अपने को अधिक प्रगतिशील एवं तीव्र चेतना-शक्ति सम्पन्न सिद्ध करने की चेष्टा करने लगीं। यह भावना यहाँ तक शक्ति प्राप्त करने लगी कि, नारियाँ किसी भी मूल्य पर पुरुषों के समक्ष अपने को पराजित होते नहीं देखना चाहती थीं, चाहे वे उनके पति ही क्यों न हों। वे पति के सम्मुख भी अपने स्वाभिमान एवं आत्मसम्मान की रक्षा तथा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखने की चेष्टा करने लगीं, जिससे कि प्रायः पारिवारिक अशांति उत्पन्न हो जाती थी, और गृहस्थ जीवन की असफलता निश्चित ही रहती थी। ये नारियाँ पति को अपने विवाहित जीवन में विशेष महत्व नहीं देती थीं, और उनकी उपेक्षा तक करती थीं, कभी कभी तो ऐसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती थी, कि पति का कोई विशेष महत्व न होने पर, उसकी मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष के अन्दर ही नारियाँ दूसरा विवाह भी कर लेती थीं। क्योंकि विवाहित जीवन में जब पति का विशेष महत्व होता है, वह परिवार का आलम्बन समझा जाता है, तो कम से कम उसकी मृत्यु के पश्चात् वर्ष दो वर्ष तो कोई नारी दूसरे विवाह की बात सोच भी नहीं सकती। कुछ नारियाँ तो विवाह के पश्चात् भी अपने प्रेमियों को पति से अधिक महत्व देती थीं, और कर्तव्य को तिलांजलि दे देती थीं। ऐसी नारियों को उपन्यासों में भी स्थान मिला है। अचल के उपन्यास "चढ़ती धूप" (१६८५) की ममता ऐसी ही नायिका है, जिसके जीवन में पति का कोई विशेष महत्व नहीं है।

प्रेमचन्दोत्तर काल में नारियों का स्वतन्त्र अस्तित्व यथेष्ट मात्रा में विकसित हो चुका था और अपने अधिकारों के प्रति वे पूर्ण रूप से सजग हो चुकी थीं। उनमें एक प्रकार का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पनपने लगा था, और विवाह संस्था में वे आमूल चूल परिवर्तन की इच्छा प्रकट करने लगी थीं। वे केवल पति की दासी नहीं, अपितु दो स्वतन्त्र व्यक्तियों की तरह अपना जीवन-यापन करना चाहती थीं। अपने व्यक्तिगत जीवन में एक दूसरे का परस्पर हस्तक्षेप उन्हें पसन्द न था। ममता की परिकल्पना का स्रोत यही परिस्थितियाँ थीं। अपने घोर व्यक्तिवादी चरित्र के कारण वह हिन्दी साहित्य में अपने ढंग की अनूठी नायिका है। मोहन नायक एक युवक उसे पटाता है, और दोनों अपने जीवन अधिकांश भाग एक साथ व्यतीत करते हैं, दोनों को अपने चरित्र पर पूर्ण विश्वास रहता है, दोनों के माता पिता का भी अपनी सन्तानों पर पूर्ण आत्मविश्वास है, और गाँव वालों को भी एक दूसरे की पवित्रता पर पूर्ण विश्वास है तभी ममता अपने घर के द्वार पर खड़ी रहती है, उसकी प्रतीक्षा करती है, और मोहन जब वहाँ पहुँच जाता है तो उसे बड़े प्यार से पान का बीड़ा बनाकर खिलाती है, पर गाँव वालों को इस पर कोई आपत्ति नहीं होती, क्योंकि मन ही मन जानते हैं कि मोहन और ममता का परस्पर विवाह एक न एक दिन होगा ही। पहले तो ममता को मोहन के प्रति अपनी घनिष्ठता में प्रेम जैसी कोई चीज नहीं अनुभव होती, पर एक दिन उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह

मोहन के बिना एक पल भी नहीं रह सकती, क्या उसकी और मोहन की राहें एक नहीं हो सकती। वह मोहन से इसका जिक्र भी करती है पर मोहन बड़ा ही आदर्शवादी युवक है। वह श्रम संगठनों में भाग लेता है, और सेवा की उच्च भावनाएं उसके अन्तरमन में हिलोरें मारती रहती हैं। वह ममता की भावुकता को दबा सकने में सफल हो जाता है पर ममता के मन में वह विद्रोह बराबर बना रहता है कि वास्तव में उसे मोहन से ही विवाह करना चाहिए, वही उसका वास्तविक जीवन साथी बन सकता है उसके बिना वह नहीं रह सकती। मोहन यह विद्रोह नष्ट करने में असमर्थ रहता है, पर उसके समझाने बुझाने से वह जबर्दस्ती दूसरे से विवाह करने पर तैयार हो जाती है। विवाह के पूर्व उसमें विनय और सहनशीलता के गुण पर्याप्त मात्रा में रहते हैं। उसके स्वभाव में भी यथेष्ट मात्रा में गम्भीरता रहती है।

पर विवाह के पश्चात उसका स्वभाव एक दूसरी ही भिन्न दिशा ग्रहण कर लेता है। वह अब विनयशीलता और सहिष्णुता का अंश भी परिचय न दे पाती थी और अपने पति को संताप देने की बात कौन कहे उसका अपमान तक कर देती है। इस पर भी वह व्यंग से कहती है "मैंने आपका कोई अपमान नहीं किया। आप तो मेरे पति परमेश्वर हैं—स्वामी हैं—और न जाने क्या क्या हैं। इस लोक और परलोक के उद्धारक हैं।"[1] कोई भी व्यक्ति ऐसे कटु व्यंग को सहन न कर सकता था, पर ममता का पति केवल मन ही मन कुढ़ कर रह जाता है। वह ममता की तुलना में कम शिक्षित है और ममता की तुलना में उसके मन में कुछ हीनता की भावना (Inferiority complex) भी है, जिससे वह प्रारम्भ में बराबर ममता के सम्मुख अप्रतिभ सा रहता था। पर जब ममता के व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आता है तो वह भी अपने पुरुष होने के अधिकार को नहीं भुला पाता और परिणामस्वरूप हर बात पर दोनों में झगड़ा और अनाप शनाप बातों का आदान प्रदान होने लगा। सुहागरात के दिन भी वह अपने पति को अपना शरीर तक नहीं स्पर्श करने देती और उससे बोलती भी नहीं। एक दिन अचानक मोहन दिखाई पड़ गया, तो वह चिल्ला चिल्ला कर उसे बुलाती है और मोहन के पूछने पर कि उसका विवाहित जीवन किस प्रकार है, वह उत्तर देती है कि, "रोज आठ दस बातें हो जाती हैं। यह उनकी चारपाई है—वह मेरी। प्रवृत्ति नहीं होती कि उनसे बात करूँ। कभी कुछ पूछते हैं तो उत्तर दे देती हूँ। मैं उन्हें शरीर का स्पर्श भी नहीं करने देना चाहती। मन देना तो दूर रहा। उसका कभी प्रश्न ही नहीं उठता—न उठेगा। उन्हें तन देने में ऐसी ग्लानि और सत्यानाशी लज्जा आती है कि अपनी निगाह में मैं तत्काल जलकर क्षार हो जाती हूँ।"[2] यह शब्द ऐसे हैं, जिन्हें प्रेमचन्द काल में कोई उपन्यासकार कदाचित अपनी नायिका से कहलाना सोच

१ अचल चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ १४६।
२ अचल चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ १८५ १८६।

भी नही सकता था। उस समय समाज मे नारियों की ऐसी स्थिति थी भी नहीं। मोहन ममता को समझाने का प्रयत्न करता है, और उसे उसके विवाहित जीवन के कर्त्तव्य के प्रति सचेत करता है तो ममता उत्तर देती है, "ऐसी बात न करो। मैं सदैव तुम्हारी थी—मेरे पूरे अस्तित्व पर—मेरी सम्पूर्ण सत्ता पर तुम्हारा अधिकार है। तुम जो कहोगे वही होगा। आज से मैं सारा शरीर उनके आगे फेंक दूंगी। पर मन - मन—मन के विषय मे कोई "अन्डरटेकिंग" देने की सामर्थ्य मुझमे नहीं है भैया। यहीं मैं विवश हूँ। यहीं संसार की प्रत्येक सती विवश हो जाती है। यही मैं लाचार हूँ। तुम विश्वास करो—मैं पूरा यत्न करूंगी कि अपनी सारी विषय-गामिनी वृत्तियों को एकाग्र कर अपने मन के भीतर बहते सारे उल्टे स्रोतों को उनकी ओर ले चलूं। आज तक उनसे अपने को बचाती फिरती थी। अब अपने से अपने को बचाऊंगी।"[1] यह ममता का एक प्रकार का झूठा दम्भ नही तो और क्या है? विवाहित होने पर भी अपने को पर पुरुष के सम्मुख उस रूप मे प्रस्तुत करने के पश्चात् भी वह अपने को सती समझती है। यह भारतीय प्रचलित परम्पराओं से निश्चित रूप से एक विद्रोह था, और अंचल ने नारी को एक नये मार्ग पर ला खड़ा कर दिया था। जहाँ वह विवाहित होने के बावजूद भी दूसरे पुरुष से प्रेम कर उसका अपने ऊपर पूर्ण अस्तित्व सिद्ध करती है और तिस पर भी वह अपने को सती होने का दावा करती है। मोहन की बात का इतना प्रभाव ममता पर पड़ता है कि वह उसी रात अपने पति के बगल में स्वयं जा लेटती है, और पूर्ण आत्म-समर्पण कर देती है।

पर पति को मोहन के आने पर आपत्ति होती है, तो भी ममता ज़रा भी विचलित नही होती, और पति के लाख असन्तुष्ट और क्रोधित होने पर भी वह मोहन की महानता सिद्ध करती जाती है। वह तो यहाँ तक कह देती है, "आप मुझे धमकियाँ देते हैं। आपकी दो रोटियों के लिए मैं अपनी आत्मा के सबसे बड़े सौन्दर्य—जीवन के सबसे बड़े सत्य—छाती के सबसे बड़े अंग को काट कर फेंक दूंगी? जानते नही औरत का यही सबसे बड़ा धन होता है जो आसानी से नहीं छूटता। जिस महान् आत्मा के पैरों की धूल भी आप नही है—न हो सकते हैं—उस पर कलंक लगाने चले हैं। उस व्यक्ति पर आप आक्षेप करते हैं—मेरे सामने—मुझे सुना सुना कर—जो चाहता तो मुझे कोठे पर बैठा कर वेश्या का पेशा करा सकता है। जिसके एक इंगित पर मैं पशु को भी अपना तन दे सकती हूँ। (कदाचित हूँ?) जो मेरे जीवन के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक का स्वामी है। पर बात यहीं नहीं समाप्त होती।[2] गोली लगने से मोहन की मृत्यु हो जाती है तो ममता विलाप करते हुए कहती है—"...मैं लुट गई। हाय। मेरे भैया चले

१. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ २०६।
२. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५) इलाहाबाद, पृ० २२२।

गये चले गये चले गये अब कहाँ देखने को मिलेंगे पूरे जन्म को चले गये " मैं कहीं की न रही मेरा सोहाग मिट गया मेरी आत्मा बट गई मेरा जीवन विधवा हो गया। शोक में उन्मत्त ममता ने मस्तक का सिंदूर पोंछ डाला--हाथ की चूडियां एक एक कर तोडने लगी। मैं विधवा हो गई यह सब अब न पहनूंगी पहनूंगी तो पागल हो जाऊंगी।[1] ममता का यह रूप चाहे जितना ही "प्रगतिवादी" क्यों न हो, और उसके विचार चाहे कितने ही "क्रांतिकारी" क्यों न हों वह भारतीय परम्पराओं के किंचित मात्र भी अनुकूल नहीं है। पति के रहते हुए भी वह मोहन की मृत्यु पर अपने माथे का सिंदूर पोंछ डालती है चूड़ियाँ तोडती है और अपने को विधवा कहती है। भारतीय नारी कितनी भी विद्रोहिणी क्यों न हो जाए, अपने पति के सम्मुख यह कदापि नहीं कह सकेगी कि आपका मेरे ऊपर कोई अधिकार नहीं है, और एक पर पुरुष चाहे तो कोठे पर बिठा कर उससे वेश्यावृत्ति तक करा सकता है। वास्तव मे लेखक का उद्देश्य नारी के नवीन दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना था, पर इसमें वे पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाए, क्योंकि विवाह के पश्चात् ममता प्राय सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है। और यह सभी स्वीकार करेंगे कि शिष्टता, मर्यादा और स्नेहपूर्ण ममता नारी के प्रधान गुण हैं, जिससे वंचित होने पर उसका अस्तित्व बस शून्य की भांति ही रह जाता है।

आभूषण प्रेम और गृहस्थ जीवन की असफलता

भारतीय नारियों के जीवन मे आभूषणों का अत्यधिक महत्व पहले से ही बहुत अधिक रहा है, और आज इतनी प्रगतिशीलता के बावजूद भी यह महत्व बहुत कम नहीं हो पाया है। हर नारी की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि उसके पास आधुनिकतम फैशन के अधिकाधिक आभूषण हो जाएं और समाज की, पास पडोस की अन्य नारियों के समक्ष उसका मस्तक गौरव से ऊंचा हो सके। आभूषण प्रेम का होना कोई बुरी बात नहीं, पर जब सीमाओं का अतिक्रमण हो जाता है, तो वह प्रेम अत्यन्त हानिकर हो जाता है और वह विवाहित जीवन मे अभिशाप के रूप में व्याप्त हो जाता है, विशेष रूप से, जब कि पति की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं रहती, और उसे अपने पत्नी का मन रखने के लिए दूसरों से उधार लेकर आभूषण बनवाने पडते हैं। समाज में ऐसी नारियों की कमी नहीं, जो अपने पति की स्थिति भली भांति न समझकर आभूषणों पर जान दिये रहती हैं, पति से रूठी रहती हैं, अपना असंतोष प्रकट करती रहती हैं जिससे परिवार की सुख शांति नष्ट हो जाती है। जालपा (गबन) ऐसी ही नायिका है, जिसका अत्यधिक आभूषण प्रेम एक दिन ऐसा रंग लाता है कि पति को घर छोड कर भाग जाना पडता है।

जालपा सामन्ती वर्ग मे पालित पोषित युवती है। आभूषणों के प्रति उसे बचपन से ही अपार मोह है। चन्द्रहार की चाह उसे बाल्यावस्था से ही थी, और

---

१ अचल मेरा कोई, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ ३२८-३२९।

तभी से वह आशा करती थी कि उसके विवाह में भी वरपक्ष की ओर से चन्द्रहार आयेगा। पर विवाह मे उसके दुर्भाग्य (?) से चन्द्रहार नहीं आता है। इसकी उसके मन पर गहरी प्रतिक्रिया होती है और वह मानसिक विक्षिप्त क्षोभ और गहन निराशा मे बुझी हुई ही अपने ससुराल जाती है। उसका यह आभूषण प्रेम ही एक प्रकार से उसके मुख्य चरित्र को निर्मित करता है। आभूषणों का मोह उसके मन मे अनायास ही नही उत्पन्न हुआ है। तीन वर्ष की अल्पायु में ही उसे सोने के कड़े बनवाए गए थे। वृद्धा दादी जब उसे गोद मे लेकर खिलाती थी तो भी बात गहनों की ही करती थी। और उस अबोध और अजाने आयु की बालिका के मन मे यह बात बैठती गई थी कि आभूषणों का नारी जीवन मे बडा महत्व होता है। जिस नारी के पास ढेर मारे आभूषण होते हैं, वह सौभाग्यशाली होती है, बिना आभूषणों के जीवन नरक के सदृश होता हैं। जब वह अपनी आयु के साथ बढती गई तो भी आभूषणों की चर्चा उसके सम्मुख बराबर ही बनी रही। वह बडी उम्र की महिलाओं के मध्य बैठ कर उनके आभूषण सम्बन्धी विचार सुनती। वह नारियों के जिस वर्ग से सम्बन्धित थी, वह जब भी मिलता था वहाँ केवल आभूषणों की चर्चा ही होती थी। इस प्रकार जाने-अनजाने इसकी गहरी प्रतिक्रिया जालपा पर होती गई।

यों जालपा बहुत ही स्पष्ट हृदय की है। उसके मन मे किसी प्रकार का कोई मैल नही रहता। वह कोई गलत आचरण करती भी है तो अपनी त्रुटि का आभास होते ही वह उस पर पश्चात्ताप भी करती है। पर उसका आभूषण प्रेम सदैव ही उसकी चारित्रिक प्रगति की राह मे आता है। वह अपनी सहेलियों को खीझ मे पत्र लिखती है कि उसका जीवन पहाड हो गया है, बिताए नही बीतता। न रात को नींद आती है, न दिन को आराम। मुझसे वादे रोज किए जाते हैं, रुपये जमा हो हैं, सुनार ठीक किया जा रहा है, डिजाइन तय किया जा रहा है, पर यह सब धोखा है, और कुछ नहीं। लिखने को तो वह यह पत्र लिख देती है, पर उसे बाद मे अनुभव होता है कि एक विवाहित नारी को इस प्रकार का पत्र अपने पति गृह के सम्बन्ध मे किसी अन्य को नही लिखना चाहिए। वह इस पर पश्चाताप करती है, और अपने पति रमानाथ से कहती भी है—"मुझसे बडा भारी अपराध हुआ है। जो चाहे सजा दो, पर मुझसे अप्रसन्न मत हो। ईश्वर जानते है, तुम्हारे जाने के बाद मुझे कितना दुख हुआ। मेरी कलम से जाने कैसे ऐसी बातें निकल गयी।'[1] यह बात केवल रमानाथ को प्रभावित करने के लिए ऊपरी तौर से नहीं कही गई थी। जालपा ने सच्चे हृदय से यह बात पूर्ण निश्छलता से कही थी।

जालपा मे छोटा बड़प्पन भी है। वह अपनी कोई विशेष चीज अपने ही तक सीमित नही रखना चाहती, पास पड़ोस, पूरे मुहल्ले को उसे दिखा कर उन पर अपना बड़प्पन जताना चाहती है। वह अपना सम्मान चाहती है, अपने रूप और

१. प्रेमचन्द : गबन, (१६३०), बनारस, पृ० ५७।

सौंदर्य की प्रशंसा चाहती है। जब उसके पास आभूषण आ जाते हैं तो वह पूरे मुहल्ले में आने जाने लगती है। लोगों के रिक्शे का किराया स्वयं दे उनके साथ घूमने जाती है। मुहल्ले वालियां उसे आदर एवं सम्मान का वह स्थान दे देती हैं जिसकी वह भूखी थी। पर एक दिन सराफ जब गहनों के लिए तकाजा करने आता है तो रमानाथ को उसके पिता कड़ी फटकार सुनाते हैं। जालपा को तभी अपने पति की *वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। उसकी बंद आँखें* तभी मानो खुलती हैं वह स्पष्टतया स्वीकार करती है कि अगर मैंने गलती की है तो उसे पुरुष होने के नाते तो सोच समझ कर काम लेना चाहिए था। जालपा वस्तुतः मोम की बनी है। उसे पिघला कर किसी भी साँचे में ढाला जा सकता है। यद्यपि उसके मन पर आभूषणों की गहरी प्रतिक्रिया है और वह यदि स्पष्ट रूप से अपने पति से गहनों की माँग नहीं करती है तो कभी उसने अपनी इस इच्छा को अस्वीकार भी नहीं किया। इस बात स्वयं ही स्वीकार भी करती है। पर उसकी इस दुर्बलता के लिए स्वयं जालपा को दोषी नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसमें सारा अपराध रमानाथ का ही था। वह यदि अपने परिवार की आर्थिक परिस्थिति का इतना लम्बा चौड़ा रूप बखान कर अपने को सम्पन्न और धनी न सिद्ध करता तो निश्चित रूप से वह उतनी ही आदर्श और दृढ़ जालपा सिद्ध होती जितनी कि आदर्श और दृढ़ जालपा अपने पति की वास्तविक स्थिति से परिचित होने के पश्चात है। वह प्रारम्भ में कुछ दिन अवश्य ही आभूषणों के न होने से दुःखी होती, उदास होती, इसके अतिरिक्त वह कुछ और न करती। कम से कम रमानाथ की वह स्थिति तो न होती जो बाद में होती है।

जालपा में आत्मसम्मान की भावना जबरदस्त रूप में है। उसका पति रमानाथ *भावुकता के प्रवाह में बहता चला जाता है, उसमें आत्मशक्ति* जरा भी नहीं है पर जालपा में ऐसी बात नहीं है। उसमें आत्मशक्ति की दृढ़ता है। जब वह घर की वास्तविक परिस्थिति जान लेती है तो वह आभूषणों के प्रेम को त्याग देती है और अपने पति को पूर्णतया विनाश के गर्त में गिरने से रोकने और उसे परिस्थितियों से ऊपर उठाने की दिशा में प्रयास करती है। यहाँ पर कदाचित् प्रेमचन्द की एक अन्य नारीपात्र निर्मला होती तो आत्मव्यथा में ही घुल घुल कर जान देती, मुँह से कुछ भी न कहती। पर इसके विपरीत जालपा क्रियाशीला नारी है। वह हाथ पर हाथ धर कर बैठी ही नहीं रह जाती। शतरंज सम्बन्धी विज्ञापन में उसने अपने पति को खोज निकाल कर अपनी बुद्धि की कुशलता का परिचय दिया है। प्रश्न है कि क्या किसी में इस प्रकार का आकस्मिक परिवर्तन हो सकता है। प्रायः कहा गया है कि जालपा का यह चरित्र परिवर्तन पूर्णतया *अस्वाभाविक है। यह भी कहा गया है कि* प्रेमचन्द ने उस एक दुर्बल मानवी से सहसा एक अलौकिक दिव्यता दे दी है, जो कुछ अतिरंजित प्रतीत होती है। यह भी प्रायः कहा जाता है कि प्रारम्भ में तो जालपा का चरित्र यथार्थवादी है, पर बाद में चल कर वह यथार्थ की कठोरभूमि की नहीं रह

जाती। पर यदि जालपा के इस चरित्र परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाय तो सारे आरोप निराधार प्रमाणित होंगे। जालपा के चरित्र मे बाल्यावस्था से केवल एक ही अवरोध है, उसका आभूषणों का प्रेम। उसके अवचेतन (unconscious) मन पर उसकी गहरी प्रतिक्रिया अंकित रहती है, और अवचेतन (unconscious) मन की यही कुंठा उनके चरित्र को पूर्णतया विकसित नही होने देती। उसका बहका हुआ मन एक आलम्बन चाहता था जिसके आश्रय से वह आगे बढ सकती। रमानाथ मे उसकी यह इच्छा पूर्ण नही हुई, क्योकि रमानाथ स्वय ही दृढ इच्छा शक्ति का न था। उसे स्वय ही आलम्बन की आवश्यकता थी, वह जालपा को भला क्या आश्रय देता? पर जब जालपा के मन की यह ग्रंथि खुल जाती है, उसकी कुंठा दूर हो जाती है तो जैसे उसे दिशा प्राप्त हो जाती है और फिर वह अपनी राह चलती है। उसका यह चरित्र अत्यन्त स्वाभाविक परिस्थितियों मे हुआ है। यदि इसे असत्यता और अस्वाभाविकता से आरोपित किया जाय तो यह बुद्धि के दिवालिएपन के अतिरिक्त कुछ और न होगा।

जालपा आत्मगौरव की भावना से ओतःप्रोत है। वह अपयश नही लेना चाहती और न अपने पति के सिर पर अपयश की छाया देखना चाहती है। वह चरित्र निष्ठा और आत्मिक बल पर विश्वास करने वाली नारी है। जब वह सुनती है कि रमानाथ मुखबिरी करने पर तैयार हो गया है तो वह कहती है "दादा मैं उन्हें पुलिस के पंजे से बचाने का बीड़ा नही लेती। मैं केवल यह चाहती हूँ कि अपयश से उन्हे बचा लूँ। उनके हाथो इतने घरो की बरबादी होते नही देख सकती। अगर वह सचमुच डकैतियो मे शरीक होते, तब भी मै, यही चाहती कि वह अंत तक अपने साथियो के साथ रहे, और जो सिर पर पड़े, उसे खुशी से झेलें। मैं यह कभी पसन्द न करती कि वह दूसरो को दगा देकर मुखबिर बन जायं। लेकिन यह मामला तो बिल्कुल झूठा है। मै यह किसी तरह नही बर्दाश्त कर सकती। कि वह अपने स्वार्थ के लिए झूठी गवाही दें? अगर उन्होने खुद अपना बयान न बदला तो मै अदालत मे जाकर सारा कच्चा चिट्ठा खोल दूंगी, चाहे नतीजा कुछ भी हो, वह हमेशा के लिए मुझे त्याग दे, मेरी सूरत न देखें, यह मुझे मन्जूर है, पर यह नही हो सकता कि वह इतना बड़ा कलंक माथे पर लगायें।"[१]

जालपा मे साहस एवं आत्मविश्वास के गुण अभूतपूर्व हैं। त्याग एवं सेवा भाव से ओत प्रोत वह सहिष्णुता की जीवित मूर्ति बन जाती है। वही जालपा जो अपने घर मे बात-बात पर मान करती थी, भुनभुनाती थी, किसी काम मे हाथ न लगाती थी, अब अंधेरे सारे घर मे झाड़ू लगा आती, चौका बरतन कर डालती, आटा गूंद कर रख देती, चूल्हा जला देती। उसके बाद वह उसी दिनेश के घर जाती है, जिसे फांसी की सजा रमानाथ के बयान पर हो जाती है। वह उनके दो बच्चे,

१. प्रेमचन्द: गबन, (१९३०), बनारस, पृ० २४७।

पत्नी और माँ के परिवार के भरण पोषण के लिए बड़े बड़े आदमियों से च-ा एक-त्रित करती है, उनकी सहायता करती है। इन सब बातों से ही प्राय उसे देवी कहा गया और उसके चरित्र परिवर्तन को अस्वाभाविक बताया गया है। पर जैसे वह एक स्थान पर स्वय ही अपने को इस आरोप से मुक्त करती हुई कहती है "यह मैं नहीं कहती कि भोग विलास से मेरा जी भर गया या गहने कपडे से मैं ऊब गई या सैर तमाशे से मुझे घृणा हो गई। यह सब अभिलाषाएँ ज्यों की त्यों हैं। पुरुषार्थ से, अपने परिश्रम से, अपने सदुद्योग से उन्हें पूरा कर सको, तो क्या कहना, लेकिन नीयत खोटी करके, आत्मा को कलुषित करके एक लाख भी लाओ तो म ठुकरा दूगी।"[1] सच तो यह है कि आरम्भ मे जालपा का चरित्र जो अन्धकार मे रहता है वह केवल रमानाथ द्वारा निर्मित भ्रमपूर्ण वातावरण और आभूषण प्रेम की जालपा के अवचेतन मन पर प्रतिक्रिया के कारण ही होती है। पर ज्यों ही काला भ्रमपूर्ण वातावरण टूट जाता है, जालपा के अवचेतन मन की ग्रंथि खुल जाती है जालपा का चरित्र पूर्णतया स्वाभाविक ढग से ही विकसित होता है। यहाँ जालपा को नायिका इसीलिए माना गया है, आरम्भ के कुछ अशो को छोड़कर, जब रमानाथ कलकत्ता भाग जाता है, तब से कथानक के सारे सूत्र जालपा के ही हाथो म रहते हैं, और वह उपन्यास पर एक प्रकार स छाई रहती है, और कथानक को अनेक दिशाएं प्रदान करती है।

मूल्यांकन

इन सभी नायिकाओ की यदि परस्पर तुलना की जाय, तो एक प्रमुख बात यह स्पष्ट होती है, कि "चढती धूप" की नायिका ममता, को छोड़कर शेष सभी भारतीय नारियो की गौरवशाली परम्पराओ म गहन आस्था रखने वाली हैं, तथा सभी ▮ अपने गृहस्थ जीवन को सफल बनाने तथा अपने पति के प्रति भक्ति का आग्रह है। उनमे किसी प्रकार का विद्रोह नहीं है। यहाँ तक कि सुनीता, जो विवाहित होने पर भी हरिप्रसन्न के अत्यन्त निकट सम्पर्क मे आती है, अपनी मर्यादाओ का त्याग नहीं करती और न परिस्थितियो स विद्रोह ही करती है। वह अपने पातिव्रत्य का पालन करने की पूर्ण चेष्टा करती है, और अपने जीवन की पवित्रता बनाए रखती है—

इसके विपरीत ममता, समाज के सम्मुख अत्यन्त अस्वस्थ एवं घृणित चित्र उपस्थित करती है। ममता ने अपने पति और प्रेमी को लेकर जो बातें कही हैं वे तो बिल्कुल असगत प्रलाप सी लगती हैं। अभी भी समय इतना नहीं बदल गया है, कि एक भारतीय नारी अपने पति से कह दे कि वह उसके प्रेमी के पाँवों की धूल के बराबर भी नहीं है, और वह प्रेमी अब भी चाहे तो उससे वेश्यावृत्ति करा सकता है। वास्तव मे ऐसी नायिकाएं समाज की प्रगतिशीलता की दृष्टि से बाधा उपस्थित

1 प्रेमचन्द गबन (१६३०) बनारस पृ० २९७।

करती है। विशेषकर आज के युग मे, जबकि उपन्यास इतने लोकप्रिय हो गए है, और अधिकाश पाठक आज उपन्यासो को मात्र मनोरंजन की दृष्टि से ही नही पढते, वरन् वे उपन्यासकार के गहन अध्ययन, उसके सचित ज्ञान और अनुभव से तादात्म्य स्थापित कर लाभ उठाना चाहते है। ऐसी दृष्टि से उपन्यासकारो का वह प्रमुख कर्तव्य हो जाता है कि सामाजिक नव-निर्माण की दृष्टि से वे ऐसी स्वस्थ नायिकाओ की परिकल्पना करे, जो असख्य नारी पाठको को प्रेरणा दे सकने, और उनका मार्ग प्रशस्त कर सकने मे समर्थ हों। हमारे अन्दर जो कुरूपताए है, उनके चित्रण को भला कौन अस्वाभाविक और असगत कह सकता है। पर इतना निश्चित है कि केवल कल्पनाशील एव अस्वाभाविक कुरूपताओ का चित्रण कर उस पर बल प्रदान करना सामाजिक उत्थान की दृष्टि से अत्यन्त हानिप्रद होता है। उपन्यासकारो को अपने महती उत्तरदायित्व को समझ कर उससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे वे समाज को भावी दिशा प्रदान कर सकें। ममता जैसी नायिकाएं जिस प्रकार का आचरण करती है, हो सकता है कि एक प्रतिशत नारियां हमारे समाज मे वैसी हों। पर उपन्यासकार का दायित्व उन एक प्रतिशत नारियो का चित्रण करना ही तो नही होता। यह तो समाज के भीतर से एक ऐसी कहानी निर्वाचन करता है, जो उसके असख्य पाठको की आंखे खोल उन्हे उनकी कठिनाइयो का समाधान प्रदान कर सके।

इसीलिए प्रेमचन्द काल नायिकाओ मे, और कुछ सीमा तक उनके सम-सामयिक अन्य उपन्यासकारो मे सदैव इस बात की प्रवृत्ति थी, कि नारियो का चित्रण करते समय उनके जीवन की विशेषताओ एवं कुरूपताओ का सतुलित चित्रण करना ही उनका उद्देश्य होता था, और अन्त मे वे नारियो के समक्ष एक महान् आदर्श रखने, उनकी जीवन की मर्यादाओं को सशक्त करने तथा ऊंचे उठने की भावना जागरित करने का महान् उत्तरदायित्व पूर्ण करते थे। वास्तव मे यही साहित्य का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण करता है, तथा साथ ही समाज की दृष्टि से कल्याणप्रद भी है।

अध्याय ७

अन्य नायिकाएं

पीछे के दो अध्यायों में प्रेमिकाओं और गृहस्थ नायिकाओं का विवरण दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त समाज में नारी के अन्य रूप भी होते हैं यथा, वेश्याएं नर्तकी नारियाँ, फैशनपरस्त विलासिनी नारियाँ, वीरांगनाएं और राजनीति में भाग लेने वाली नारियाँ आदि भी होती हैं। उपन्यासों में उनको भी नायिकाओं के रूप में कल्पित किया गया है यद्यपि उनकी संख्या कम ही है। इस अध्याय में ऐसी ही अन्य प्रकार की नायिकाओं का अध्ययन किया गया है। निम्नलिखित उपन्यासों में ऐसी नायिकाओं के रूप प्राप्त होते हैं—

१ प्रेमचन्द सेवासदन (१९१६), २ भगवती चरण वर्मा चित्रलेखा (१९३४), ३ ऋषभ चरण जैन तपोभूमि (१९३८), ४ इलाचन्द्र जोशी लज्जा (सं० २००४ वि०), ५ भगवती प्रसाद वाजपेयी त्यागमयी (१९४०), ६ चतुरसेन शास्त्री नीलमणि (१९४०) ७ यशपाल दिव्या (१९४५), वृन्दावनलाल वर्मा " झाँसी की रानी (१९४६)।

यह अत्यन्त खेद का विषय है कि अभी उपन्यासों में प्रेमिकाओं और गृहिणी नारियों को छोड़कर अन्य ऐसी नारियों जिनका समाज में अपना प्रमुख अस्तित्व है, कम चित्रित किया जा रहा है और उपन्यासों में उन्हें महत्व नहीं प्रदान हो रहा है। वेश्या-वृत्ति हमारे समाज की एक प्रमुख समस्या है, जिसकी ओर चिंतकों, विचारकों एवं राजनीतिक नेताओं का ध्यान बराबर जाता रहा है और वेश्यावृत्ति को समाप्त करने के उपाय खोजे जाते रहे हैं। पर यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि आलोच्य काल में भारतेन्दु युग से लेकर १९४७ तक एक भी ऐसा उपन्यास नहीं प्राप्त होता, जिसमें किसी वेश्या को ही नायिका बनाया गया हो, और वेश्या जीवन की समस्याओं का यथार्थवादी चित्रण कर उनका समाधान उपस्थित किया गया हो। यद्यपि धनीराम "प्रेम" कृत 'वेश्या का हृदय" पांडेय बेचनशर्मा कृत "दिल्ली का दलाल" (१९२७) में इस का प्रयत्न किया गया है, और वेश्या नारियों के जीवन उनकी समस्याओं उनकी आन्तरिक भावनाओं तथा अपने गन्दे एवं घृणित पेशे से बाहर निकलने की उनकी उत्कट लालसा का यथार्थवादी ढंग से चित्रण किया गया है पर इसके बावजूद भी नायिकाओं की उस रूप में कल्पना नहीं की गई है, जिससे उनका यहाँ अध्ययन

प्रस्तुत किया जा सके। यद्यपि धनीराम "प्रेम" ने अपने उपन्यास में एक वेश्या का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, पर कथानक के सारे सूत्र उसके हाथ मे नही रहते, और वह एक प्रमुख नारी पात्र ही बनकर रह जाती है। "सेवासदन" में यद्यपि सुमन कुछ समय तक वेश्या रहती है, पर इतना निश्चित है कि वह वेश्यावृत्ति पर लिखा गया उपन्यास नही है। उसमें नारी जीवन की अन्य समस्याओं की भाँति चलते-चलते वेश्यावृत्ति को भी स्पर्श कर लिया गया है, तथा दो चार लम्बी स्पीचें पृष्ठ के दायरे में फिट कर दी गई हैं। भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में असंख्य नारियो ने भाग लिया, और तन-मन-धन से राष्ट्र की सेवा की। उनके बलिदान की कहानी कभी भुलाई नही जा सकती, वे हमारी स्वाधीनता की नीव मे पत्थरो के समान है, जिन्होने हमारे स्वतन्त्रता आन्दोलन को शक्ति प्रदान की। ऐसी नायिकाओं का चित्रण भी प्रायः नही के बराबर ही हुआ है। "कर्मभूमि" में सुखदा के रूप मे ऐसे थोड़े से संकेत प्राप्त होते है, पर यदि यथार्थवादी ढंग से उसे परखा जाय तो यह स्पष्ट है, कि राजनीति सुखदा का वास्तविक जीवन न था, वह तो उसके अहं पर निरन्तर पड़ते रहने वाले आघात का परिणाम था। वीर चरित्र की नायिकाओ की कल्पना भी "झाँसी की रानी" छोड़कर किसी भी उपन्यास में नही हुई है। एक तो अपने यहाँ ऐतिहासिक उपन्यास लिखे ही कम जाते है, और लिखे भी जाते है, तो उनमें आदर्श चरित्रो की अवतारणा नही की जाती। राजपूती आन-बान और नारियो के जौहर एव बलिदान की कहानियाँ आज भी अमर है। उपन्यास में ऐसी नायिकाओ की परिकल्पना कर आज नारियो मे गिरते हुये नैतिक पतन को बहुत कुछ सीमा तक रोका जा सकता है। उस गौरवपूर्ण अतीत का नये सिरे से स्मरण कर आज भारतीय नारियो के जीवन मे काफी प्रेरणा उत्पन्न की जा सकती है।

अन्य नायिकाओ के रूप मे हमे नारी की निम्न समस्याओ का अध्ययन एवं विश्लेषण प्राप्त होता है।

१. वास्तविक नारी शिक्षा का अभाव
२ महान् उद्देश्य के लिए जीवन का बलिदान
३. जीवन मे अत्यधिक आधुनिकता
४. पति की मृत्यु के पश्चात् जीवन मे सघर्ष
५. नर्तकी नारियो द्वारा साधारण दाम्पत्य जीवन को महत्व प्रदान करना।

वास्तविक नारी शिक्षा का अभाव

विवाहोपरान्त नारियो के ऊपर अनेक गहन उत्तरदायित्व आ जाते है, जिनमें गृहस्थ जीवन का कुशलता से सचालन एवं उसकी सफलता का प्रमुख स्थान होता है। इसके लिए विवाह पूर्व केवल पुस्तकीय शिक्षा ही उनके लिए पर्याप्त नही होती, अपितु व्यवहारिक शिक्षा की भी बडी आवश्यकता होती है। अध्याय एक मे इस बात का उल्लेख किया जा चुका है, कि अग्रेजो के आगमन के समय भारत मे ऐसे

स्कूल प्राय नही थे, जिनमे मितव्ययता, परिवार सचालन, शिशु रक्षा, स्वच्छन्दता एव भोजन बनाने आदि की शिक्षाए दी जाती हो, जबकि विदेशो मे इस प्रकार के अनेक स्कूल थे। माता पिता अपनी लाडली बेटियो को इतना प्यार करते थे, कि सीमा का एक प्रकार से अतिक्रमण हो जाता था, और लडकियो के सस्कार इस प्रकार के निर्मित हो जाते थे जिसमे नित्य नए वस्त्रो का पहनने, अधिक आभूषणो के होने के कामना चटोरी जीभ, और दूसरो से बढ चढकर रहने की लालसा प्रमुख हो जाती थी, और बडी होने पर लडकियाँ अपने को व्यवहारिक शिक्षा से शून्य पाती थी। स्वय माता पिता तो इसकी ओर ध्यान देते ही नही थे, और कही से उनके निर्देशन पाने की सभावना होती ही नही थी, इसका परिणाम यह होता था, कि जब ये लडकियाँ विवाह के पश्चात् पति के गृह जाती थी, तो उनके पास जीवन की वास्तविक शिक्षा एव अनुभव नही होते थे, और गृहस्थ जीवन मे विषमता उत्पन्न हो जाती थी। गृहस्थी तो प्राय नष्ट ही हो जाती थी, क्योकि अब गृहिणी स्वय ही पति की आँखे चुराकर दान साफ करने, और बिना किसी विशेष सयोजन के अभाव मे भी पैसे खर्च करने पर प्रवृत्त हो जाय, तो गृहस्थ जीवन की असफलता अनिश्चित ही रहती थी। इसके और भी दुष्परिणाम होते थे। पति क्रोध मे आकर पत्नी को घर से निकाल देता था, और उसके सामने दो ही मार्ग रह जाते थे या तो वह आत्महत्या कर ले, या वेश्यावृत्ति अपना ले, क्योकि उस समय आर्थिक स्वतन्त्रता नारियो को न प्राप्त थी। इस प्रकार वास्तविक नारी शिक्षा का अभाव नारियो के समक्ष अनेक समस्याए उत्पन्न कर देती थी। सुमन (सेवासदन) मे ऐसी ही नायिका का रूप प्राप्त होता है।

प्रेमचन्द के उपन्यास 'सेवासदन' (१९१६) की रचना उस समय हुई थी, जब प्रथम महायुद्ध छिडा हुआ था। श्रीमती एनीबेसन्ट होमरूल आन्दोलन लेकर उन दिनो भारत का दौरा कर रही थी। देश मे राष्ट्रीय चेतना का उदय हो गया था, जिसके साथ सामाजिक चेतना भी सम्बद्ध थी। १९१६ तक आते आते भारतीय सामन्तवर्ग पूर्णतया पतित हो गया था। यह वर्ग सिवाय अग्रेज अधिकारियो की जी हुजूरी करने के अतिरिक्त कुछ और न करता था। उस समय मध्यम वर्ग ही समाज का नेतृत्व ग्रहण किये हुये था। वही वर्ग शिक्षित था, और इस उपन्यास मे भी उसी को प्रमुखता दी गई है। इस उपन्यास मे उठाई गई समस्या के सम्बन्ध मे मतभेद है। कहा गया है कि यह उपन्यास वेश्या समस्या को लेकर लिखा गया है। पर यह भ्रमपूर्ण है। यह भ्रम केवल सुमन के कथानक के कारण ही उत्पन्न हुआ है जो सारे उपन्यास पर छाई रहती है। इस उपन्यास की प्रमुख समस्या नारी समस्या है, अर्थात् भारतीय समाज मे स्त्री कितनी पराधीन थी, तथा उस समय उसकी पराधीनता, उसकी निस्सहायता तथा समाज मे पशुओ जैसी स्थिति इन सब बातो को लेकर प्रेमचन्द ने इस उपन्यास की रचना की थी। वैसे इसमे वेश्या की समस्या भी आ जाती है, पर सुमन वेश्याओ की प्रतिनिधि नही, इसी पीडित नारी वर्ग की प्रतिनिधि

है। वह एक मध्यम वर्ग की नारी थी और परिस्थितिवश उसे वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ी थी।

सुमन का जो चरित्र उपन्यास में विकसित हुआ है, उसके सूत्र यदि हम खोज निकाले, तो विशेष कठिनाई न होगी, क्योंकि वे सूत्र अधिक संख्या में नहीं है। सुमन के चरित्र की तीन प्रधान विषमताएं हैं—

१. बाल्यावस्था से ही उसमें भोग विलास और इन्द्रिय-जन्य सुख की प्रवृत्ति जड जमा चुकी थी।

२. पति के घर मे निर्दय, अपमान, दारिद्र्य, गजधर की प्रेम विहीनता उसके मन मे अभाव और वितृष्णा उत्पन्न कर रही थी।

३. चारो ओर के पापमय वातावरण ने सुमन मे अतृप्ति, क्षोभ, और नैराश्य की भावना तीव्र कर दी थी।

सुमन को सौन्दर्य प्रचुर मात्रा मे मिला था, और बचपन से ही उसे अपने मां-बाप का लाड़-प्यार मिला था। कृष्णचन्द्र तो अपने प्राणो से भी अधिक सुमन को प्यार करते थे। वे शहर से अनेक प्रकार की वस्तुएं मगाया करते थे अपनी लड़कियो के लिए। बाजार मे कोई नया वस्त्र आता, वह कृष्णचन्द्र अपनी लड़कियो के लिए अवश्य लाते। उन्होंने अपने घर में विलास के प्रचुर साधन एकत्रित कर रखे थे, और इसी वातावरण में सुमन के मन में संस्कार रूप ग्रहण कर रहे थे। बाल्यावस्था मे वह चचल और अभिमानी थी। वह बढ-चढकर रहना चाहती थी और उसकी इस प्रवृत्ति को बढावा भी खूब मिला, वह बड़ी लड़की थी। उसकी हर जिद पूरी होती थी। और उसके अभिमान पर चोट देने वाला कोई अन्य न था। सुमन जब तक अपने पिता के यहाँ रही, उसने यह कभी न जाना कि अभाव भी कोई वस्तु होती है। उसके अवचेतन मे उच्चता का अभाव (Superiority Complex) पूर्ण रूप से जम गया था। कृष्णचन्द्र ने उसे पढाने के लिए ईसाई लेडी रखी थी, और उसे वह शिक्षा न प्राप्त हुई जो नारी को आदर्श गृहिणी का रूप दे सके। इसीलिये जब वह विवाह के पश्चात् गजाधर के घर आती है तो इसके दुष्परिणाम होते हैं।

अभी तक सुमन ने ना जाना था कि अभाव क्या होता है? उसने अभी तक का जीवन विलासप्रियता मे व्यतीत किया था। इंद्रियजन्य सुख अभी तक उसे प्राप्त होता था, पर जगाधर के यहाँ आकर सहसा उसे अभाव के परिवेश मे अपना जीवन आगे बढाना पड़ा। यह उसे सह्य न हुआ। साधन न होने पर भी वह अधिकाधिक सुख और वैभव की भावना की ओर बढ़ती गई। धीरे-धीरे उसकी लज्जाशक्ति भी क्षीण पड़ जाती है और वह अपनी अतृप्त आकाक्षाओं की पूर्ति में लग जाती है। यहाँ से उसके चरित्र का पतन प्रारम्भ होता है। सुमन का प्रमुख चरित्र यहाँ तक रहता है। उसके चरित्र की गतिशीलता उसके पतन तक ही है। उसके पश्चात् तो वह सीधे मार्ग पर चलती है, और उसमे गतिशीलता कम रहती है। अभी तक जो

सम्मान, अपने अभिमान की जो रक्षा, अपनी लालसा की पूर्ति के जो साधन सुमन को प्राप्त होते रहे, वह गजाधर के यहाँ सम्भव न हो सका। गजाधर में पहले हीनता का भाव (Inferiority Complex) रहता है, और वह सुमन ने अभी तक यही शिक्षा पाई कि सुख भोग ही वास्तविक जीवन है। वह अपने उच्चभाव (Superiority Complex) को किसी भी मूल्य पर पराजित नहीं होने देना चाहती। दोनों में संघर्ष उत्पन्न होता है, और सुमन एक कदम आगे बढ़ जाती है। यह सुमन की मिली इन्द्रियभोग की शिक्षा का दुष्परिणाम ही था। वह सद्गृहिणी नहीं है, और इसका परिणाम होता है कि वह कपटाचरण प्रारम्भ कर देती है। अपनी चटोरी जीभ को तृप्त करने के लिए वह अपने पति से छिपकर चाट के दोने साफ करने लगती है। अपनी प्रकृति के कारण वह ऐसी नारी के रूप में हमारे सम्मुख आती है जो हाव-भाव प्रदर्शन में अधिक विश्वास रखती है। दूसरों को आभूषण बनवाते देख उसकी अन्तरात्मा कराह उठती है, और दूसरों की नई साड़ियाँ, नए वस्त्र बनवाते देख भयंकर असंतोष की ज्वाला में वह सुलगती रहती है। पति की कमाई तो उसकी चटोरी जिह्वा पर स्वाहा हो जाती है और फिर नए आभूषण और वस्त्र के अभाव में वह बराबर खिन्नता का अनुभव करती है। पति के प्रेम भरे शब्दों की अपेक्षा इस चाट के पत्ते और मिठाई दोने अधिक अच्छे लगते हैं। अपने सौन्दर्य से वह गजाधर को पराजित करना चाहती है, पर जब वह इसमें सफल नहीं हो पाती तो उसका अवचेतन मन इस अपमान के रूप में ग्रहण करता है। वह चाहती है कि गजाधर उससे दब कर रहे और वह स्वयं दब के नहीं रहना चाहती। पर चूँकि दोनों दब के नहीं रहना चाहते, इसीलिए बराबर विरोधावस्था विद्यमान रहती है। जब वह पति को रिझाने में सफल रहती है तो वह अपने सौन्दर्य से मुहल्ले के मनचले युवकों को परास्त करने का प्रयत्न करती है। यह वस्तुतः उसके अवचेतन में पड़ी कुण्ठाओं और वर्जनाओं का ही परिणाम था। उसका सारा चरित्र उसके अवचेतन मन और संस्कारों से ही परिचालित होता है। उसका मनोवैज्ञानिक संघर्ष उसे बराबर पतन की ओर जाने की प्रेरणा देता है। इस मनोवैज्ञानिक संघर्ष में उसकी विलास प्रियता की शिक्षा, इन्द्रियजन्य आनन्दभोग की लालसा, अधिकार और सम्मान प्राप्त करने की कामना आदि ही भारी पड़ते हैं और यही सब उसके पतन की भूमिका उपस्थित करते हैं।

सुमन के चारों तरफ का वातावरण भी उसकी इसी प्रवृत्ति को प्रश्रय देता है। उसके सामने ही भोली नामक वेश्या रहती है और भोली की चमक-दमक उसका रहन सहन देख उसकी प्यास और बढ़ जाती है। वह देखती है कि भोली का घर के ठेकेदारों के यहाँ, पूँजीपतियों के यहाँ बड़ा भारी मान है। उसने कई अवसरों पर देखा कि तथाकथित सभ्य समाज में उसका कितना सम्मान होता है। शर्मा जी के यहाँ होली उत्सव में, बाग में बेंच पर बैठने वाली द्वारा उठाए जाने की घटना मन्दिर में भोली का सम्मान आदि सब मिला कर उसके अवचेतन मन पर बराबर

घात पहुँचाते जाते है। उसके जीवन मे दूसरी ठेस तब लगती है जब वह समझती है कि समाज मे मर्यादा धन से होती है। यह भाव उसे और भी पतन की ओर अग्रसर करता है। अगर मुहल्ले का यह कुसग न होता तो कदाचित् वह उतने शीघ्र पतन की ओर न जाती। धन का प्रभाव देख उसकी आँखें खुल जाती हैं। पद्मसिंह जैसे व्यक्ति के यहाँ भोली का सम्मान देखकर उसकी यह भावना और भी पुष्ट हो जाती है। और वह सीमा से बाहर हो जाती है। यही सामाजिक विषमता और सामाजिक भय प्रेमचन्द ने चित्रित किया है। यदि पद्मसिंह उसे घर से न निकाल देते तो कदाचित् वह वेश्या न बनती। और अन्त मे उसके चारो ओर जो वातावरण था उसमे सुमन ने यही निष्कर्ष निकाला—"वह स्वाधीन है, मेरे पैरो में बेड़ियाँ हैं। उसकी दुकान खुली है, इसीलिए ग्राहको की भीड है, मेरी दुकान बन्द है, इसीलिए कोई खड़ा नही होता, वह कुत्तो के भूकने की परवाह नही करती, मैं लोकनिन्दा से डरती हूँ। वह परदे के बाहर है, मैं परदे के अन्दर हूँ। वह डालियो पर स्वच्छन्दता से चहकती है, मैं उसे पकड़े हुए हूँ। इसी लाज ने, इसी उपहास के भय ने मुझे दूसरे की चेरी बना रखा है।"[1] और परिणामस्वरूप वह वेश्यावृत्ति अपना लेती है।

पर सुमन अधिक दिन तक वेश्या नही रही। प्रेमचन्द ने उसे शीघ्र ही सुधार की ओर प्रवृत्त किया। पर जितनी शीघ्र सुमन की मनोवृत्तियाँ परिवर्तित होती है, वह बहुत मनोवैज्ञानिक नही है, और अस्वाभाविक सी प्रतीत होती है। अवचेतन मन जो प्रवाह विट्ठलदास को आधार पाकर खुलता है और उसे मन मे जो गाँठ पड़ी थी, जब वह खुल जाती है, तो वह शीघ्र ही विधवाश्रम चली जाती है। पर यह सब कुछ जितना शीघ्रता से चित्रित किया गया है, उस पर विश्वास करना कठिन है। प्रेमचन्द को कदाचित् सुमन का वेश्या बनना और दालमण्डी के एक कोठे पर बैठ अपने हाव-भाव प्रदर्शित करना अच्छा नही लगा है। वे उसे दालमण्डी से जितनी शीघ्र सम्भव हो सकता था, निकालना चाहते थे। सदन सिंह को देखकर सर्वप्रथम उसके मन मे निःस्वार्थ की भावना का उदय होता है। सुमन के मन मे सदन सिंह के प्रति पवित्र प्रेम है। वेश्यावृत्ति अपना लेने के पश्चात् भी उसके मन मे उदात्त संस्कार एवं उच्च विचार समूल नष्ट नही हो गए थे। सदन सिंह के प्रति सुमन के मन मे अनेक उदात्त भाव उत्पन्न होते हैं। वह इस बात को नही चाहती थी कि सदन सिंह उससे प्रेम करके पतन के गर्भ मे जा गिरे, क्योंकि वह जानती है कि इस प्रेम का भयानक अन्त होगा। वह सदन सिंह के उपहारों को नही स्वीकार करती और दिए गए कंगन को शर्मा जी को लौटा देती है। फिर भी, प्रथम बार ही उसे किसी का इतना प्रेम प्राप्त हुआ था और वह चाहकर भी सदन सिंह को एक दम से अपनी चेतना चीरकर अलग नही कर पाती। इसके मनोवैज्ञानिक कारण थे। अभी तक उसे

१. प्रेमचन्द : सेवासदन, (१९१९), बनारस, पृष्ठ ३१।

जीवन में किसी का इतना प्रेम नहीं मिला था। अब से वह पिता गृह से आती है, बराबर परिस्थितियों की विषमताओं में फसती जाती है, और कहीं उसे सही राह नहीं मिल पाती। मदन सिंह का प्रेम जसे उसके घावों पर मलहम के समान ही था। और यही उसे पतन के गड्ढे से निकालने में सहायक होता है। सुमन को पतनावस्था से उबारने में विट्ठलदास स्थूल साधन और सदन सिंह सूक्ष्म साधन के रूप में ही उपस्थित होते हैं। सुमन के संस्कार उसे पतित वेश्या बनने नहीं देते। वह निश्चयात्मक स्वरों से कहती है, मैं अपनी आवाज नहीं बेचूंगी, नाचूंगी, गाऊंगी पर अपने सत्य की रक्षा करूंगी और अपने को भ्रष्ट न होने दूंगी। सदन सिंह के माध्यम से उसे प्रेम का अनुभव होने लगता है, जिसका अनुभव वेश्याएं अधिकांश रूप में नहीं कर पातीं। उसकी आत्मा का पूर्ण संहार इसी वास्तविक प्रेम के कारण नहीं हो पाता।

सुमन जब विधवा आश्रम में आ जाती है तो धीरे धीरे उसमें आत्मबल उत्पन्न होने लगता है। वह आत्मग्लानि और पश्चाताप की भावना से ओत प्रोत हो अपने आत्म सुधार की ओर प्रस्तुत होती है। विधवाश्रम में उसके शुद्ध अन्तःकरण की आभा चमकने लगती है, और आत्मसुधार द्वारा वह अपने का एसी नारी का रूप देती है जो किसी भी सभ्य एवं प्रगतिशील समाज को प्रतिष्ठा एवं गौरव प्रदान कर सकती है। सुमन का स्वाभिमान ही अन्त में उसे सेवा मार्ग पर ला उपस्थित करता है। वह कई अवसर पर व्यंग्य और प्रताड़नाओं का शिकार बनती है, जिससे उसे बड़ा क्षोभ होता है। यहां तक कि स्वयं उसकी बहन शान्ता भी उससे उचित व्यवहार नहीं कर पाती और उसकी अवहेलना सुमन को सहन नहीं हो पाती, वह घर छोड़कर सेवा मार्ग अपनाती है। सेवा द्वारा ही वह आत्मोद्धार की चेष्टा करती है। प्रेम की पवित्रता वह समझने लगती है। प्रेम की ऐसी पवित्रता, जो दूसरों का उद्धार भी कर सकती है और स्वयं का आत्मोद्धार भी। इस प्रकार अंत में सुमन में पूर्ण आत्मविश्वास आ जाता है। प्रायः आलोचकों में यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि सुमन की परिकल्पना का स्रोत वेश्या जीवन की वे कुरीतियाँ थीं, जिन्हें प्रेमचन्द चित्रित करना चाहते थे। वेश्या जीवन का चित्रण करना मात्र, प्रेमचन्द का उद्देश्य न था। वह तो सुमन के चरित्र का एक भाग था, इसलिए उसके चरित्र के अन्य पहलुओं पर विचार प्रकट करते हुए उन्होंने उस पर भी अपने विचार प्रकट किए थे। वास्तव में प्रेमचन्द का प्रमुख उद्देश्य सुमन के माध्यम से यह चित्रित करने का था कि प्रस्तुत लड़कियों की शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिये। उनके विचार से यदि लड़कियों को ढंग से परिवार सम्भालने, सद्गृहिणी बनने और अपने मातृत्व की भावना का विकास करने, अपनी सौजन्यता, स्नेह आदि प्रदर्शित करने की शिक्षा न दी जाये तो वे उसी प्रकार पथभ्रष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार सुमन। वे नारी शिक्षा के हिमायती थे, और उसकी बराबर वकालत करते थे। इस दृष्टि से अपने उद्देश्य में

लेखक को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है, क्योंकि उपन्यास समाप्त करने के पश्चात् जो पहला विचार उत्पन्न होता है, वह यही है कि काश सुमन को विवाह के पूर्व वह शिक्षा दी जाती, जो वस्तुत: उसे मिलनी चाहिये थी।

महान् उद्देश्य के लिए जीवन का बलिदान

प्राय: नारियाँ अपने जीवन में महान् उद्देश्य निर्मित कर लेती थी, और उसके लिए अपने जीवन का बलिदान तक दे देती थी। देश के गौरव एवं उसकी स्वाधीनता के समक्ष सर्वाधिक प्रमुख समस्या स्वाधीनता-प्राप्ति की थी, और पुरुषों के समान नारियाँ भी उसमे अपना महत्त्वपूर्ण योग प्रदान कर रही थी। उनमें भी पुरुषो के समान ही अनुपम सगठन, शक्ति, धैर्य एवं अपूर्व साहस होता था, युद्धों की कुशल सचालन की भावना होती थी, और ऐसी नारियो मे झाँसी की रानी महारानी लक्ष्मी बाई का सर्वप्रमुख स्थान है। उनकी वीरता से परिपूर्ण जीवन को आधार बनाकर वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यास "झाँसी की रानी" (१९४६) में उन्हे नायिका का स्थान प्रदान किया है।

झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई सम्पूर्ण भारत के गौरव की विभूति है। मोरोपन्त की एक अत्यन्त प्रखर एवं कुशाग्र बुद्धि की कन्या थी मनु (लक्ष्मीबाई), जिसकी माता का देहान्त उसकी बाल्यावस्था मे ही हो गया था। बचपन से ही वीरता एव ओज की कहानियाँ सुनने एव अपने देश के ऊपर होने वाले अत्याचारों की कहानियाँ सुनने के कारण मनु के मन मे भी अपने देश को स्वतन्त्र करने की भावना अत्यन्त प्रबल रूप मे उद्दीप्त हो उठी थी। युवा होने पर मनु का विवाह झाँसी के विधुर राजा गगाधर राव से हो गया। कुछ दिनो के पश्चात् लक्ष्मीबाई को एक पुत्र हुआ किन्तु उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो गई। गगाधर राव इस आघात को न सहन कर सकने के कारण मृत्यु गति को प्राप्त हुए। राज्य का कोई उत्तराधिकारी न होने के कारण दामोदर राव को गोद लेने की अग्रेजो से प्रार्थना की गई, किन्तु उन्होंने अनुमति न प्रदान की। इससे झाँसी की प्रजा और स्वयं रानी को अत्यन्त क्षोभ हुआ और अग्रेजो के प्रति विद्रोह के बीज पनप उठे। इस वातावरण मे लक्ष्मीबाई का चरित्र प्रखर होता है। उनमें वीरता, ओज, साहस, कुशल नायकत्व, धैर्य, सहनशीलता एव स्नेहपूर्ण ममत्व के सारे गुण एक ही जगह सयुक्त हो गये हैं। झाँसी की रानी का चरित्र इतना सुन्दर एवं प्रभावशाली है कि सारा कथानक पढ़ते समय नसो मे साहस एवं उत्साह का गर्म रक्त प्रवाहित होने लगता है। लक्ष्मीबाई के चरित्र से वर्मा जी ने एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। एक आदर्श गृहिणी, धर्मपरायण स्त्री, बुद्धिमती, वीरता एवं कुशल सेना नायिका की वह साक्षात् मूर्ति सी प्रतीत होती है।

लक्ष्मीबाई को प्रदर्शन से बहुत घृणा थी। वे रचनात्मक कार्य चाहती थी, केवल दिखावा मात्र नही। उनके सामने एक ही कर्तव्य था, देश की स्वाधीनता

और यही उनकी मंजिल थी। पति की मृत्यु के पश्चात् व विधवा बन जीवन की गति समाप्त नहीं करतीं। व पति की मृत्यु के पश्चात " ग्यारह बजे तक महल के समीपवर्ती खुले आगन मे घोडे की सवारी, तीरदाजी नेजा चलाना, दौडते हुए घोडे पर चढ चढे दांतों से लगाम पकड कर दोनों हाथो से तलवार भाजना बन्दूक से निशाना लगाना, मलखम्भ कुश्ती इत्यादि करती थी और अपनी सहेलियो तथा नगर से आने वाली कुछ स्त्रियो को ये सब काम सिखलाती थी।"[1]

रानी मे आत्म गौरव कूट-कूट कर भरा हुआ है। पर अपने आत्म गौरव से अधिक उन्हे देश गौरव प्यारा है। वे देश का सम्मान चाहती हैं, अग्रेजो के अत्याचारो का अन्त चाहती हैं। मालकम की घोषणा झांसी के दरबार मे जब एलिस ने पढ़ी कि झाँसी अग्रेजी साम्राज्य मे मिला लिया जायगा तो रानी दृढता मे कहती हैं "म झाँसी नही दूगी।"[2]

रानी मे कठोरता भी है, दया भी। दया एव ममता की तो जसे वह देवी हैं। अग्रेजो के भूखो मरने की स्थिति मे वह मनो रोटियाँ किले मे भेजती हैं। सागर सिंह को पकड कर उसे क्षमा कर देती हैं तथा सेना मे सम्मिलित कर लेती हैं—"जिस समाज मे उनका जन्म हुआ था, उसी म होकर उनको काम करना था, परन्तु उस समाज की हथकडियो और बेड़ियो की उन्होने पूजा नही की। वे अपने युग से आगे निकल गई थी, किन्तु उन्होने अपने युग और समाज का साथ ले चलने का, भरसक प्रयत्न किया। झाँसी म विशेषत बिन्ध्यखण्ड मे साधारणतया स्त्री की अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता और नारीत्व की स्वस्थता लक्ष्मीबाई के नाम के साथ बहुत सम्बद्ध है।"[3]

स्वाधीनता उनका लक्ष्य था पर वह जानती थी कि इतने बडे साम्राज्य का अन्त यो ही नही किया जा सकता। वे जानती थी हमको केवल कम करने का अधिकार है, फल पर नहीं। और कर्तव्य पालन करते हुए मरना जीवन का दूसरा नाम है। सचमुच रानी का जीवन उनके उस कथन की गवाह है। पर रानी भी मनुष्य हृदय लिये थी। झाँसी की दुर्गति आपसी फूट, कलह और दगाबाजी पर उनकी आँखो म भी आँसू आते हैं, रानी हैं, पर हिम्मत नही हारती। उनम साहस की कमी नही है। सघर्ष को उन्होने जिन्दगी समझी और वे प्रण करती हैं—"म लड़ूगी। आज सबके सामने प्रण करती हू कि यदि समस्त अग्रेजो का मुझे सामना करना पडे तो करूंगी।"[4]

रानी म दूरदर्शिता की कमी नही है। राज की विशाल सेना को इतने दिनो तक अटकाये रहना और अपनी सैनिक नीति का उपयोग इसका प्रमाण है।

---

१ वृन्दावनलाल वर्मा झाँसी की रानी (१६४६), पृष्ठ १६६।
२ वृन्दावनलाल वर्मा झाँसी की रानी (१६४६), पृष्ठ १७०।
३ वृन्दावनलाल वर्मा झाँसी की रानी (१६४६) पृष्ठ ३३१।
४ वृन्दावनलाल वर्मा झाँसी की रानी (१६४६), पृष्ठ ४२६।

और यदि पीर अली तथा दूल्हाजू दगाबाजी न करते, तो परिणाम कुछ और ही होता। वे संघर्ष··· ·निरन्तर संघर्ष चाहती थी, और उसी मे मर जाना चाहती थी। वे सम्मान और प्रतिष्ठा की भूखी न थी। वे केवल रचनात्मक कार्य चाहती थी, क्रियाशीलता चाहती थी, सेना मे प्रेरणा चाहती थी, व्यवस्था एव अनुशासन चाहती थी। कर्तव्य पर मर मिटने की भावना उन्हे अधिक प्रिय थी। परिणाम क्या होगा, इसकी चिन्ता उन्हे न थी। वे अपना कर्तव्य पालन ईमानदारी और सच्चाई से करना चाहती थी, और कर्तव्य पथ पर मिट जाना चाहती थी क्योंकि वे जानती थी, कि स्वाधीनता प्राप्ति का संघर्ष एक तपस्या है, और तपस्या मे क्षय पहले हैं, अक्षय पीछे। उनका युद्ध स्वराज्य की अन्तिम साधना नही थी, वे जानती थी, और यह भी उन्हे ज्ञात था, कि वे उसकी अन्तिम साधक नही हैं। वे तो केवल स्वराज्य की नीव मे एक ककड़ी बन जाना चाहती थी, क्योंकि वे जानती थी कि ऐसे ही प्रयासों से एक दिन वह महान् उद्देश्य पूर्ण होगा।

लक्ष्मी बाई जब तक जीवित रही, अपने कर्तव्य से जूझती रही, कुशल सैन्य-निर्देशन, अपूर्व दूरदर्शिता और अनुकरणीय साहस के बावजूद भी वे सफल न हो पाई। इसके कारण स्पष्ट थे। पेशवा की पद लोलुपता और विलासिता, तात्या मे आवश्यकता से अधिक कर्तव्य-पालन की इच्छा एव चेतना की निष्क्रियता, पीर अली और दूल्हाजू की देशद्रोहिता, सेना की अवस्था, एकता का अभाव, सम्मिलित प्रयासों, में विशृंखलता आदि उनकी असफलता के प्रमुख कारण थे। यह देश का दुर्भाग्य ही था। रानी लक्ष्मीबाई आज मर कर भी अमर हैं। भारतीय-नारियों की गौरवशाली परम्परा की दृढ आधार स्तम्भ हैं। वे एक ऐसी मशाल की भाँति आज भी वह दिव्य ज्योति प्रज्ज्वलित कर रही हैं, जिनसे आगे आने वाली शताब्दियों मे न केवल नारियो को ही वरन् पुरुषों को भी अमर प्रेरणा मिलेगी—राष्ट्र की रक्षा की, कर्तव्य पालन की, और साहस एव वीरता की।

लक्ष्मी बाई की परिकल्पना एक ऐसी नायिका का चित्रण करना था, जो नारियो को फिर से उनके गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिला सके, और उनमें ओजपूर्ण भावनाएं भर सके। जिस समय इस उपन्यास की रचना हुई थी, उस समय तक भारतीय नारियों मे काफी आत्म-पतन हो चुका था, और वे पश्चिमी रंग मे अपने को पूर्णतया रगती जा रही थी। भारत अभी भी—दासता की शृंखलाओ से मुक्त नहीं हो पाया था। ऐसी अवस्था में नारियो के नैतिक उत्थान की दृष्टि से एक वीर चरित्र की आवश्यकता का अनुभव कर ही लेखक ने लक्ष्मीबाई का चित्रण किया है, जिसमे उसे पर्याप्त मात्रा में सफलता प्राप्त हुई है।

जीवन में अत्यधिक आधुनिकता

नारी शिक्षा के क्रमश: विस्तार से जहाँ जीवन मे नए दृष्टिकोण का जन्म हुआ, नवीन चेतना का उदय हुआ, वहीं पश्चिमी सम्पर्क के प्रभाव के फलस्वरूप

पश्चिमी देशों की नारियों की भांति फैशन एवं विलास की प्रवृत्ति बढ़ी और जीवन में अत्यधिक आधुनिकता के प्रति आग्रह भी बढ़ा। जीवन अन्दर ही अन्दर तो खोखलेपन की सीमा को पार करता जा रहा था पर ऊपर से प्रदर्शन करने एवं अपनी उच्चता सिद्ध करने के भाव भी बढ़ रहे थे। विवाह से नारियों को घृणा हो गई थी, और धीरे धीरे परिवार के अन्य लोगों के प्रति श्रद्धा एवं प्रेम का भाव भी नारियों में हटने लगा। नारियाँ अब प्रत्येक कार्य अपनी रुचि के अनुकूल करना चाहती थीं, और अपनी विलासिता, नग्नता प्रदर्शन और एक प्रकार की बेहयाई पर अधिक बल देने लगीं। भारतीय परम्पराओं, नारी के महान आदर्शों एवं अतीत के गौरव को वे पूर्णतया भुला देना चाहती थीं, तथा अपने वर्तमान एवं भविष्य को एक ऐसे ऐसे साँचे में ढालना चाहती थीं, जहाँ केवल की अत्यधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके, और समाज उनकी राहों में न आ सके। यह नारी का जबरदस्त पतन था, और इससे समाज में एक विचित्र सी स्थिति उत्पन्न हो गई थी। उपन्यासों में ऐसी नारियों को स्थान दिया गया है, और उनके रूप हमें लज्जा (लज्जा), तथा नीलू (नीलमणि) आदि में प्राप्त होते हैं।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास "लज्जा" (सं० २००४) की नायिका लज्जा का पालन पोषण एक सम्पन्न परिवार में हुआ है। माता का अपने बच्चों के प्रति विशेष *अनुराग नहीं रहा है और उसके पिता भी अत्यधिक व्यस्त रहने वाले व्यक्ति हैं।* लज्जा की काम चेष्टाएं उसकी बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ हो जाती हैं और पुरुष को क्रमशः अपने रूप एवं यौवन तथा हाव भाव का प्रदर्शन करने में उसे एक विशेष प्रकार की आत्म-तुष्टि प्राप्त होती है। इस परिवार में प्रो० किशोरी मोहन और डा० कन्हैयालाल का आना जाना है। ये दोनों सज्जन लज्जा के पिता के मित्रों में से थे और लज्जा अपने ड्राइंग रूम में पुरुषों की उपस्थिति में बहुत आती जाती थी। उसने स्वयं ही इस तथ्य को स्वीकार किया है कि प्रारम्भ में तो वह निरुद्देश्य ही वहाँ आती थी। पर वहाँ आने के लिए उसके अन्तरमन की जो मूल भावना उसे अनुप्राणित करती थी, वह अपने रूप और यौवन के प्रबल आकर्षण से लुब्ध और मुग्ध पुरुष वर्ग को उत्तेजित करने का था। उस पुरुष वर्ग में से डा० कन्हैयालाल सफलता प्राप्त कर सकने में सक्षम होते हैं तथा रीझ जाने एवं रिझाने की प्रक्रिया दोनों तरफ से होती है। लज्जा का छोटा भाई राजू अपनी बहन को बेहद प्यार करता है पर डाक्टर साहब से उसी सीमा में घृणा करता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में उनसे अधिक लम्पट धूर्त व्यक्ति होना सम्भव ही नहीं है। लज्जा भी जानती है कि डाक्टर साहब किस प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। अपने उत्सव में वह स्वयं ही उनकी हरकतें देखती हैं, उनकी सहेली कमलिनी उससे सारी बातें बताती है, पर तब भी लज्जा डाक्टर साहब के प्रति अपने आकर्षण को समाप्त न कर सकी, यह जानते हुए भी कि राजू उसके और डाक्टर साहब के परस्पर सम्बन्ध को भली भाँति जानता है तथा वह डाक्टर साहब से घृणा करता है।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि लज्जा पूर्णरूप से पाश्चात्य संस्कारों में पालित पोषित युवती है। न उसमें परम्पराओं के प्रति मोह है, न घर की चार दिवारी में रह परिवार की विशृंखलता को रोकने की इच्छा है। वह अपनी इच्छा के अनुरूप ही सारा कार्य करती है। प्रश्न उठता है कि प्रकट रूप में वह राजू से प्रेम करती है, अपने पिता से प्रेम करती है, फिर भी वह घर तबाह करने पर क्यों तत्पर हो गई? इसका उत्तर फ्रायड के सिद्धान्तों से स्पष्ट रूप से दिया जा सकता है। फ्रायड ने मन को चेतन, अर्द्धचेतन और अचेतन, इन तीन स्तरों में विभाजित किया है। मस्तिष्क का लगभग ३।४ भाग अचेतन है, और यही मानव जीवन की सारी प्रक्रियाओं को मूल रूप से संचालित करता है। चेतन मन की अपेक्षा यह अचेतन मन अधिक शक्तिशाली होता है। इस चेतन और अचेतन के मध्य ही अर्द्धचेतन की स्थिति रहती है। प्रायः वे बातें जिन्हें व्यवहार में लाने से लोकनिन्दा अथवा लज्जा का भय रहता है। दमित शमित भावनाएं, कुंठाएं एवं वर्जनाएं, ये सभी इसी अवचेतन में एकत्रित होती रहती हैं। Censor इन पर नियन्त्रण रखता है। फ्रायड के अनुसार अचेतन मन की सारी शक्तियों का मूल आधार दमित शमित कामवासना ही है। मानव की इस यौवन वृत्ति को उसने लिबिडो कहा है। लज्जा भी इसी शक्ति के सम्मुख परास्त होती है। लज्जा में काम की अबाध और उन्मुख अन्तः प्रेरणा है, और उसका चरित्र इसी सन्दर्भ में विकसित होता है। उसकी मन स्थिति विचित्र प्रकार की है। उसे अपने परिवार से विशेष लगाव नहीं है। उसके कल्पना लोक में प्रेम का एक विचित्र साम्राज्य घूमता रहता है। जिसमें नारी पुरुष के प्रेम के अतिरिक्त कुछ और नहीं है, इसीलिए उसकी काम चेष्टाएं स्वल्पावस्था से ही प्रारम्भ हो जाती है, और आयु के साथ वह इन चेष्टाओं में पूर्ण रूप से दक्ष हो जाती है। वह डाक्टर साहब के सामने ऐसे व्यवहार करती है, जो उसकी इसी आन्तरिक काम प्रेरणा शक्ति का परिचय देते हैं। एक स्थल पर वह कहती है, "मैं उनके सामने एक कौच पर बैठने और लेटने की मध्यावस्था में अवस्थित हो गई। मैं अच्छी तरह से जानती थी कि मेरा इस प्रकार बैठना शिष्टाचार के विरुद्ध है, पर मुझे यह भी विश्वास था कि डाक्टर साहब इस प्रकार मेरे शरीर का विन्यास और उसकी ललित गति देख कर शिष्टता और अशिष्टता का विचार सब भूल जायेंगे। प्रत्येक नारी के हृदय में येन-केन प्रकार से पुरुष को रिझाने की प्रवृत्ति वर्तमान रहती है, और मैं तो उसके लिए बर्बरता की चरम सीमा तक पहुंचने के लिए भी तैयार थी।"[1]

लज्जा का राजू की घृणा से परिचित होने के बावजूद भी उसका जरा भी परवाह न करने का कारण मनोवैज्ञानिक है। लज्जा में तीव्र कामोन्माद है, और परिणामस्वरूप उसकी सारी चेष्टाएं राजू को पसन्द नहीं है। लज्जा अपनी काम-

१. इलाचन्द्र जोशी : लज्जा :, (सं० २००४) इलाहाबाद, पृष्ठ ५२।

वासना का दमन नही कर पाती अत एक सघर्ष उत्पन्न होता है—लज्जा की काम भावना और राजू के प्रति उसके प्रेम मे और विजय होती है—काम भावना की। और लज्जा को एक प्रकार से राजू की घृणा और जलन देखकर आन्तरिक आह्लाद सा भी अनुभव होता है वह उस सनकी हुई चिनगारी को और भी तीव्र करने मे योग देती है। उसमे त्याग भावना किंचित मात्र भी नही है। जैनेन्द्र की मृणाल की भाँति न तो वह सहिष्णु ही है, और न सियारामशरण गुप्त के नारी पात्रों की भाँति अपनी काम भावना को पूर्णतया स्वा मकन की उसम शक्ति ही है। अन्त म ऐसी स्थिति आ जाती है, जहाँ वह यह अच्छी प्रकार से समझ लेती है कि उसका यह खेल अधिक दिना तक नही चल सकता, उसे राजू डाक्टर साहब म से एक को चुनना होगा। और अपने कथन के ठीक अनुरूप वह सचमुच बबरता की सीमा तक पहुँच गई थी कि राजू को नही वह डाक्टर साहब को ही पसन्द करती है। परिणाम होता है कि राजू आत्म हत्या कर लेता है। राजू की मत्यु पर पहली प्रतिक्रिया लज्जा पर इस प्रकार होती है "राजू की मत्यु का समाचार सुनते ही मैंने सोचा—"मेरे दुश्चरित्र पर दु खित सतप्त और उत्तेजित होने वाला कोई व्यक्ति अब घर मे नही रहा। मैं अब जी भरकर डाक्टर साहब या अन्य किसी सुरूप पुरुष के साथ आनन्द की बातें कर सकती हूँ—मेरे सुख की स्वतन्त्रता मे बाधा पहुँचाने वाला जो तीखा कटक था, वह अब निकल गया—अब मैं निद्वन्द्व होकर विचर सकती हूँ[1]।"

वास्तव मे लज्जा मे उद्दाम कामवेग और उस सुख से वचित होने का अभाव दो प्रमुख मूल प्रेरणाए हैं। राजू की मत्यु के बाद उसके अन्तरमन में तीव्र घृणा उत्पन्न होती है—अपने से, समस्त नारी जाति से, डाक्टर साहब से। उसकी प्रत्येक क्षेत्र मे पराजय ही इसका प्रमुख कारण बनती है। लज्जा की परिकल्पना का स्रोत लेखक को पाश्चात्य भावना से पूर्णतया उस नए नारी वर्ग से प्राप्त हुआ था, जिसमे भोग, लालसा और विलास की वत्ति बढ रही थी, परम्पराए टूटती जा रही थी और नारी स्वतन्त्र रमणी बनकर अपना जीवन व्यतीत करना चाहती थी। पश्चिमी शिक्षा एव सभ्यता के बढते हुय प्रभाव के स दभ मे नारियाँ किस प्रकार एक मृगतृष्णा की ओर अग्रसर हो रही थी तथा अपनी परम्पराओं एव मर्यादाओं को भूलती जा रही थी, *लज्जा इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।* लेखक द्वारा *लज्जा की परिकल्पना का* यही उद्देश्य था कि वह एक ऐसी नारी का चित्रण कर सके, जो पश्चिमी सस्कार, फैशन, विलास एव सेक्स को ही जीवन समझती है। पर इसमे कही कल्याण नही, मगल नही, वास्तविक जीवन तो अपनी मर्यादाओं का पालन करने मे ही है। इस दृष्टिकोण से लज्जा के चरित्र प्रकाशन मे जोशी जी को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'नीलमणि" (१६४०) की नायिका नीलू की परिकल्पना का स्रोत भारत म ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात वे

---

१ इलाचन्द्र जोशी लज्जा (स० २००४), इलाहाबाद, पृष्ठ १४०।

परिवर्तित परिस्थितियाँ थी, जिसमे नारी शिक्षा प्राप्त कर पश्चिम विचारो से प्रभावित हो रही थी एव अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का विकास चाहती थी। नीलू परपरागत रूप मे पालित पोषित न होकर नये विचारो से ओत-प्रोत है, और अपने ऊपर किसी का अकुश नही चाहती, क्योकि अग्रेजी पुस्तकों को पढकर वह समझ गई है कि मात्र नारी होने से ही वह कीडा मकोडा नही हो गई है। वह मनुष्य है और उसे स्वतन्त्रता से जीने का पूर्ण अधिकार है। वह विवाहित होकर भी विनय नामक युवक के साथ घूमने जाती है, घण्टो हँस-हँसकर बात करती है। इसे उसकी माँ नही पसन्द करती, और जब उससे इसका अनौचित्य सिद्ध करती है, तो नीलू अत्यन्त अशोभनीय रूप से अपनी माता को उत्तर देती है, और ऐसे शब्दो का प्रयोग करती है, जिसे प्रायः भारतीय नारियाँ सोच भी नही सकती। वास्तव मे इसमे नीलू का कोई दोष न था। बचपन से ही वह अत्यन्त लाड़-प्यार मे पाली गई है, और इसकी प्रत्येक इच्छाओ का मान रखा गया है। जिसके परिणामस्वरूप वह अत्यन्त उदण्ड हो जाती है, और उसके स्वभाव मे विचित्र-सा जिद्दपन आ जाता है। उसमे गर्व की अतिशय भावना व्याप्त है, और अपने अह के सम्मुख वह किसी को भी प्रधानता नही देती, यहाँ तक कि जब वह प्रथम बार अपने पति से मिलती है, तो इस तरह की बातें करती है, जो अत्यन्त विचित्र ही नही बल्कि अस्वाभाविक-सी प्रतीत होती है। वास्तव मे उसकी चेतना मे यह बात घुली मिली है कि विवाह के सम्बन्ध मे पुरुषो की भाँति नारियो को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, और उनकी इच्छाओ का भी पूर्ण सम्मान किया जाना चाहिए। वह महेन्द्र से कहती है—'निस्सन्देह ? क्या कभी आपने मुझसे बातचीत की है ? मेरा आपका परिचय हुआ है ? आपके विचार है, और मेरे क्या है, यह बात एक-दूसरे को मालूम है ? क्या ऐसी कोई बात है कि जिससे हम लोग एक दूसरे के निकट घनिष्ठ हो सके। आपके चरित्र, स्वभाव और विचारों से अपरिचित हूँ और आप मेरे से। फिर मैं यदि कहूँ कि आप अपरिचित है तो इसमे आपको असन्तुष्ट न होना चाहिए[1]।" वास्तव मे नीलू इसे अस्वीकार ही नही करना चाहती कि हिन्दू समाज मे नारियाँ मात्र पति की सम्पत्ति हो। उनका पिता उन्हे जिन हाथों मे स्वेच्छा से अर्पण करता है, उन्ही की होकर वह अपना जीवन चुपचाप आत्मपीड़न मे व्यतीत करें, और अपनी भावनाओ, अपनी कल्पनाओ, अपने शरीर तथा अपनी आत्मा सभी कुछ पर से अपने अधिकार का त्याग करे तथा एक प्रकार से यह समझ ले, कि उनका अस्तित्व एक कल्पना मात्र है।

नीलू मे आत्म सम्मान का भाव कूट-कूटकर भरा है। वह किसी भी पग पर किसी के सम्मुख झुकना नही चाहती, चाहे उसकी माँ हो, अथवा पति। अपनी माँ से रूठने पर वह माँ से बोलना बन्द कर देती है, और पति से अनेक बार विवाद होने पर वह उसे पत्र तक नही लिखती। और सीधे मुँह बात भी नही करती। वह स्वयं

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : नीलमणि : (१६४०), बनारस, पृष्ठ १५-१६।

आत्म-समर्पण करना अपने आत्मगौरव के विरुद्ध समझती है। उसके अन्तरमन में अनेक बार यह बात कसक के समान उत्पन्न होती है कि उसका यह विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध हुआ है, उसकी इच्छाओं का कोई मान इसमें नहीं रखा गया है। उसके विचार से हृदय अपने और पराये को पहचान लेता है। जब उसे इतना ज्ञान हो गया है कि वह अपने जीवन संगी को अपनाए, तो कम से कम उसे उसका पसन्द करने समझने तथा उसके गुण दोषों को देखने का अधिकार तो था? एक छोटी-सी चीज बाजार से खरीदी जाती है तो उसे भी अच्छी तरह से परखा जाता है। फिर यह तो जीवन भर की बात थी। नीलू के मन की यही कुण्ठा उसके और महेन्द्र के मध्य बनी दीवाल को गिराने में असमर्थ रहती है और पति पत्नी में परस्पर जो सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये वह नहीं हो पाता है। अन्त में विनय जब उसे बातें समझाता है, और उसे उसके कर्तव्य पथ का स्मरण कराता है तो वह लाहौर जा पहुँचती है तथा अपने पति के गले में बाहें डाल सहज ही दूरी की वह दीवाल गिरा देती है।

नीलू में पश्चाताप की भावना भी जबदस्त है। पर उसके आत्म सम्मान के भाव के सम्मुख वह प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो पाती। वह कोई बात आवेश में आकर कर जाती है, पर तुरन्त ही स्थिर होने पर उसका औचित्यानौचित्य भी निर्धारित करती है और पश्चाताप की भावना का अनुभव कर अपनी त्रुटियों पर दुखी भी होती है। अपने द्वारा आहत किए गए व्यक्ति से वह क्षमा याचना भी करना चाहती है पर उसका आत्मगौरव उसे क्षमा करने नहीं देता। जिस दिन वह अपनी माँ से लड़ी थी क्रोध और क्षोभ से भरी वह उस दिन अपने कमरे में पड़ी रही। उसने माँ का घोर अपमान किया था। उस माँ का जिसने इतना लाड़ दुलार करके पाला पोसा। रह रह कर उसे माता के स्नेह और प्यार की बातें याद आने लगीं। वह सोचने लगी—अब भी कितना वे उसे प्यार करती हैं, उसी माँ को उसने गाली दी और न कहने योग्य बातें कह दीं। यह सब याद कर उसका हृदय हाहाकार करने लगा। वह तकिए में मुँह छुपा कर फूट फूट कर रोने लगी। परन्तु उन्होंने मेरे कागज छुए क्यों? पश्चिमी सभ्यता में विकसित उसका मन इसी बात पर माँ से विद्रोह कर उठा। वह किसी तरह भी माँ को क्षमा नहीं कर पाती थी।[1] अपने पति से उसकी दूरी में इसी तथ्य का प्रमुख स्थान रहता है, पर साथ ही विवाह के पश्चात् उसकी अतृप्त वासना एवं आकांक्षा भी कम महत्वपूर्ण नहीं होती, जो इस प्रकार से उसके स्वभाव को विद्रोही बना देती है, और वह अत्यन्त कर्कशा बन जाती है। महेन्द्र नीलू की इच्छा के विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करना चाहते, और नीलू को यह ग्लानि है कि क्यों महेन्द्र उसे जबरदस्ती अपने सीने से लगाकर उसे प्यार करते तो वह उसका विरोध करती? पर न महेन्द्र ऐसी जोर जबरदस्ती करते हैं

---

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री नीलमणि (१६४०) बनारस, पृष्ठ ११।

और न नीलू कभी अपना आत्म-समर्पण करती है, दोनों में तनाव परस्पर अन्त तक बना ही रहता है।

इस उपन्यास में नीलू की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में लेखक का उद्देश्य पश्चिमी सभ्यता एवं विचारों के कुप्रभाव को लक्षित करना एवं भारतीय परम्पराओं की महानता को प्रतिपादित करना था। किन्तु इसमें लेखक को कथानक की दुर्बलता के कारण पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हुई। पूरे कथानक में नीलू के चरित्र में एक प्रमुख बात है कि वह कर्कश स्वभाव की है, विद्रोहिणी है और अपने आत्मगौरव को मलिन होते देखना वह नहीं चाहती। प्रारम्भ में लेखक का जो उद्देश्य था वह कथानक की दुर्बलता में उलझ कर रह जाता है। और वह यह स्पष्ट करने में पूर्णतया असफल रहता है कि विवाह सम्बन्धी भारतीय परम्पराएं पश्चिम की अपेक्षा यदि महान् है तो किस सीमा तक और क्यों ? वह केवल महेन्द्र के मुख से इतना ही कहलवा सका— 'तुमने यूरोप घूमा—वहाँ की हवा खाई—वहाँ की आजादी देखी, पर उस आजादी की दुर्दशा भी देखी ? स्त्रियों की पवित्रता तो वहाँ कोई चीज ही नहीं रह गई। विवाह वहाँ एक बोझ है। पति-पत्नी में जो विश्वास की भावना होनी चाहिए, उसका वहाँ नामनिशान भी नहीं है। प्रत्येक स्त्री को पुरुष से और पुरुष को स्त्री से यह भय लगा रहता है कि जाने कब सम्बन्ध विच्छेद हो जाय, और कभी वे एक नहीं हो पाते हैं,उनका सम्बन्ध आत्मिक नहीं होता, सिर्फ शारीरिक होता है। गार्हस्थ्य जीवन और प्रेम जैसे वहाँ भुलस गया है।''[1] इस कथन के अतिरिक्त नीलू के चरित्र के माध्यम से यह कहीं नहीं स्पष्ट हुआ है कि भारतीय परम्पराएं महान् हैं या उपयोगी हैं। केवल एक कथन मात्र से उपन्यास की पूर्ति नहीं हो सकती। वास्तव में अन्त तक पहुँचते-पहुँचते लेखक का उद्देश्य केवल इतना रह जाता है कि कब नीलू में वासनात्मक ज्वार का विस्फोट हो जाए और फ्रायड के सत्य उपासक की भाँति वह नीलू के आत्म-समर्पण का चित्रण कर सके।

पति की मृत्यु के पश्चात् जीवन में संघर्ष

भारतीय नारियों के जीवन में पति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। विवाहित जीवन में वे एक प्रकार से पति पर ही आश्रित होती हैं, उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। विशेष रूप से आलोच्य-काल में, जब आधुनिकता का इतना अधिक प्रसार नहीं हुआ था, जितना १९४७ के पश्चात्, और जब नारियाँ घर से बाहर निकल कर अधिक संख्या में नौकरियों आदि में प्रवेश नहीं कर रही थीं, तथा आर्थिक दृष्टि से उनके स्वावलम्बी होने की राह में अनेक बाधाएं थी, उस परिस्थिति में तो पति का स्थान और भी प्रमुख होता था, वही परिवार का एकमात्र आलम्बन होता था। ऐसी अवस्था में जब पति की युवावस्था में ही मृत्यु हो जाती थी, तो नारियों के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती थी। उनका परिवार

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : नीलमणि (१९४०), बनारस, पृष्ठ १०६-१०७।

मे विशेष सम्मान नही होता था, और समाज का इतना नैतिक पतन हो गया था कि पति के बडे भाई की ही वासना अवलाओ के साथ अपने पाप दिखाने प्रारम्भ कर देती थी। और नही तो नारी वेचारी वेश्यावृत्ति या नतकी का पेशा अपनाने के लिए बाध्य हो जाती थी। नारी की आर्थिक परतन्त्रता ही इन समस्याओ के मूल म थी, जिनसे विवश होकर नारियो को जीवन की कुरूपताओ एव विषमताओं से समझौता कर लना पडता था। ऐसी नारियां के रूपधारिणी (तपोभूमि), तथा ललिता (त्यागमयी) मे प्राप्त होत हैं जिनके पतियो की मत्यु उनकी युवावस्था मे ही हो जाती है, और जिन्हे समाज की विषमताओ का सामना करना पडता है।

ऋषभ चरण जन के उपन्यास 'तपोभूमि (१९३६) की नायिका धरिणी की परिकल्पना का स्रोत समाज की परिवर्तित व परिस्थितियाँ थी, जिनमे पाप अनाचार और निष्क्रियता का प्रसार हो रहा था और नैतिकता एव सस्कृति को तिलाजलि देकर समाज अपने को नवीनता (?) की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न कर रहा था। नारी पुरुष के वासना और हवस का शिकार हो रही थी और पुरुष का अह उसकी दयनीयता से टकरा कर शक्तिशाली होने के नाते अपने को विजयी समझ रहा था। धरिणी भी पुरुष की इसी अहम्मन्यता का शिकार होती है तथा इसी के परिणामस्वरूप आत्मपीडन म उसका जीवन व्यतीत होता है। धरिणी विवाहोपरान्त जब अपने पति के घर आती है तो उसने वास्तविक रूप मे कभी नही समझा कि अन्तत विवाह है क्या, और वैवाहिक जीवन का मूल्य क्या है, वह केवल इतना ही समझ पाती है कि विवाह के पश्चात् केवल एक घर को छोड कर दूसरे घर मे आ गई है। विवाह के थोडे ही समय पश्चात् उसके पति की मत्यु हो जाती है। पति का प्यार और सुख वह कभी नही प्राप्त कर सकी। हर लडकियो की भाँति उसकी स्वाभाविक इच्छाए कामनाए और स्वप्न सभी कुछ अपूर्ण रह जाते हैं और अपूर्णता की परिधि म ही उसका व्यक्तित्व निर्मित होता है। उसके चरित्र निर्माण की प्रक्रिया म भी उसके जीवन की इसी अपूर्णता का महत्वपूर्ण स्थान होता है। उसका जेठ सुन्दरलाल उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध उसे बहका कर स्थापित करता है। जब इसका चरमो त्कर्ष आता है तभी धरिणी को ज्ञात होता है कि वह किस दिशा मे जा रही थी और उसने क्या किया है। वह माँ बनने वाली होती है। पुरुष चाहता है अपने अधिकार का प्रदर्शन, अपनी प्रतिष्ठा, अपने अह का सम्मान और इसके लिए वह किसी भी मार्ग का अनैतिक नतिक कुछ भी, अवलम्बन करने को प्रस्तुत रहता है, पर नारी इसे अस्वीकृत करती है। उसकी चेतना एक पाप करने के बाद दूसरा पाप करने को प्रस्तुत नहीं है। सुन्दरलाल गर्भपात चाहता है, धरिणी दृढता से इसका विरोध करती है क्योंकि उसके विचार से, " एक चीज है जो समाज के नियमो से भी बडी है, न्याय से भी कठिन है आपके फैसले से भी दुर्निवार है। आप उसे देख कर भी नही देखना चाहते। मैं उसका साथ न

छोड़ूँगी। वह मेरा धर्म है।"[1] धरिणी का विश्वास इस आघात से टूट जाता है, वह अपना भला चाहने वाले डाक्टर पर भी अविश्वास करने लगती है।

उनके जीवन में जैसे एक तूफान आता है। उसने ऐसा कृत्य किया था, जिसे समाज कभी मान्यता नहीं दे सकता था। सुन्दरलाल का कृत्य समाज की दृष्टि में क्षम्य था, पर धरिणी तो जैसे सारे पाप की जड थी, समाज उसे कभी क्षमा नहीं कर सकता था। उसके सम्मुख दो ही मार्ग थे, जिनमे से एक उसे अपनाना ही था। या तो समाज और पुरुष की बात मान कर एक पाप को दूसरे पाप से चूर करती फिर पाप करती और उसे पुन. दूसरे पाप से चूर करती। इस प्रकार इस सिलसिले को जीवन पर्यन्त चलाए चलती जो पुरुष की हार्दिक इच्छा है और जो समाज का अग्रणी है, उसकी परम्पराओं और मान्यताओं का पोषक है। उसके सम्मुख दूसरा भी मार्ग था कि वह अपने आंचल मे अपनी सारी कहानी छिपाए अपना जीवन समाप्त कर ले। पुरुष का सम्मान इससे बना रहता, नारी के आत्म-बलिदान से उसकी हार्दिक इच्छाएं पोषित होती रहती। धरिणी ने पहले मार्ग को नही अपनाया, और गंगा मे कूद जाती है। पर परिस्थितियाँ उसे इलाहाबाद के एक कोठे पर ला बिठाती हैं, वह वेश्या बन जाती है। किन्तु गन्दे और घिनोने वातावरण में भी रह कर धरिणी नही बिकती, उसकी आत्मा नहीं मरती, उसके पायो की गति उसकी आवाज ही बिकती है। नवीन नामक एक युवक उसे आश्रय देता है और धरिणी के जीवन मे जैसे क्षणिक स्थिरता आती है, अपने पिछले जीवन को वह सोचती है, उससे निष्कर्ष निकालती है।

धरिणी का चरित्र बड़ा ही आकर्षक और सहानुभूतिपूर्ण बन पड़ा है। समाज की विभिषिकाओं का शिकार बन कर भी वह संघर्ष करती रहती है और "पर" के लिए "स्व" का बलिदान करने मे ही अपने जीवन की इतिश्री समझती है। नवीन का यह कथन कि, "मैं धरिणी को उत्कृष्ट कोटि की बौद्धिक सामर्थ्य सम्पन्न मानता हूँ। उसकी दृष्टि बहुत ही पारदर्शी है, और उसकी बुद्धि मे यह है कि किसी के आसरे वह टिकना जानती ही नहीं और सदा मौलिक मार्गों में ही भटकना पसन्द करती है।"[2] असंगत नहीं है, बल्कि धरिणी की सहनशीलता, उसका आत्मपीड़न उसकी विनयशीलता एवं स्पष्ट हृदय उसके व्यक्तित्व को अत्यन्त आकर्षक रूप प्रदान करते है। धरिणी की परिकल्पना का उद्देश्य पुरुष की वासना और उसकी पृष्ठभूमि मे नारी की विवशता प्रदर्शित करना था। नारियाँ किस प्रकार छली जाती हैं, उनका जीवन किस प्रकार नष्ट किया जाता है, और किस प्रकार हमारे समाज की रूढ़िवादी परम्पराएं और मान्यताएं उसे पाप के मार्ग पर जाने को विवश कर देती हैं, लेखकों का यह प्रमुख उद्देश्य धरिणी के रूप मे पाठकों के सम्मुख उपस्थित

१. ऋषभ चरण जैन : तपोभूमि, (१६३६), दिल्ली, पृष्ठ २४।
२. ऋषभचरण जैन : तपोभूमि (१६३६), दिल्ली, पृष्ठ ८६।

करने का या घोर धरित्री के माध्यम से इन्होंने सरलतापूर्वक चित्रित भी किया है।

इसी प्रकार भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यास "त्यागमयी" (1940) की नायिका ललिता के पति की मृत्यु प्रारम्भिक अवस्था में ही हो जाती है, और पति की मृत्यु के पश्चात परिवार में उसके साथ दुर्व्यवहार होता है। कुछ दिनों तक तो वह चुपचाप इसे सहन करती जाती है, पर अत्याचार समाप्त नहीं होता, और अन्त में अपने ससुराल वालों के निर्दयतापूर्ण व्यवहार से घबड़ा कर वह आत्महत्या के निश्चय से नदी में कूद जाती है। पर संयोग से उसे विजय नामक युवक बचा लेता है। धीरे-धीरे समय की गति के साथ विजय उसके निकट आता जाता है, और वह मन ही मन उससे प्रेम करने लगती है। पर विजय उससे नहीं एलिस नामक युवती से प्रेम करता है। इससे ललिता की व्यथा बढ़ जाती है, पर वह कर्त्तव्यच्युत नहीं होती, और अपने एकतरफा प्रेम को चेतना से दूर कर प्रशमन कर देती है। एलिस दुर्भाग्य से एक अपराध में फंस जाती है, और उसे कालेपानी की सजा हो जाती है। ललिता यह सुनकर बनारस जाती है, और सारा एलिस का अपराध स्वयं स्वीकार कर फांसी का दण्ड ग्रहण कर लेती है, जिससे विजय और एलिस मिल जाते हैं, और ललिता त्यागमयी हो जाती है।

ललिता के चरित्र का जिस प्रकार विकास दिखाया गया है, और एक पीड़ा-ग्रस्त विधवा से उसे जिस प्रकार त्यागमयी बनते दिखाया गया है, उसके पीछे एक ही मूल उद्देश्य था नारियों के समक्ष उच्चादर्श प्रस्तुत कर उन्हें सत्पथ की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करना। पर उस प्रक्रिया में लेखक ने जिन प्रसंगों की अवतारणा की है, वह बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं है। विशेषतया एलिस का अपराध अपने सिर पर लेने का, और बनारस में ललिता का भाषण आदि देने का प्रसंग तो पूर्णतया अस्वाभाविक है।

नर्तकी नारियों द्वारा साधारण दाम्पत्य जीवन को महत्व प्रदान करना

प्राचीन काल में नर्तकियों, विशेषतया राज-नर्तकियों का जीवन अत्यन्त वैभवशाली होता था, और वैभव एवं विलास में ही उनका प्रत्येक क्षण व्यतीत होता था। बाह्य रूप से तो यही प्रतीत होता था कि उनके जीवन में बस सुख ही सुख है, दुःख का वहां कोई स्थान नहीं है, पर वस्तुतः उन राज नर्तकियों की अन्तरात्मा असंतोष की ज्वाला में सुलगती रहती थी। वैभव एवं प्रदर्शन के कारण उन्हें मानसिक शांति नहीं प्राप्त होती थी, जिसे पाने के लिए वे व्यग्र रहती थीं। उनका अतीव सुन्दरी होना स्वाभाविक ही था, इसीलिए राजकुमार या नगर का श्रेष्ठ धनी व्यक्ति उनसे प्रेम करता था, पर उस प्रेम के विवाह रूप में परिणत होने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती थीं। या तो राजकुमार में अपना यह इतना प्रमुख होता था, कि वे राजनर्तकी के किसी कृत्य पर भ्रम में आकर उसे ठुकरा देते थे, जिससे उनके जीवन में संघर्षों का तूफान आ जाता था। यदि श्रेष्ठ धनी व्यक्ति होता था,

उसी स्तर के अन्य लोग अपनी कन्याओं का विवाह उससे करने के लिए प्रयत्नशील हो उठते थे। ऐसी परिस्थिति मे राजनर्तकी का कर्तव्य प्रमुख हो जाता था, तथा वे अपने प्रेम का दमन करती थीं। पर अपने प्रेमी को भुलाना सहज सम्भव नहीं होता, अत: उनके जीवन मे भी संघर्ष उत्पन्न हो जाता था। इस संघर्ष के मूल में धन और वैभव ही प्रमुखत: क्रियाशील समझा जाता था, अत: वे नर्तकियाँ सारी सम्पत्ति ठुकरा कर साधारण दाम्पत्य जीवन को ही अपनाने के लिए व्यग्र हो उठती थीं, क्योंकि उसमे उन्हे अपूर्व मानसिक शान्ति प्राप्त करने की आशा रहती थी। आलोच्यकाल मे ऐसी दो नर्तकी नायिकाओं की कल्पना चित्रलेखा (चित्रलेखा) तथा तथा दिव्या (दिव्या) के रूप मे की गई है, जिन्होने महलों का सुख त्याग कर साधारण दाम्पत्य जीवन को अपनाना ही अधिक श्रेयस्कर समझा।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास "चित्रलेखा", (१९३४) की नायिका चित्रलेखा पाटलीपुत्र की सर्वाधिक सौन्दर्य प्राप्त नारी थी। वह कुशल नर्तकी थी, उसने वेश्यावृत्ति नही अपनाई। वह ब्राह्मण विधवा थी, तथा उसमे असाधारण व्यक्तित्व था। उसके चरित्र की पाँच बातें मुख्य थी—

१—उसका जीवन अतृप्त आकाक्षाओ, निराशा और दमित शमित वासना के उद्दाम वेगों से सचालित है।

२—अपने मनोभावो पर नियंत्रण करना चित्रलेखा खूब जानती है।

३—चित्रलेखा यदि प्यार कर सकती है तो उसी प्यार को अपनी चेतना मे चीर कर त्याग भी कर सकती है। उसमें अनुपम त्याग वृत्ति है।

४—कर्तव्य पथ को पहचानने की चित्रलेखा मे शक्ति है।

५—उसमे शिष्टता, संयत स्वभाव और सहृदयता है।

चित्रलेखा अठारह वर्ष की आयु मे विधवा हो गई थी। वैधव्य जीवन के संयम से ही वह व्यतीत करना चाहती थी कि कृष्णादित्य नामक एक युवक ने चित्रलेखा के चारो तरफ लिपटे संयम पूर्ण गम्भीरता के आवरण को चीर दिया और चित्रलेखा उस सुन्दर नवयुवक के प्रेम जाल मे आबद्ध हो गई। पर इस प्रेम का अन्त अवसानपूर्ण स्थिति मे ही सम्पन्न हुआ। चित्रलेखा गर्भवती हो गई और दोनो को घर से निकाल दिया गया। विवाह के पूर्व नारी का गर्भवती हो जाना ही इसका मूल कारण था। हर तरफ के व्यग्य वाण, प्रताडनाओ और उपेक्षा से घबराकर कृष्णादित्य ने मृत्यु श्रेयस्कर समझी। कुछ समय पश्चात् चित्रलेखा को जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह भी जीवित न रह सका और इसका चित्रलेखा के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने जिस नर्तकी के यहाँ शरण पाई थी, वहीं नृत्य की शिक्षा पाई। जो संयम वह अभी तक पाले थी वह भी जाता रहा और वह पाटलीपुत्र की कुशल नर्तकी और नायिका बन गई। पर कृष्णादित्य का प्रेम और उस पुत्र की मृत्यु— दोनों आघात प्रथम वार ही चित्रलेखा के जीवन पर नहीं हुए थे। इसके भी पूर्व

उसने अपने पति से प्रेम किया था जो ईश्वरीय था। उसने अपने पति के सुख एवं संतोष के लिए अपना निजत्व मिटा दिया था। उसने अपने जीवन का प्रत्येक क्षण अपने पति को समर्पित कर दिया था। यह ईश्वरीय प्रेम था और चित्रलेखा के लिए तपस्या थी। पर उसकी तपस्या व्यर्थ ही गई। पति की मृत्यु के पश्चात उसका जीवन अंधकारमय हो गया। इन दो आघातों का उसके जीवन पर अत्यधिक स्थाई प्रभाव पड़ा था। उसके जीवन के प्रत्येक क्षण में निराशा की भावना समा गई थी। वह एक के पश्चात एक परिस्थितियों से पराजित हो गई थी। उसे सुख एवं संतोष कभी न प्राप्त हो सका और उसकी सारी नारी सुलभ आकांक्षाएं और कल्पनाएं अपूर्ण रह गई थी। इसके पश्चात उसके जीवन में बीजगुप्त आता है। "इस बार चित्रलेखा ने प्रेम में केवल पिपासा और कभी कभी आत्मविस्मरण का अनुभव किया, आत्मबलिदान का नहीं।"[1] इसके पश्चात ही उसने कुमारगिरि से प्रेम किया। इस प्रकार अपने जीवन में उसने चार व्यक्तियों से प्रेम किया और उसका जीवन बराबर संघर्ष और विषम परिस्थितियों में डूबता उतरता रहा। उसकी चेतना की हलचल का आभास दो प्रसंगों से मिलता है। कृष्णादित्य और बच्चे की मृत्यु के पश्चात वह गहन निराशा के आवरण में डूब गई थी। ऐसे ही में जब उसकी भेंट बीजगुप्त से होती तो वह कहती है— नहीं मैं व्यक्ति से नहीं मिलती। मैं केवल समुदाय के सामने आती हूँ, व्यक्ति का मेरे जीवन से कोई—सम्बन्ध नहीं।' (पृष्ठ २७) पर वह अपनी इस इच्छा पर दृढ़ नहीं रह पाती। मन बीजगुप्त के लिए संघर्ष करता है, चेतना उसे अस्वीकृत करता है। प्रेम बीजगुप्त की ओर बढ़ता है, पर जीवन की गहन निराशा अपने ही तक सीमित रहने को कहती है। अन्त में विजय बीजगुप्त की होती है। पर उसे यह सब मिथ्याडम्बर सा प्रतीत होता है। जब उसके जीवन की एक ओर कुमार गिरि भी आ उपस्थित होता है। उसे बीजगुप्त और कुमारगिरि के बीच संघर्ष करना पड़ता है और अन्त में कहती है,— 'मैं जनरव से निकल कर एकान्त में आना चाहती हूँ। माया को छोड़कर ब्रह्म में लिप्त होना चाहती हूँ।'[2] चित्रलेखा के इस कथन में उसके जीवन में व्याप्त गहन निराशा का भाव प्रकट होता है।

यद्यपि कुमारगिरि चित्रलेखा के जीवन में आता है, फिर भी बीजगुप्त का अस्तित्व उसके जीवन से पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो जाता। पर चित्रलेखा केवल प्यार करना ही नहीं जानती, त्याग करना भी जानती है। उसमें अनुपम त्यागवृत्ति है। बीजगुप्त का विवाह यशोधरा से निश्चित होता है पर बीच में चित्रलेखा के कारण बाधा उत्पन्न होती है। चित्रलेखा को जब यह ज्ञात होता है तो वह विचलित नहीं होती, या स्वार्थवश केवल बीजगुप्त को अपने ही तक सीमित रहने के लिए

---

१ भगवती वर्मा चित्रलेखा (१९३४), इलाहाबाद, पृष्ठ ६९
२ वही, पृष्ठ ५६—५७।

विवश नहीं करती। वह स्वयं ही यशोधरा की राह से हट जाती है। पर हटना ही सब कुछ नहीं था। वह जानती थी कि बीजगुप्त मात्र इतने ही से यशोधरा से विवाह करने को प्रस्तुत न होगा। इसीलिए वह उसे पत्र लिखती है—"मैंने तुमसे प्रेम किया है—ग्रौर ग्रब भी करती हूँ। प्रेम में त्याग की ग्रावश्यकता होती है, उसी त्याग को कर रही हूँ। मैंने तुम्हारे जीवन को निरर्थक बना दिया था—एक योग्य पुरुष को मेरे प्रेम ने कर्तव्यच्युत कर दिया था। उसका प्रतिकार करने जा रही हूं। मैंने ग्रब भोग विलास को तिलांजलि देकर संयम को ही ग्रपनाना उचित समझा—ग्रौर इसी लिए मैं योगी कुमारगिरि से दीक्षा ले रही हूं। तुम्हें विवाह करना ही होगा, यदि ग्रपने लिए नहीं, तो मेरे ग्रनुरोध से। मेरे रहते तुम ग्रपना विवाह न करोगे, मैं जानती हू—इसीलिए तुमसे ग्रलग होना पड़ रहा है, रही मैं, मैं विधवा थी, प्रेमवश मैं कर्तव्यभ्रष्ट हुई, एक बार फिर ग्रपना कर्तव्य पालन करूंगी—वैधव्य के संयम को पालन करने का प्रयत्न करूंगी।"[1]

यह पत्र चित्रलेखा ने कर्तव्य पालन की प्रवृत्ति से ग्रभिभूत हो लिखा था। यह उसके प्रेम का सर्वोच्च ग्रादर्श त्याग ग्रौर ग्रात्म बलिदान था। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि मात्र उसके कारण बीजगुप्त का जीवन नष्ट न हो, वह सुखी एवं सम्पन्नता का ग्रनुभव करे। इसके लिए बीजगुप्त की दृष्टि में वह ग्रपने को गिराना भी चाहती थी। उसने कुमारगिरि से प्रेम करना प्रारम्भ किया, ताकि बीजगुप्त उससे घृणा करे। वह कुमारगिरि के ग्राश्रम में उससे प्रेम करने गई थी वहाँ उसकी भावनाग्रों ने दूसरी ही दिशा ग्रहण कर ली। उसने ग्रपने जीवन में ग्रब साधना ग्रौर तपस्या को प्रमुख स्थान देने का निश्चय कर लिया। यह निश्चय उसने काफी संघर्ष के पश्चात् ही किया होगा। यद्यपि उपन्यास में इसके इस ग्रन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट नहीं किया गया है, ग्रौर फिर भी चित्रलेखा के मन में बीजगुप्त को भुला देने ग्रौर तपस्या एवं साधना के बिन्दु तक पहुंचने के लिए यथेष्ट प्रयास करना पड़ेगा। यद्यपि यह तो निश्चित ही है कि यह उसने त्याग ग्रौर कर्तव्य की भावना से ही किया, पर ग्रपने जीवन की गहन निराशा के वातावरण में एकमात्र ग्रलोक के रूप में बीजगुप्त को भुलाना उसके लिए सहज सम्भव न था। उसका भावुक मन कभी इसे स्वीकार नहीं कर सकता था कि वह बीजगुप्त को ग्रपनी स्मृति में भी न लाएं। हाँ! बीजगुप्त के साथ उसके जीवन पर जो विलासिता का ग्रावरण ग्राच्छादित हो गया था, वह उसे मिटा देना चाहती थी, ग्रौर प्रेम को एक ग्रादर्श के रूप में ग्रहण करना चाहती थी। वह स्वयं कहती है, "·······ग्रौर यह याद रखना बीजगुप्त कि मैं तुमसे प्रेम सदा करती रहूंगी। क्या प्रेम का प्रधान ग्रंग भोगविलास ही है, क्या बिना भोगविलास के प्रेम ग्रसम्भव है? मैं तुमसे इस समय केवल शारीरिक सम्बन्ध तोड़ रही हूं, इसकी

---

१. भगवतीचरण वर्मा · चित्रलेखा : (१९३४), इलाहाबाद, पृष्ठ ११२।

अपेक्षा हमारा आत्मिक सम्बन्ध और दृढ़ हो जायगा।"¹ अपने आदर्श और प्रेम की पवित्रता को एक और स्थल पर चित्रलेखा ने स्पष्ट किया है। चित्रलेखा कुमारगिरि की कुटी में आती है और योगी कुमारगिरि अपने पथ से विचलित सा होता है। पर चित्रलेखा उन्हें रोकते हुए कहती है, 'देव! मुझसे भय मत खाना। अपनी साधना और तपस्या में तुम मुझे कभी बाधा रूप में न पाओगे। इतना विश्वास दिलाती हूँ। मैं तुमसे प्रेम करती हूँ, और प्रेम का अर्थ होता है, निःसीम त्याग। ■ उसी में सुखी होऊंगी, जिसमें तुम्हें सुख मिले। (पृष्ठ ६८)। इस प्रकार चित्रलेखा आदर्श प्रेम और महान् त्याग को प्रस्तुत कर अपने को वातावरण से ऊंचा उठा पाती है।

चित्रलेखा का व्यक्तित्व अत्यन्त ही आकर्षक है। उसमें न तो ईर्ष्या है, न द्वेष की अग्नि है। उसमें कपटाचरण बिल्कुल नहीं है। एक क्षण को वह बीजगुप्त से छिपा कर कुमारगिरि से प्रेम करना चाहती है, पर दूसरे ही क्षण उसे अपने भाव पर पश्चात्ताप होता है और वह बीजगुप्त से सब कुछ स्पष्ट कर देती है। स्वयं उपन्यासकार के ही अनुसार कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं जो दूसरे व्यक्तित्व को आकर्षित करके उसे दबा देते हैं, और उसको अपना दास बना लेते हैं। चित्रलेखा का व्यक्तित्व भी ऐसा ही था। उसमें उदारता थी, और सहृदयता की भावना थी। श्वेतांक उसका हाथ पकड़ लेता है। यह एक दास के लिए अनहोनी बात थी और चित्रलेखा चाहती तो उसे अपने यहाँ से निकाल भी सकती थी। पर उसकी सहृदयता उसे ऐसा नहीं करने देती। वह श्वेतांक को समझा देती है कि यह उसकी त्रुटि है। वह एक प्रतियोगिता में कुमारगिरि को सभी सामन्तों के सामने पराजित करती है, पर अपनी भूल भी वह स्वीकार करती है। वह इसे अपनी विजय नहीं पराजय ही कहती है, क्योंकि, कुमारगिरि को अपमानित और लांछित करने का न मुझे कोई कारण था और न मुझको कोई अधिकार ही था। मेरा क्षेत्र दूसरा है, विद्वानों के क्षेत्र में पदार्पण करना मेरे लिए अनुचित था। मैंने जो कुछ किया वह बुरा किया। इस समय मैं उनसे क्षमा प्रार्थना करने गई थी।" (पृष्ठ ६१)। पाटलिपुत्र की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी नर्तकी का अपनी भूल पर इस प्रकार पश्चात्ताप करना और क्षमा याचना करना क्या उसके चरित्र को गरिमा नहीं प्रदान करता? चित्रलेखा में शिष्टता और संयत स्वभाव है। उसके व्यवहार में उसकी बातचीत में शिष्टता रहती है—और कठिन परिस्थितियों में भी वह अपना संयत स्वभाव नहीं खोती।

बाद में चित्रलेखा का जीवन पश्चात्ताप में ही बीतने लगा। उसने एक छोटी-सी भूल की, और इसी ने उसके जीवन पर जबर्दस्त प्रतिक्रिया डाला। वह भूल थी कुमारगिरि को आत्मसमर्पण। और इसी पश्चात्ताप की अग्नि में जलती वह अपने भवन से बाहर भी नहीं निकलती थी। वह बीजगुप्त से भी नहीं मिलती थी। पर

---

१ भगवतीचरण वर्मा चित्रलेखा, (१९३४), इलाहाबाद, पृष्ठ ११५।

अन्त मे जब उसे ज्ञात होता है कि बीजगुप्त ने यशोधरा से विवाह नही किया, अपनी सारी सम्पत्ति श्वेताक को दे दी, ताकि वह निर्धन न समझा जाय और यशोधरा से विवाह कर सके, तो वह भी अपनी सारी सम्पत्ति दान कर बीजगुप्त के साथ चल पडती है। यद्यपि चित्रलेखा पाटलिपुत्र की कुशल नर्तकी के रूप मे ही चित्रित की गई है, पर यदि उसके चरित्र का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय, तो यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है, कि आर्य ललनाओ के जो आदर्श होते है, वे चित्रलेखा मे पर्याप्त सीमा तक वर्तमान थे। कठिन एवं विषम परिस्थितियो मे भी नारियाँ किस प्रकार धैर्य, साहस एव आत्मविश्वास का परिचय दे सकती हैं। चित्रलेखा इसी के प्रतीक स्वरूप उपस्थित की गई है।

यशपाल के उपन्यास "दिव्या" (१९४५) की नायिका दिव्या भी इसी श्रेणी में आती है। धर्मस्थ महामण्डित देवशर्मा की प्रपौत्री, आयुष्मती कुमारी दिव्य नर्तकी है और मल्लिका की शिष्या है। वह कुमार पृथुसेन से प्रेम करती है और उससे विवाह करने की कामना प्रकट करती है। पृथुसेन एक युद्ध पर जाने के लिए तत्पर रहता है, अत. वहाँ से लौटने पर विवाह करने का आश्वासन देता है। पृथुसेन युद्ध पर जाता है, और इधर दिव्या गर्भवती हो जाती है। पृथुसेन युद्ध से घायल होकर लौटता है। दिव्या जब उसे देखने आती है तो परिचायिका सकेत से न बोलने को कहती है। दिव्या काफी देर तक वहाँ बैठी रहती है, फिर वापस चली आती है। आँखें खुलने पर पृथुसेन को सारा वृतान्त ज्ञात होता है और इसे वह अपने प्रति दिव्या की उपेक्षा समझता है। तदनन्तर वह सीरो नामक युवती से विवाह करने को प्रस्तुत हो जाता है। दिव्या इससे विचलित हो कहती है—"······मैं सीरो के साथ सख्य भाव से सपत्नीत्व स्वीकार करूंगी। सभी कुलीन आर्यो के परिवार मे अनेक पत्नियाँ है। क्या सीरो भी मेरे साथ आर्य की पत्नी नही बन सकती। एक वृक्ष की छाया मे अनेक प्राणी विश्राम पाते हैं[1]।" पर दिव्या का इतना भी भाग्य न था, और जब उसने सुना कि लोग जान गये हैं कि दिव्या गर्भवती है, तो वह नगरी छोड़ कर चली जाती है। पर वह दुष्टों के हाथ में पड़ दासी की भाँति बेच दी जाती है। नदी मे अपने बच्चे के साथ वह कूदकर आत्म हत्या करने का प्रयत्न करती है। पर वहाँ रत्नप्रभा उसे बचा लेती है और अपने यहाँ ले जाती है। वहां दिव्या, अंशमाला के नाम से विख्यात होती है। लोग उसके कुशल नृत्यों पर मोहित हो जाते हैं। रत्नप्रभा के आयोजनों में अनियन्त्रित भीड़ होने लगती है। पर दिव्या के मन और मस्तिष्क पर अपनी असफलता की गम्भीर प्रतिक्रिया होती है और वह निराशा के दमघोट वातावरण से अपने को मुक्त नहीं कर पाती। वह अपने पहले के अस्तित्व को पूर्ण रूप मे मिटा देना चाहती है। मारिश उसे सान्त्वना दे नया जीवन देना चाहता है, पर दिव्या को यह स्वीकार न था। वह अपनी अस्वीकृति के साथ कहती है "······ यह भाग्य है।"

१. यशपाल : दिव्या, (१९४५), लखनऊ, पृष्ठ ६३।

मारिश सचेत हो गया—"आर्य देवी, भाग्य का अर्थ है विवशता है।"

"हाँ आर्य, विवशता"—अंशु ने स्वीकार किया।

"भाग्य का अर्थ है—असामर्थ्य।"—मारिश पुनः बोला।

"हाँ आर्य असामर्थ्य—पुनः अंशु ने स्वीकार किया।"[1]

दिव्या की इस निराशा का कारण क्या है। दिव्या की एक बार की सफलता और उसके पश्चात् एक के बाद एक ठोकरें। पृथुसेन के व्यवहार ने दिव्या की मनःस्थिति पर जबदस्त प्रभाव डाला था और परिणामस्वरूप अपना जीवन सौंपने के लिये वह किसी का भी विश्वास नहीं कर पाती। और मारिश के यह कहने पर कि जीवन के एक प्रयत्न या अंश की विफलता सम्पूर्ण जीवन की विफलता नहीं है, दिव्या निराशा के स्वर में कहती है—' मैं त्रस्त हूँ। प्रश्रय के मूल्य पर जीवन की सार्थकता नहीं चाहती। जीवन की विफलता में भी मुझ वेश्या की आत्म निर्भरता स्वीकार है ।[2] यह बात फिर उठती है कि जब आचार्य रुद्रधीर उसे अपनी पत्नी बनाने के लिए प्रस्तुत होते हैं। क्योंकि वे सोचते हैं—वह विप्र कुल की कन्या है अभिजात सामन्त वंश की वधू लक्ष्मी। उसका नारीत्व सुरक्षित है। किन्तु दिव्या को यह स्वीकार न था। वह इन सब बातों से इतना विरक्त हो गई थी कि उस मोह नहीं रह गया था इस वैभव से। रुद्रधीर के बहुमूल्य हार देने पर वह विनय से आचार्य को वापस कर देती है कि विदेश में यह उनके काम आएगी। वह वेश्या बनी पर तन बचने के लिए नहीं, किसी के सहवास का सुख भोगने के लिये नहीं, द्रव्य, मुद्रा संचित करने के लिये नहीं केवल *जीवित* रहने के लिये। वह पुरानी बातों को भूल जाना चाहती थी और जिन परिस्थितियों में वह रह रही है उसी के अनुरूप अपने को ढालकर शेष जीवन बिता देना चाहती थी। इसीलिये रुद्रधीर के विवाह प्रस्ताव को भी अस्वीकार करते हुए वह कहती है—"आर्य, सागल के धर्मस्थ वंश की कुमारी दिव्या मातृभूमि से अथवा भाग्य से जीवन की सरिता के अजाने प्रवाह में प्रवेश कर गई। जब वह उस प्रवाह में से निकली तो वह वेश्या नर्तकी अंशुमाला थी। वह अपने कौमार्य की पवित्रता भी खो चुकी। एक द्विज स्वामी के लिए अर्पित न होकर वह समाज और जन की सम्पत्ति बन गई।'[3] फिर परिस्थितियाँ बदलती जाती हैं और मल्लिका उत्तराधिकारिणी के रूप में दिव्या को घोषित करती है पर इस प्रस्ताव पर सबको सहज विश्वास आए। एक वेश्या को उस स्थान पर देखना किसी को मान्य न था। दिव्या सभास्थल से उठकर पान्थशाला चली जाती है। वहाँ रुद्रधीर पुनः पहुँचकर अपना प्रस्ताव दुहराते हैं। पर दिव्या ने पुनः उसे अस्वीकार कर दिया। वहाँ मारिश भी आया और बोला —"मारिश देवी को राजप्रसाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता।

१ यशपाल दिव्या, (१६४५), लखनऊ पृष्ठ १५३।

२ यशपाल दिव्या, (१६४५), लखनऊ, पृष्ठ १६५।

३ यशपाल दिव्या (१६४५), लखनऊ, पृष्ठ १७३।

मारिश देवी को निर्वाण के चिरन्तन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता । वह संसार के सुख-दुःख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है । उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है । वह संसार के धूल-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है । वह नश्वर जीवन में सन्तोष की अनुभूति दे सकता है।······सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।"

भूमि पर बैठी दिव्या ने भित्ति का आश्रय छोड़ दोनों बाहु फैला दिये। उसका स्वर आर्द्र हो गया—' आश्रय दो आर्य !"[१]

इस प्रकार अपनी एक असफलता से प्रताड़ित होकर दिव्या ने सारा ऐश्वर्य, सारा वैभव त्याग कर साधारण जीवन व्यतीत करना अधिक उचित समझा। उसने वह कुलवधू पद अस्वीकृत कर दिया, जिसकी लालसा प्रत्येक नारियों को होती है, स्वर्ग की अप्सराएं भी जिसकी कामना करती है, उसी कुलवधू पद की उपेक्षा कर दिव्या ने साधारण दाम्पत्य जीवन को अधिक गौरवपूर्ण समझा, और उसीलिए आचार्य रुद्रधीर के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर उसने मारिश कृत प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया और मारिश के आश्वासन के अनुसार राजप्रसाद में महादेवी के पद के ऊपर संसार के धूल-धूसरित मार्ग का पथिक बनना अधिक उचित समझा। वास्तव में दिव्या की परिकल्पना का स्रोत मार्क्सवादी भावना ही है, जिसने दिव्या को कुलवधू का पद अस्वीकृत कर साधारण जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य कर दिया था। लेखक का उद्देश्य साधारण वर्गहीन जीवन की महत्ता प्रतिपादित करना था, और प्रमुख पात्र उसी के अनुरूप चित्रित किए गये हैं। दिव्या की परिकल्पना की पृष्ठ-भूमि में मार्क्सवादी भावनाएं क्रियाशील थीं। मार्क्सवाद मानता है कि संसार में पूंजीवाद का पूर्ण नाश होना चाहिए, क्योंकि उससे समाज एवं मनुष्य की सुख-शान्ति नष्ट होती है।[२] दिव्या का आचार्य रुद्रधीर का प्रस्ताव अस्वीकृत कर मारिश का प्रस्ताव स्वीकृत करना इसका द्योतक है। यशपाल दिव्या के माध्यम से भारतीय नारियों के सम्मुख यह आदर्श उपस्थित करना चाहते थे कि धन और ऐश्वर्य की कामना करना श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि उसमे जीवन की मुक्ति नहीं है। सत्य अर्थों में तो जीवन की सार्थकता सादगी और मन के सन्तोष में है जो धूल-धूसरित मार्ग पर निरन्तर चलते रहने से ही प्राप्त होता है। उसमें लेखक को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

दिव्या का अपने प्रेम को परिस्थितियों में विवश होकर नष्ट करना कुछ विचित्र और अस्वाभाविक सा प्रतीत हो सकता है। उसने पृथुसेन के प्रेम का निरा-

१. यशपाल : दिव्या, (१९४५), लखनऊ, पृष्ठ २२२ ।

२. यशपाल : दिव्या, (मार्क्सवाद), (१९४५), लखनऊ, पृष्ठ ७२ ।

करण करने का जिस प्रकार से प्रयत्न किया, वह बहुत अधिक तर्कसंगत न था। यहाँ यह स्पष्ट है, कि दिव्या पृथुसेन के झूठे गौरव, मिथ्या भ्रम और अहंकार के समक्ष झुकना न चाहती थी, और न अपने अहं को पराजित होते ही देखना चाहती थी। उसने पृथुसेन के समक्ष परिस्थितियों को जिस प्रकार प्रस्तुत किया यदि उसमें अधिक चिन्ता, और सत्यतम से अपने को स्पष्ट करने की भावना होती, और यदि वह नगर छोड़ कर न चली जाती, तो कदाचित कुछ समयोपरान्त वह पृथुसेन को समझा सकती थी, पर उसने गली गली अपने नाम की चर्चा सुनने और अपयश से बचने का एकमात्र उपाय नगर छोड़ देना ही समझा। यद्यपि इससे भी उसे कुछ मिला नहीं, वह निरन्तर अपना सब कुछ खोती ही गई, अपनी शान्ति, अपना आत्मगौरव, सभी कुछ उसका नष्ट हो गया और अन्त में साधारण दाम्पत्य जीवन को स्वीकार कर लेने के साथ ही जैसे उसे थोड़ी सी शान्ति प्राप्त होती है।

जीवन में नवोन्मेष की भावना

आलोच्य काल में, जैसा कि पिछले अध्यायों में (अध्याय १, ३, ४) स्पष्ट किया जा चुका है। नारी की परिस्थितियों में निरन्तर परिवर्तन हो रहा था। अब वह पति की दासी मात्र नहीं वरन् समाज में पूर्ण समानता की अधिकारी थी। वह सामाजिक और राजनीतिक जीवन में पूरे उत्साह के साथ भाग लेने लगी थी, और उसके जीवन में नवोन्मेष की भावना पूर्ण रूप में समाहित हो गई थी। बस इस दृष्टिकोण से कई नायिकाएं प्राप्त होती हैं पर जीवन से उच्छृंखलता दूर रखने वाली यशपाल के *पार्टी कॉमरेड' (१९४६) की नायिका—गीता अकेली नायिका है जो मध्यवर्गीय* परिवार की लड़की है। एक दिन उसका मन एक बहुत बढ़िया जम्पर पर आ जाता है। माँ से जिद झगड़ कर वह पाँच रुपए ले आती है, पर जम्पर का कपड़ा नहीं खरीद पाती। वहाँ कॉलेज में हड़ताल के कारण भूख मरते मजदूरों की सहायता के लिए लोग चन्दा एकत्रित कर रहे थे। गीता ने पाँच रुपए देकर रसीद ले ली। वह *कॉलेज में एक रिसर्च स्कॉलर थी और अभी तक उसके अध्ययन क्रम का एकमात्र* उद्देश्य था कि वह अच्छे नम्बरों से परीक्षाएं उत्तीर्ण करे। पर धीरे धीरे उसकी रुचि राजनीति की ओर बढ़ने लगती है। इस नई संगति से जानने की इच्छा पैदा हुई कि कहाँ क्या हो रहा है। क्या हो रहा है। और जो कुछ हो रहा है, वस्तुत उसका स्वरूप क्या होना चाहिए। अपनी इस बढ़ती हुई रुचि से धीरे धीरे उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि वह ऐसी अनेक बातें जान गई है, *जिससे उसके दूसरे समव्यस्क* पूर्णतया अनभिज्ञ है और उसका यह ज्ञान अच्छे आभूषणों के पास होने या एक बढ़िया जम्पर बनवा लेने से कहीं श्रेष्ठ है। इससे उसके मन में उच्चता के भाव (Superiority Complex) तो आ ही जाते हैं, उसे उत्साह और अनुपम प्रेरणा भी प्राप्त होती है। उसने देखा, 'कोई एक पदार्थ तैयार करने की मजदूरी मजदूर को बहुत कम मिलती है और बाजार में उस वस्तु का दाम काफी अधिक रहता है। यह अन्तर ही मालिक का मुनाफा और मजदूर का शोषण है। मुनाफा करने के लिये

पूंजीपति व्यवसाय और मजदूरों पर अधिकार जमाता है और फिर व्यवसाय का क्षेत्र बढ़ाने के लिए दूसरे देशों पर अधिकार यानि साम्राज्यवाद...।[1] जानने के सन्तोष से आया मानसिक परिवर्तन उसके व्यवहार में भी प्रकट होने लगा। वह अपनी आयु से अधिक गम्भीरता और अधिकार से बात करने लगी। सकोच और लज्जा का स्थान आत्मविश्वास और बेपरवाही ने ले लिया। वह अपने को सुन्दर लड़की न समझ कर एक व्यक्ति समझने लगी।[1] उन्नीस-बीस वर्ष की अवस्था में गीता का व्यवहार बिल्कुल बदल गया। पहले देश भक्ति की भावना से ओत-प्रोत होकर वह कॉंग्रेस की स्वयंसेविका बन जाती है, पर शीघ्र ही उस पर साम्यवादी विचारधारा प्रभाव जमाने लगती है और कम्युनिस्टों के प्रभाव में आकर वह कम्युनिस्ट बन जाती है, सिनेमा और कॉंग्रेस के जलसों के सामने पार्टी का अखबार बेचने लगती है। भीड़-भड़क्के में उसे कई बार व्यग्य, और बोली-ठोली भी सुनना पड़ता है। मन में क्षोभ भी आया और हँसी भी आई। उपाय था केवल उपेक्षा। सोचा जो लोग अनजान और मूर्ख हैं, वह उनकी टुच्चकारियों से नहीं परास्त हो सकती। जिसने देश को स्वतन्त्र कराने और ससार से पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के काम में सहयोग देना स्वीकार किया हो, वह भला ऐसे लोगों से कैसे परास्त हो सकती है?[2] और वह फब्तियां कसने वाले ऐसे लुच्चों-लफंगों की बातों की उपेक्षा करते हुए अपना कार्य करती रहती है।

पहले वह अखबार बेचती है, फिर पार्टी के लिए चंदा एकत्रित करती है। वहाँ कॉमरेड मेघनाथ उसके संसर्ग में आना चाहता है, पर वह उसे तिरस्कृत कर देती है। वह रिसर्च स्कॉलर थी, इसलिए उसका कॉलेज आना-न-आना विशेष अर्थ नहीं रखता है। वह प्रायः कॉलेज जाती भी नहीं थी। वह एक दिन पदमलाल भावरिया से चदा मांग लाती है, जो शहर का बड़ा पूंजीपति है। इस पर मजदूर कॉमरेड कहता है, "पूंजीवाद में तो पैसे का सम्मान है। यह कितनी मेहतरानियाँ, कितनी मावली स्त्रियां घुटने से ऊपर धोती का काछा कसे, खुले बदन सड़क साफ करती हैं, मन-मन बोझ टोकरी में ढोती हैं। किसी की आँख में नहीं खटकता, किसी को लज्जा नहीं मालूम होती! किसी सेठानी की धोती बालिस्त भर उठ जाय तो बम्बई में आग लग जाय।"[3] गीता सोचती है, अपने देश में स्त्री कितनी परवश है। यहाँ स्त्री के आत्मसम्मान का कोई मूल्य नहीं है। विवशता में आकर यहाँ कोई स्त्री वेश्या बनती है, कोई पतिव्रता। पुरुष के पास बैठकर दिल बहलाना, उसके गले में बाहें डाल उसे प्रसन्न करना ही स्त्री का भाग्य है, यही उसकी सीमा है।[4] गीता में पर्याप्त आधुनिकता है, ठीक 'कॉमरेड' की नायिका शैला की भाँति। वह भावरिया

१. यशपाल : पार्टी कॉमरेड, (१९४६), लखनऊ, पृष्ठ २१-२२।
२. वही, पृष्ठ, २२।
३. वही, पृष्ठ ३०।
४. वही, पृष्ठ, ३३।

के साथ रेस्तरां जाती है, समाज में भी स्वतन्त्रता रूप से आती जाती है, पर वह शैला की भांति उच्छृंखल नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि यशपाल नारी स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं एक स्थान पर उन्होंने कहा है, "जब स्त्री को एक आदमी से बंध जाना है और सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार उसके आधीन रहना है, उस पर निर्भर करना है उस सम्बन्ध को चाहे जो नाम दिया जाय वह है स्त्री की गुलामी ही।"[1] एक अन्य स्थान पर उन्होंने इसी प्रकार नारी प्रेम की विद्रूपता पर व्यंग्य करते हुए कहा है," पुरुष उसी स्त्री को प्यार करना चाहता है, उसी स्त्री के लिए अपना जीवन अर्पण कर देना चाहता है, जो केवल उसी के लिए संसार में जन्मी हो। जो केवल उसे ही पहचाने। यही बात पुरुष की दृष्टि में प्रेम है।"[2] दूसरे शब्दों में पुरुष चाहता है कि नारी पर उसका नियन्त्रण हो, नारी उसकी दासी बनी रहे, उसके समान स्थिति पर न आए। गीता की भी यही स्थिति होती है। उसके साथी पुरुष कामरेड उसका प्रेम चाहते हैं, जिसे वह अस्वीकार करती है, और एक दिन स्वार्थी तत्वों द्वारा समाचार पत्रों में प्रकाशित होता है कि कम्युनिस्ट सखी गीता के लिए गुण्डा के दलों में मारपीट! और उसकी स्वतन्त्रता पर परिवारिक अनुशासन की कठोरता जड़ दी जाती है। भावरिया उसे बचाने का प्रयत्न करता है, पर असफल रहता है। पूंजीवादी मनोवृत्ति का भावरिया धीरे-धीरे जनवादी हो जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय बात है कि शैला की भांति गीता परिवारिक अनुशासन की सीमाओं को विच्छिन्न करने का प्रयत्न नहीं करती है। गीता ऐसी नारी है, जिसमें पर्याप्त आधुनिक चेतना है, नवीनता है, पर इसके बावजूद भी उसमें जीवनगत मर्यादाएं हैं और नारीत्व है। यशपाल की सभी नायिकाओं में एक गीता ही अपवाद स्वरूप ऐसी है जिसका अपना नारीत्व बोझ नहीं प्रतीत होता और जो नारी स्वतन्त्रता की स्वाभाविक रूप से पूर्ण पक्षपाती होने हुए भी मूल्य मर्यादा रहित नारी जीवन को गौरवहीन समझती है उसे दूर ही से प्रणाम करती है। प्राय श्रेष्ठ उपन्यासकार ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना करते हैं जिन्हें हम अपने दैनिक जीवन में नित्य प्रति ही देखते हैं या वे उन लोगों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनसे दैनिक जीवन में हमारा नित्य प्रति का संपर्क रहता है।[3] इस दृष्टि से यशपाल की नायिका गीता

---

१ यशपाल दादा कामरेड, (१९४१), लखनऊ, पृष्ठ ३७।

२ यशपाल मनुष्य के रूप (१९४९), लखनऊ, पृष्ठ ३४।

३ "Our heroines are taken from the rank and file of the race and represent people whom we daily encounter there is no escaping the thoughtful and elevating influence of this Nor need there be any implication of littleness or dullness in these aims this choice of the frequent is most favourable to a true discrimination of qualities in character"

—जी० पी० लैथॉप द नॉवेल एण्ड इट्स फ्यूचर (एटलॉन्टिक मासिक (न्यूयार्क) में प्रकाशित निबन्ध) सितम्बर १८७४।

पहली बार पूर्ण स्वाभाविकता के साथ चित्रित हुई है। उसकी परिकल्पना का स्रोत वे समकालीन परिस्थितियाँ थी, जिनमे नारी नवोन्मेष की भावना से पल्लवित हो रही थी और सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में अपना कर्तव्य एवं दायित्व समझ कर पूरे उत्साह के साथ भाग लेने के लिए आगे आ रही थी। गीता के चरित्र मे ये बाते बडी यथार्थता के साथ चित्रित हुई है। उसके चरित्र चित्रण में यशपाल को जितनी सफलता प्राप्त हुई है, उतनी अपने किसी अन्य नायिका के चरित्र चित्रण मे नही।

मूल्यांकन

इस अध्याय में जिन नायिकाओ का अध्ययन किया गया है, उनमें कुछ नायिकाएं हमे ऐसी प्राप्त होती हैं, जो पश्चिमी आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण कर रही थी, और पश्चिमी देशो की नारियों की भाँति ही स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहती थी। भोग-विलास, आमोद-प्रमोद को ही वह जीवन समझने लगी थी। फैशन और विलास मे वस्तुतः घनिष्ट सम्बन्ध होता है, जिसमे जितना ही अधिक फैशन होता है, विलास की उसमें उतनी ही अधिक प्रवृत्ति भी होती है। भारत मे ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व फैशन नाम-मात्र को ही था, लोगों मे सादगी के प्रति अधिक झुकाव था। जीवन मे प्रदर्शन की भावना, फैशन और निष्क्रियता आदि को अपने साथ भारत में लाने का श्रेय अग्रेजो को ही था। इनकी नारियों की देखादेखी हमारी नारियो मे भी फैशन और विलास की प्रवृत्ति अधिक मात्रा मे बढने लगी। घर की चार दिवारी मे बन्द रहना, चौका-बर्तन धोना, खाना बनाना आदि अब उन्हे अपमानजनक-सा प्रतीत होने लगा था, वे अब स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहती थी। होटलो और क्लबों मे बेधड़क आना जाना चाहती थीं। वे एक प्रकार से रगीन तितलियो की भाँति जीवन व्यतीत करने की कल्पनाएं किया करती थीं। उनके समक्ष परिवार या गृहस्थी जैसी कोई चीज नही थी। लज्जा, नीलू आदि ऐसी ही नायिकाएं है, जो समाज के सम्मुख अस्वस्थ दृष्टिकोण उपस्थित करती है। इसके विपरीत झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का वीर चरित्र है, जो आदर्श एव प्रेरणा का प्रतीक है। सुमन के रूप मे यह बात सिद्ध हो गई है, कि यदि प्रारम्भ से लड़कियो को गृहस्थी सफल संचालन की शिक्षा न दी जाय, तो उसके कैसे दुष्परिणाम हो सकते है। चित्रलेखा नारियो के सम्मुख इस बात का उदाहरण उपस्थित करती है, कि विषम परिस्थितियो मे भी धैर्य एवं साहस से बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है।

अध्याय ८

नारी चित्रण : उपन्यासकारो का दृष्टिकोण

पिछले तीन अध्याया मे नायिकाम्रा के दिए गए वर्गीकरण के आधार पर जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, उससे नायिकाम्रो के स्वरूप, उनकी परिकल्पना के स्रोत और समाज की दृष्टि से उनकी उपयोगिता के सम्ब ध म बहुत कुछ तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। पिछले अध्ययन से हि दी के उप यासकारो का नारी सम्ब धी दृष्टिकोण भी काफी स्पष्ट हो जाता है, क्याकि नायिकाम्रो म उनके नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण का सार अश निहित है। तो भी, नायिकाम्रा के अध्ययन के साथ साथ हिन्दी उप न्यासा के कुछ ऐसे नारी पात्रो का अध्ययन करना भी समीचीन होगा जो नायिकाए तो नही हैं, कि तु जिनके द्वारा हमारे उप यासकारो का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण को अधिक पूरा रूप म समझने मे यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है। अत प्रस्तुत अध्ययन पिछले अध्यायो का पूरक ही समझा जाना चाहिए। इस अध्याय म नायिकाम्रा तथा अन्य प्रधान नारी पात्रों के आधार पर हिन्दी के उपन्यासकारा के नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण पर सम्यक् दृष्टि से विचार कर उस स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

जसा कि पिछले अध्यायो मे पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, उपन्यासकारा ने प्रेम, विवाह, नारी स्वतन्त्रता, विधवा समस्या, वेश्या समस्या एव नारिया पर होने वाले पुरुष वग के अत्याचार एव नारी की आर्थिक समस्या आदि को विशेष रूप से अपने उपन्यासो मे उठाया है, और अपने अपने दृष्टिकोण से उन पर विचार कर उन समस्याम्रा का समाधान खोजने का प्रयत्न किया है। उनके दृष्टिकोण का हम निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित कर उनका अध्ययन सरलतापूवक कर सकते हैं—

१ सुधारवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण
२ आदशवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण
३ रोमाटिक परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण
४ यथार्थवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण
५ आदर्शोन्मुख परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण
६ समाजवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

७ व्यक्तिवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण
८. मनोविश्लेषणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

सुधारवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

नारी-चित्रण सम्बन्धी सुधारवादी दृष्टिकोण हमें विशेष रूप से पूर्व-प्रेमचन्द काल मे विकसित दृष्टिगोचर होता है। तब उपन्यासकारो के विचार से पाश्चात्य विचारधारा भारतीय नारियो को कर्तव्य एव दायित्व से च्युत कर रही थी, और वे उसके मोहपाश मे बधी अपने धर्म एव गरिमा को भूलती जा रही थीं। इन उपन्यासकारो ने ऐसे अनेक नारी पात्रो की परिकल्पना की जो उनके सुधारवादी दृष्टिकोण से ओत-प्रोत थे। वस्तुतः वे "पतितावस्था" की ओर जाती हुई नारियो का सुधार करके उन्हे सत्पथ पर चलने की प्रेरणा देना चाहते थे। ऐसे उपन्यासकारो में किशोरीलाल गोस्वामी का स्थान प्रमुख है।

यद्यपि गोस्वामी जी ने काफी उपन्यास लिखे, और उनमें विषय सम्बन्धी विविधता प्राप्त होती है, पर नारी चित्रण सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण का परिचय अधिकाश रूप मे सामाजिक उपन्यासो मे ही प्राप्त होता है। वे कट्टर सनातन-धर्मी थे, और नारी शिक्षा के विरोधी थे। उन्हे भय था कि शिक्षा से नारियो में स्वतन्त्रता और उच्छृंखलता जैसी बातें आएगी, और उनका चारित्रिक पतन होगा। उनके विचार से नारी की सबसे बडी शिक्षा उसके स्वभाव एवं चरित्र को आदर्श रूप प्रदान करना मात्र है। एक स्थल पर इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हुए वे कहते हैं, "....अपने देश के भाइयों से इस बात के लिए सविनय अनुरोध करता हूँ कि वे सबसे पहले कन्याओ के सुधार करने का प्रयत्न करें, क्योंकि यदि सुकन्या समय पाकर सुगृहिणी होगी तो वही एक दिन सुमाता होगी, और उसका पुत्र सुपुत्र अवश्य ही होगा।"[1] उनके इस विचार के अनुरूप ही "त्रिवेणी" (१८८८) की नायिका त्रिवेणी को कोई शिक्षा नही प्रदान की जाती है, जिसके परिणामस्वरूप वह गहन कूपमंडूकता के आवरण मे लिपटी रहती है, और यदि स्थान-स्थान पर स्वयं उपन्यासकार बीच मे उपस्थित होकर उसे संकट से न उबारता तो कदाचित् वह जीवित भी न रह पाती। "माधवी-माधव वा मदन मोहिनी" (१६१६) में प्रधान नारी पात्र माधवी के पिता सनातन धर्म के अनुयायी होने के कारण मिडिल उत्तीर्ण कर लेने के पश्चात् उसका नाम स्कूल से कटवा देते हैं, क्योंकि वह ११ वर्ष की हो चुकी थी, और अब उसका पढ़ना-लिखना धर्म एवं आचरण की दृष्टि से उचित न था। माधवी माधव प्रसाद नामक युवक को खाना खिलाते समय आकर्षित होती है, और उनसे प्रेम करने लगती है। माता-पिता यह जानकर विवाह की अनुमति दे देते हैं, और आदर्श रूप से यह प्रेम विवाह मे परिणत हो जाता है।

१. किशोरी लाल गोस्वामीः माधवी माधव वा मदन मोहिनी, (१६१६), वृन्दावन, पृष्ठ २२० ।

इसमें गोस्वामी जी ने स्पष्ट रूप से घोषणा की है कि, 'मेरी तो यह राय है कि लड़कियां कभी भी घर के बाहर अर्थात पाठशाला में पढ़ने के लिए न भेजी जाय और उन्हें घर पर ही हिन्दी और संस्कृत तथा गृहकार्य की विधिवत् शिक्षा दी जाए। यद्यपि मेरी इस राय पर स्त्री शिक्षा के घोर पक्षपाती अवश्य रुष्ट होंगे, परन्तु जो ममज्ञ पाठक स्त्री शिक्षा की अयोग्यता का प्रत्यक्ष कुफल देख रहे हैं, व मेरी राय पर कभी खड्ग न उठावेंगे। जो लोग यह देख रहे हैं कि अयोग्य स्त्री शिक्षा ही के कारण एक बंगालिन एक पंजाबी की पत्नी बनती है, एक "राजरानी" एक शुद्ध किए हुए 'हिन्दू परग्रज' की भार्या बनती है एक गोरी नारी एक हिन्दू नरेश की पटरानी बनती है, और एक ब्राह्मणी एक शूद्र की जोरू बनती है, तो यह कहना पड़ेगा कि स्त्रियों को उच्च शिक्षा किंवा अयोग्य शिक्षा कभी न देनी चाहिये और उन्हें पाठशाला या स्कूल कभी न भेजना चाहिए। धर्मी वशानिका का यह मत है कि यदि स्त्री को पुरुषों के समान बहुत पढ़ाया लिखाया जावेगा तो वे "स्त्री धर्म से च्युत हो जायगी, फिर या तो उन्हें सन्तान न होगी, और यदि होगी भी तो वह जीएगी कदापि नहीं।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि लेखक का दृष्टिकोण कितना संकुचित एवं रूढ़ था। वह सुधारवादी भले ही हो, वह भी लेखक के अपने मतानुसार, पर निश्चय ही विचारधारा प्रगतिशीलता पर जबरदस्त आघात करने वाली थी, और उनका मार्ग कुंठित करती थी। उन्हें पश्चिमी सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव एवं नारी की आधुनिकता से चिढ़ थी और वे किसी भी रूप में नहीं चाहते थे कि नारियाँ नए युग में पदार्पण कर आधुनिकता को आत्मसात कर लें और अपनी प्राचीन रूढ़िवादी परम्पराओं को भूल जाए।

गोस्वामी जी ने धर्म के आधार पर एक विचित्र से दृष्टिकोण का परिचय दिया है, जिसे पढ़ कर आश्चर्य होता है। वह है, उनका पुरुष के बहु विवाह का जोरदार समर्थन करना। ऐसा प्रतीत होता है कि वे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् बढ़ती हुई प्रगतिशीलता और परिवर्तनोन्मुख समाज की नब्ज़ पहचानने में या तो सर्वथा असमर्थ थे, या पहचानते हुए भी धर्म की रूढ़ियों में इस कदर जकड़े हुए थे कि उससे छूट पाना उनके लिए सहज सम्भव न था। उनके अनुसार यदि एक विवाहित पुरुष किसी अविवाहित स्त्री से प्रेम करने लगे, और यदि वह स्त्री पवित्र हो, तो दोनों को तुरन्त विवाह कर लेना चाहिए। कदाचित् इसलिए उन्होंने "पुनर्जन्म वा सौतियाडाह" की प्रमुख नारी पात्र सुशीला की परिकल्पना की है। सुशीला एक स्थान पर कहती है, ' धर्मशास्त्र में स्त्री के लिए केवल एक ही विवाह के लिए व्यवस्था है, पर पुरुष असंख्य विवाह कर सकते हैं। अतएव जब मैंने यह बात जानी कि तुम दोनों (उसका पति और उसकी अन्य प्रेमिका)

१ किशोरीलाल गोस्वामी माधवी माधव वा मदन मोहिनी, (१६१६), वृन्दावन पृष्ठ ७५-७६।

निष्कलंक हो, तब मुझे क्या उज्र हो सकता था कि मैं तुम्हारे सुख में व्यर्थ कांटे बोती। सुनो तो प्यारे, क्या वहिन-वहिन और सहेली-सहेली एक साथ नहीं रहती। और क्या, आज तक दो सौतिनें कभी आपस में मिल-जुल नही रही हैं।''[१] इस उपन्यास में सुशीला सज्जनसिंह की पत्नी है, फिर भी अपने पति और सुन्दरी को प्रेम करते देख और सारी शंकाओं का निवारण होने पर वह स्वयं ही दोनों का विवाह करा देती है। इस पर उसे इतना आत्मसंतोष होता है कि विवश होकर (!) लेखक को कहना पड़ता है कि, "वह सुशीला मर गई, यह दूसरी सुशीला है।''[२] गोस्वामी जी के एक अन्य उपन्यास "कनक कुसुम वा मस्तानी" में भी ऐसा ही हुआ है। जिसमें नायक बाजीराव की पत्नी काशीबाई अपने पति का विवाह मस्तानी से करने की सहर्ष अनुमति प्रदान करते हुए कहती है, "लीजिए अब व्यर्थ के सोच विचारों को छोड़िए और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इस गुणवती, देवी समान, सुशीला यवन कुलबाला को ग्रहण कीजिए।[३]''

वास्तव में वे नारी को आदर्श की थाती समझते थे, और उसे मर्यादा एवं परम्पराओं की सीमा में आबद्ध रहते देखना चाहते थे। वैसे तो अच्छाई-बुराई कहाँ नहीं होती? पर यह सोचना कि "दुनिया की सभी औरतें खराब होती हैं, महज गलत और वाहियात है।''[४] वे चाहते थे कि नारियां आदर्श प्रेम में विश्वास करें, और अपने सतीत्व की रक्षा करें। "लवंगलता वा आदर्शबाला" (१८८४) में नायक मदनमोहन की वहकी-वहकी बातों पर अत्यन्त दुःखी होकर लवंगलता कहती है "···किन्तु उस प्रेम को मैं दूर से ही प्रणाम करती हूँ जिसमें गुरुजनों के बड़प्पन और आदर का भाव न हो।[५] लवंगलता के चरित्र का विकास इसी पृष्ठभूमि पर होता है, और अपनी पवित्रता, गौरव एवं मर्यादा की रक्षा के लिये वह जीवन पर्यन्त जूझती रहती है। गोस्वामी जी गृहस्थ के सुख को सामाजिक सुख का मूलभूत आधार स्वीकार करते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि नायक-नायिका का मिलन भी हो, और इसीलिये उनके अधिकांश उपन्यासों में नायक-नायिका का मिलन दिखाया गया है, जिससे वे विवाहित जीवन में पारिवारिक सुख का उपभोग कर सकें। स्त्री-पुरुष का असंयत जीवन सबसे भीषण सामाजिक अभिशाप है। यदि नारियों का विवाह न हो, तो वे अपनी वासना की शान्ति के लिये पथभ्रष्ट हो जाती है, और कुलटा हो जाती हैं।

१. किशोरीलाल गोस्वामी : पुनर्जन्म वा सौतियाडाह, (१९०७), काशी, पृष्ठ ३१।
२. किशोरीलाल गोस्वामी : पुनर्जन्म वा सौतियाडाह, (१९०७), काशी, पृष्ठ ७५।
३. किशोरीलाला गोस्वामी : कनक-कुसुम वा मस्तानी (वृन्दावन), पृष्ठ ५१।
४. किशोरीलाल गोस्वामी : लखनऊ की कब्र वा शाहीमहलसरा, (१९१७), वृन्दावन, पृष्ठ ८७।
५. किशोरीलाल गोस्वामी : लवंगलता वा आदर्शबाला, (१८८४), वृन्दावन पृष्ठ ४१।

कुलटा स्त्री समाज के ऊपर भीषण कलंक होती है, और किसी भी प्रगतिशील समाज के लिए अपमान एवं लज्जा का विषय होती है। "देश और समाज को रसातल भेजने के हेतु ऐसी ऐसी कुलटा स्त्रियाँ ही हैं न कि हरिहर ('माधवी माधव वा मदनमोहिनी" का एक पात्र) सरीखे दुराचारी पुरुष, क्योंकि यदि स्त्री भली हो तो उसे कोई नारकी पुरुष नहीं बिगाड़ सकता।'[1] अपनी पवित्रता एवं सतीत्व की रक्षा के लिए स्त्री को दृढ़ होना चाहिए, क्योंकि ऐसी अवस्था में दुराचारी से दुराचारी पुरुष भी उसके चरित्र पर कलंक का काला धब्बा नहीं लगा सकता। अगर वे पथ भ्रष्ट होती हैं, तो 'माता पिता या अभिभावकों को ही स्त्रियों के बिगाड़ने का मूल कारण समझ कर उन्हीं को इस दोष का दोषी और इस अपराध का अपराधी समझना चाहिए।"[2]

स्पष्ट है, कि गोस्वामी जी का दृष्टिकोण पूर्णतया सुधारवादी था। वे समाज को पतनावस्था से बचाना चाहते थे। इसके लिये उनके विचार से, "अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है और अभी भी अपने समाज की रक्षा हो सकती है, यदि अंग्रेजी बाज जरा बाज आवें, और अपने समाज को उसी पुरानी रीति से संस्कृत करें, जो वैदिक और वर्तमान काल के उपयुक्त हो।"[3] पर उनके इस प्रकार के रूढ़ विचारों को उस युग में समर्थन नहीं प्राप्त हुआ, और उनके समकालीन एक भी उपन्यासकार ने इस विचारधारा को आत्मसात किया। इसके कारण स्पष्ट थे। वह युग साहित्य की ही दृष्टि से नहीं, वरन् सभी दृष्टियों से नवयुग था, और प्रत्येक दिशा में परिवर्तन हो रहे थे। आधुनिकता का उदय हो रहा था और भारतवासियों में नवीन चेतना प्रसारित हो रही थी। ऐसी स्थिति में गोस्वामी जी का दृष्टिकोण सर्वसम्मत न हो सका, और वह उस योग्य था भी नहीं। जहाँ तक उनके आदर्शों का प्रश्न है वह अवश्य ही प्रशंसनीय है। उनकी नायिकाएं एवं अधिकांश प्रधान नारी पात्र सौन्दर्यशीलता ही नहीं गुणवती भी हैं। उनमें भारतीय परम्पराएं कूट कूटकर भरी हुई हैं, और वे अपने सतीत्व एवं मर्यादा की रक्षा करने के लिए कुछ भी करने को तत्पर रहती हैं। उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से जिन नारी पात्रों की परिकल्पना की है, उनका सदैव बुरा अन्त ही दिखाया है। किसी को कुष्ठ रोग हो जाता है, तो किसी की आँखें फूट जाती हैं, या कोई मृत्यु को आत्मसात कर लेती है। ऐसी प्रभाव की तीव्रता एवं सुधारवादी प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए ही किया गया है। "लीलावती या आदर्श

१ किशोरीलाल गोस्वामी माधवी माधव वा मदनमोहिनी, (१६१६), वृन्दावन, पृष्ठ २०१।

२ किशोरीलाल गोस्वामी माधवी-माधव वा मदनमोहिनी, (१६१६), वृन्दावन, पृष्ठ २१६।

३ किशोरीलाल गोस्वामी लीलावती या आदर्श सती, (१६०४), काशी, पृष्ठ १२३।

सती" की कलावती, "माधवी-माधव वा मदनमोहिनी" की भलिया, "कनक कुसुम वा मस्तानी" में मस्तानी की माँ आदि ऐसे ही नारी पात्रों के रूप में चित्रित की गई हैं। मेहता, लज्जाराम शर्मा भी पूर्णतया सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाकर अपने नारी पात्रों की परिकल्पना करने वाले उपन्यासकार थे। इस युग की सुधारवादी प्रवृत्तियों में, जिनमें अभी भी पर्याप्त रूप से कट्टरता थी, शर्मा जी का पूर्ण विश्वास था। वे पर्दा प्रथा के पूर्ण समर्थक थे, और इस प्रथा का समाप्त होना श्रेयस्कर नहीं समझते थे, क्योंकि इससे नारियों में उच्छृंखलता आने का भय है और उनके भ्रष्ट होने की भी सम्भावनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। "आदर्श हिन्दू" (१९१४) की प्रधान नारी पात्र प्रियंवदा से उन्होंने कहलवाया है।" उनका सुख उन्हें ही मुबारिक रहे। हम पर्दे में रहने वालियों को ऐसा सुख नहीं चाहिए। हम अपने घर के धन्धे में ही मग्न हैं।"[1] प्रियंवदा का चरित्र इसी की पुष्टि करता है। अपने दूसरे उपन्यास "सुशीला विधवा" में इस दृष्टिकोण को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, "मेरी समझ में पर्दा-प्रणाली अच्छी है। जो लोग पर्दा-प्रणाली की निन्दा करते हैं, वे भूलते हैं, झक मारते हैं। पर्दे का प्रयोजन यह नहीं है कि स्त्रियों को सात ताले में बन्द रखना चाहिए, इसका मतलब यही है कि उन्हें ऐसे कुकर्म करने का अवसर न देना चाहिये।"[2] शर्मा जी का यह दृष्टिकोण पूर्णतया रूढ़ एवं एकांगी है, तथा नारी पर उनके अविश्वास का द्योतक है। ऐसा प्रतीत होता है कि आने वाली प्रगतिशीलता के आत्मसात करने में सफल नहीं हो पाए थे। यहाँ तक कि वे नारी को पति की दासी मात्र समझते थे, और उसी प्रकार की शिक्षा का समर्थन करते थे। वे नारी के स्वतंत्र अस्तित्व के घोर विरोधी एवं पुरुष की सत्ता के पूर्ण समर्थक थे। उनके अनुसार "उसको ("आदर्श हिन्दू" की प्रधान नारी-पात्र प्रियंवदा") सिखलाया गया था कि वह पति की दासी बनकर रहे, पति को ही अपना जीवन सर्वस्व समझे। पति चाहे काना हो, कुरूप हो, कलंकी हो, कोढ़ी हो, कुकर्मी हो, क्रोधी हो, स्त्री के लिये पति के सिवाय दूसरी गति नहीं। संसार में परमेश्वर के समान कोई नहीं, किन्तु स्त्री का पति ही परमेश्वर है। जिन स्त्रियों का यही अटल सिद्धान्त है, वे व्याभिचारिणी नहीं हो सकती, और व्यभिचार से बढ़कर कोई पाप नहीं।"[3] वास्तव में शर्मा जी की यह धारणा हिन्दू आदर्शों में उनकी गहन आस्था का परिणाममात्र थी।[4] हिन्दू

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू, (१९१४), प्रयाग, पृष्ठ ६-७।
२. मेहता लज्जाराम शर्मा : सुशीला विधवा, (१९०७), प्रयाग, पृष्ठ ११६।
३. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू, (१९१४), प्रयाग, पृष्ठ ३३।
४. Hindu culture has erred on the side of excessive subordination of the wife of the husband, and has insisted on the complete merging of the wife in the husband. This has resulted in the husband sometimes usurping and exercising authority that reduces him to the level of the brute."
—महात्मा गांधी : वीमन एण्ड सोशल इनजस्टिस, (१९५४), अहमदाबाद, पृष्ठ १२४।

धर्म के अनुसार पत्नी का अपने में कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। उसके लिये पति ही सर्वस्व होता है, और अपने अस्तित्व को उसी में लय कर देना चाहिए। उनके "आदर्श हिन्दू" उपन्यास की प्रधान नारी पात्र प्रियंवदा ठीक इसी विचारधारा के अनुरूप कल्पित की गई है।

सनातन धर्म में विश्वास रखने के कारण शर्मा जी नव जागृति के समर्थक नहीं थे। वे नारी शिक्षा के भी विरोधी थे, क्योंकि गोस्वामी जी की भाँति इन्हें भी नारी के उच्छृंखल एवं स्वतन्त्र हो जाने का भय था। वे नारियों की स्वतन्त्रता नहीं चाहते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में नारियों के लिए स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व जैसी बातें करना प्रत्येक दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त है। 'सुशीला विधवा' उपन्यास में अपने इन्हीं विचारों की पुष्टि के लिए उन्होंने सुशीला की परिकल्पना की है।" वह कभी किसी पुरुष के समक्ष बातचीत नहीं करती थी, और उसका यह पक्का सिद्धान्त था कि स्त्रियों का स्वतन्त्र हो जाना ही हिन्दू समाज के लिए विष है। वह सदा सबको यही उपदेश दिया करती थी कि स्त्रियों को बालकपन में माता पिता के वश में रहना चाहिए। विवाह होने पर पति की दासी होकर उसकी आज्ञा बिना कोई काम नहीं करना चाहिए और दुर्भाग्य से पति न रहे तो पुत्र व भाई को बड़ा मान कर उसके कथन के अनुसार चलना चाहिए।"[1] उन्होंने इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपने एक अन्य उपन्यास "स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' में भी व्यक्त किया है, जिसमें रमा और लक्ष्मी नामक दो बहनों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा नारियों की "स्वतन्त्रता" उसकी "परतन्त्रता" से समस्त नगण्य बताई गई है। 'बिगड़े का सुधार" (१९०७) में भी इन्हीं भावनाओं की पुष्टि हुई है, जिसमें सुखदेवी और एक मेम के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सनातन हिन्दू समाज की नारी का गौरव प्रतिपादित किया गया है। उनके अनुसार नारी अपनी सेवा सतीत्व के बल पर कुछ भी प्राप्त कर सकती है, यहाँ तक कि दुराचारी पति भी सदाचारी बन सकता है। नारी को परम्परागत होना चाहिए, सहिष्णु, दयाशीला एवं धैर्यवान् होना चाहिए। "बिगड़े का सुधार" की प्रधान नारी पात्र सुखदेवी की परिकल्पना उन्होंने इसी दृष्टिकोण से की है। वह अशिक्षित थी, किन्तु उसमें आर्यनारी के सभी गुण विद्यमान थे।

विधवा नारियों को किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए, इस सम्बन्ध में अपना मतव्य प्रकट करते हुए एक स्थान पर शर्मा जी कहा है, "पति के मरने पर सबसे बड़ा धर्म यही तो है कि उसकी चिता में भस्म होकर पति का साथ दे, परन्तु आजकल ऐसा जमाना नहीं रहा, इसीलिए जब तक जिये, सदा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली, कभी पराए पुरुष का स्वप्न में भी ध्यान न करने वाली विधवा मरने पर स्वर्ग में पति को पाती है, और फिर कभी दम्पति का साथ नहीं

---

१ मेहता लज्जाराम शर्मा आदर्श हिन्दू, (१९१४), प्रयाग, पृष्ठ ३१।

छूटता है।''[1] वे विधवा विवाह के जरा भी पक्षपाती नहीं थे, क्योंकि, ''जो हिन्दू समाज मे विधवा विवाह अथवा तलाक का प्रचार करना चाहते है, वे दम्पति के प्रेम पर, जन्म-जन्मान्तर के साथ पर, पवित्र सतीत्व पर और यों हिन्दू धर्म पर वज्र मारना चाहते है।''[2] उन्हें वेश्यावृत्ति से घृणा तो है, पर वे उसकी नितान्त आवश्यकता भी मानते है। उनके अनुसार ''बेशक रंडियाँ समाज में एक बला है—परन्तु इससे आप यह न समझ लीजिए कि ये समाज से निकाल देने लायक है, फिजूल है, और उन्हे बन्द कर देना चाहिए। नही, इनकी भी समाज के लिए दो कारणों से आवश्यकता है। एक यह है कि जब गाने-बजाने और नाचने का पेशा करने वाली हमारी सोसाइटी मे न रहेगी तब कुल वधुएं इस काम को ग्रहण करेंगी। और दूसरे, ''जैसे बड़े नगरों में सड़क के निकट जगह-जगह पनाले बने हुए हैं, यदि न बनाए जाए, तो चित्तवृत्ति को, शरीर के विकास को न रोक सकने पर लोग बाजार और गलियों को खराब कर डालें, उसी तरह यदि वेश्याएं हमारे समाज से उठा दी जाएं तो घर की बहू-बेटियाँ बिगड़ेंगी।''[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि कट्टर सनातन धर्मी होने के कारण ठीक गोस्वामी जी की ही भाँति शर्मा जी का दृष्टिकोण भी अत्यन्त रूढ़ एवं पुरातनवादी था। वे परिवर्तनशीलता एवं आधुनिकता के पूर्ण विरोधी थे। नवोन्मेष की दिशा उन्हे अन्धकारपूर्ण प्रतीत होती थी, और प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं धर्म को पुनः ज्यों का त्यों बिना युगीन परिस्थितियों को ध्यान मे रखे प्रतिष्ठित कर देना चाहते थे। यह पूर्णतया हास्यास्पद था। वास्तव मे युगीन परिस्थितियों को स्वीकार कर आगे बढ़ना उपन्यासकार का प्रमुख दायित्व होता है। वह उनकी पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकता। शर्मा जी का सुधारवादी दृष्टिकोण कुछ हद तक तो स्वीकार किया जा सकता है, पर उनकी रूढ़िता एवं कट्टर वादिता किसी भी रूप मे स्वीकार नहीं की जा सकती। उन्होंने नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं पर अपने जिस दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है, और वे नारी जीवन का विकास जिस रूप मे चाहते थे, वह और कुछ नहीं नारी की पूर्ण हत्या ही कर देना था। मानवीय स्वतन्त्रता का अपहरण सबसे बड़ा सामाजिक अभिशाप होता है, चाहे वह नारी की स्वतन्त्रता हो, या पुरुष की।

अयोध्यासिंह उपाध्याय ''हरिऔध'' ने यद्यपि उपन्यासकला की दृष्टि से या समाज की समस्याओं को चित्रित करने की दृष्टि से कोई उपन्यास नहीं रचा, पर उनके प्राप्त दोनों ही उपन्यास हमारे विषय से सम्बद्ध है। उनमे परम्परागत नारी का आदर्श रूप चित्रित कर सुधारवादी दृष्टिकोण का प्रस्फुटन हुआ है। नारी सम्बन्धी उनका जो दृष्टिकोण ''प्रियप्रवास'' में प्राप्त होता है, वही उनके दोनों

---

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : सुशीला विधवा, (१९०७), प्रयाग, पृष्ठ १५२।
२. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू, (१९१४), प्रयाग, पृष्ठ ६५।
३. वही, पृष्ठ २१८-२१९।

उपन्यासों से भी प्रतिफलित हुआ है। व नारी को बहुत ऊंचे स्तर पर देखते थे, और आदर्श एवं उच्च मर्यादाओं से उसे परिपूर्ण देखना चाहते थे। उसकी उच्छृंखलता अथवा अपने परम्परागत कर्तव्यों एवं दायित्व की अवहेलना वे अनुचित समझते थे। 'अधखिला फूल" की प्रधान नारी पात्र देवहूती की करुणा, परोपकारिता, उदारता एवं दानशीलता ही 'प्रियप्रवास" की राधा में साकारता प्राप्त कर सकी है। देवहूती आदर्श नारी के रूप में चित्रित की गई है। उसमें भारतीय नारीत्व की परम्पराएं साकार हो उठी हैं। देवस्वरूप के यह कहने पर भी कि वह उससे बात क्यों नहीं करती, देवहूती बड़ी सरलता से कहती है, 'मुझ को चेत है, आपने उस दिन कहा था जो लोग धर्म की रक्षा के लिए कभी कभी इस धरती पर दिखाई देते हैं, मैं वही हूं। जो सचमुच आप वही हैं, तो आपसे बातचीत करने में मुझे कोई आनाकानी नहीं है। पर बात इतनी है, इस भांति आपसे बातचीत करते मुझको इस सुनसान घर में जो कोई देख लेगा, तो जाने क्या समझेगा। जो कोई न देखे तो धर्म के विचार से भी किसी सूनसान घर में किसी पराई स्त्री का पराये पुरुष के साथ रहना और बातचीत करना अच्छा नहीं।'[1] यह वास्तव में विवाह पूर्व किसी भी प्रकार के सम्बन्ध के विरुद्ध है। यह एक सती साध्वी भारतीय नारी के रूप में चित्रित की गई है। उसमें आत्मसंताप के भाव कूट-कूट कर भरे हुए हैं। उसके माध्यम से लेखक ने भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्पराओं एवं मर्यादाओं का सफल चित्रांकन किया है। वह घोर कष्ट सहन कर भी भारतीय संस्कृति और मर्यादाओं की सीमाएं खंडित नहीं करती, कुमार्ग पर नहीं चलती। दुष्ट कामिनीमोहन और बासमती के बहकावे में नहीं आती। वह नारी के कठिन धर्म परायणता में गहन आस्था रखती है। लेखक का कथन है कि नारी धर्म ही ऐसा साधन है। जो उसकी समस्त दुर्बलताओं पर विजय दिलाकर उसे देवी के पद पर आसीन कर सकता है। अतः नारियों को सीता और सावित्री का आदर्श मान कर पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहिए, क्योंकि 'जो अपने पति की बात नहीं मानती, उसका भला कभी नहीं होता। पति न कहा था जिस घर ओभा का पांव पड़ा, वही घर चौपट हुआ।'[2] हरिऔध जी ने नारी के इन्हीं आदर्शों को चित्रित करने के लिए ही अपने अन्य उपन्यास "ठेठ हिन्दी का ठाठ" में देवबाला की भी परिकल्पना की थी।

वास्तव में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हरिऔध जी नारी को उच्चादर्शों से ओत प्रोत देखना चाहते थे। पर उसका दृष्टिकोण रूढ़ था, और साथ ही परम्परागत भी था। वे नारी की स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व के प्रति उदासीन थे। उनकी दृष्टि

१ अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" अधखिला फूल, (१६०७), बनारस, पृष्ठ १७७।
२ अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" अधखिला फूल, (१६०७), बनारस पृष्ठ ८५।

में नारी के विवाहित जीवन में केवल पति का ही महत्व होता है, किसी और का नहीं, यहाँ तक कि स्वयं पत्नी का भी नहीं। जो स्त्री अपने पति के चरणों की सेवकाई करती है, पति को ही देवता मानती है, उन्हीं की पूजा करती है, उन्हीं में मन लगाती है, सपने में भी उनके साथ बुरा वर्ताव नहीं करती, भूल कर भी उनको कड़ी बात नहीं कहती, कभी उनके साथ छल कपट नहीं करती, वह भी मरने पर—अपने पति के साथ रहकर स्वर्ग सुख लूटती है।[1] पर इतनी कट्टरता एवं रूढ़िवादिता के होते हुए भी हरिऔध जी नारी शिक्षा के समर्थक थे। वे शिक्षा के अभाव को नारी के लिए अन्धकार कहा करते थे। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया, "वह लड़का भला न क्यों होगा—माँ जिसकी पढ़ी लिखी होगी।[2] पर समूचे रूप में हरिऔध जी का दृष्टिकोण प्रगतिशील न था। वे पुरातनवादी थे, और प्राचीन भारतीय परम्पराओं को बिना युगीन परिस्थितियों का ध्यान रखे ज्यों का त्यों युग-युगों तक चलाए रखना चाहते थे। वास्तव में यह अधिक बौद्धिक दृष्टिकोण नहीं, वरन् भावुकता से ओत-प्रोत सुधारवादी दृष्टिकोण था। पर ऐसा कदाचित् उन्होंने इसीलिए अपनाया था, क्योंकि उनकी दृष्टि से समाज का उस समय तेजी से पतन हो रहा था, और पश्चिमी सभ्यता, फैशन एवं विलासिता भारतीय नारियों की मन: स्थिति पर छाती जा रही थी।

आदर्शवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

आदर्शवादी लेखक एक आदर्श की स्थापना चाहता है। वह समाज की कुरीतियों, विषमताओं एवं घृणास्पद तथ्यों में भी आदर्श खोजने का प्रयत्न करता है। उसे जीवन का कठोर यथार्थ रुचिकर नहीं होता, उसे अतीत के प्रति श्रद्धा होती है। वह प्राचीन व्यवस्थाओं पर अटूट विश्वास रखकर आगे बढ़ता है। यह उन परम्पराओं का दृढ़ता से पालन करना चाहता है। आदर्शवाद की प्रमुख विशेषता वेदना से निवृत्ति है। आदर्शवादी लेखक की व्यथा, पीड़ा अथवा दुखान्त सहन नहीं हो पाता आदर्शवाद का लक्ष्य सर्वगत आन्तरिक पूर्णता है। उसमें चुनाव का भाव भी रहता है और पूर्णता का भी। आदर्शवादी दैवी शक्तियों के प्रति पूर्ण रूप से आस्थावान् होता है, और लघुता के प्रति विरक्ति प्रकट करता है। वह न्याय पक्ष की विजय में सदैव विश्वास रखता है, और अन्याय एवं शोषण के विरुद्ध रहता है। आदर्शवादी लेखक अपने उपन्यासों में ऐसी ही धारणाओं में विश्वास रखने वाले आदर्शवादी पात्रों की परिकल्पना कर एक आदर्श स्थापित करने का प्रयत्न करता है। नारी पात्रों

---

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" : अधखिला फूल, (१६०७), बनारस, पृष्ठ ५३।

२. अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" : अधखिला फूल, (१६०७), बनारस, पृष्ठ २४०।

की परिकल्पना के सम्बन्ध में भी आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचय हमें हिंदी उपन्यासों में प्रारम्भिक काल से ही प्राप्त होता है।

पूर्व प्रेमचन्द काल में आदर्शवादी दृष्टिकोण रखने वाले उपन्यासकारों में पं० टीकाराम सदाशिव तिवारी का स्थान अत्यन्त प्रमुख है। उनके दोनों उपन्यासों (पुष्पकुमारी एवं नीलमणि) में आदर्श नारी के चित्र प्राप्त होते हैं। ये पहले ऐसे लेखक थे, जिन्होंने इस युग में नारियों की दुर्दशा का कारण उनका आर्थिक रूप से परतन्त्र होना बताया है पर इस गम्भीर विषय पर वे मात्र अपना विचार प्रकट कर ही गए हैं। इस समस्या का उन्होंने कोई समाधान नहीं सुझाया है। वे कहते हैं, "इधर बाल विवाह की प्रथा दिन-व दिन उन्नति, धार्मिक शिक्षा का अभाव, उनके मनकष्ट के निवारण को कोई देशी व्यवसाय की देन में न्यूनता आदि आदि अनेकानेक कारणों से अपने देश की स्त्रियाँ अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त हैं और इतना सब सहन करते हुए भी साम्प्रतकाल में जो नारी तुम (पुष्पकुमारी) समान अपना जीवन हिन्दू धर्म एवं समाज की रक्षा करते हुए व्यतीत कर रही हैं, वे धन्य धन्य हैं।"[1] स्पष्ट है कि वे हिन्दू धर्म का पालन नारी जीवन का एक अत्यन्तावश्यक अंग समझते थे। कदाचित् इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने एक अन्य उपन्यास "नीलमणि" लिखा था, जिसमें रानी नीलमणि का आत्मगौरव, अपने आदर्शों एवं सतीत्व के बल पर अपने पति को सत्पथ पर लाने का प्रयत्न आदि से नारियों को एक नवीन शिक्षा आदर्शवादी ढंग से देने का प्रयत्न किया गया है। लेखक नारी को वह शिक्षा चाहता है, जो उसे उच्छृंखल न बना कर "सदगृहिणी बनाए। उसे कुमार्ग पर चलने की प्रेरणा न देकर आदर्श सिखाए, और जो उसे अपनी सभ्यता एवं संस्कृति तथा मर्यादा की रक्षा की प्रेरणा दे। "पुष्पकुमारी" की नायिका पुष्पकुमारी में लेखक का यही दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है।

एक अन्य आदर्शवादी लेखक देवी प्रसाद शर्मा ने एक अत्यन्त रोचक उपन्यास "सुन्दर सरोजिनी" १८६३ ई० में लिखा, जिसकी उस समय के साहित्यिकों में पर्याप्त प्रशंसा हुई। इसमें रानी धर्म की जय, सरोजिनी का पातिव्रत धर्म, उसके माता पिता का वात्सल्य प्रेम आदि चित्रित किया गया है। उपन्यास की नायिका सरोजिनी का चरित्र इस प्रकार विकसित हुआ है, जिससे लेखक के आदर्शवादी नारी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। लेखक एक आदर्श की स्थापना करते हुए कहता है कि नारियों के जीवन में पातिव्रत धर्म और सतीत्व से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है। यहाँ तक कि यदि स्वप्न में भी कोई नारी किसी पुरुष का वरण कर ले तो उसे उसी से विवाह करना चाहिए, क्योंकि यही उसका वास्तविक धर्म है फिर उसे किसी दूसरे पुरुष का जीवन पर्यन्त ध्यान न रखना चाहिए, इससे उसकी पवित्रता

---

१ टीकाराम सदाशिव तिवारी पुष्पकुमारी, (१६१७), कलकत्ता पृष्ठ ११०।

नष्ट होती है, उसका सतीत्व भंग होता है। यद्यपि लेखक का यह दृष्टिकोण नितान्त रूप से हास्यप्रद है, पर उसने अपनी नायिका सरोजिनी मे यही चित्रित किया है। शर्मा जी कट्टर सनातनधर्मी थे, और जाति के बन्धनो को तोड़ना श्रेयस्कर नही समझते थे। उनके विचार से विवाह अपने कुल में ही होना चाहिए। वे प्राचीन भारतीय सभ्यता एव संस्कृति तथा आदर्शों का पूर्ण पोषण तत्कालीन भारतीय नारियो मे चाहते थे। हिन्दू धर्म का गौरव वे किसी भी प्रकार न्यून नही देखना चाहते थे, और धर्म को आगे बढाने के लिये वे नारियो को अधिक उत्तरदायी समझते थे; इसीलिये उसे कर्तव्य एवं दायित्व से च्युत एव धर्म की अवहेलना करते नहीं देखना चाहते थे।[1]

आदर्शवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण अभिव्यक्त करने वाले लेखकों में प्रेमचन्द का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वे चाहते थे कि साहित्य "जीवन की आलोचना और व्याख्या करे।"[2] उनका सारा साहित्य इसी उद्देश्य की अभिव्यक्ति है। अपने साहित्य मे उन्होंने नारियो को इसीलिए प्रमुख स्थान दिया है, क्योंकि जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, बिना नारियों के जैसे वह मानव जीवन अपूर्ण है, वैसे ही साहित्य भी। प्रेमचन्द ने जिस समय साहित्य रचना प्रारम्भ की थी, उस समय भारत में नारियो की स्थिति कुछ विशेष अच्छी न थी। उनकी बड़ी दयनीय स्थिति थी, वे हेय समझी जाती थी, और पति के चरणों की दासी समझी जाती थी। पुरुष उनका शोषण करते थे, और स्वय प्रेमचन्द के अनुसार, "पुरुष ने नारी का शोषण करने के लिए कायदे-कानून बनाये है उसी तरह जैसे ब्रिटिश-गवर्नमेन्ट ने हम लोगो को। जैसे हम लोगो के मूर्ख होने से सरकार को लाभ है, वैसे ही स्त्रियों को मूर्ख बनाने से पुरुषो का।"[3] प्रेमचन्द ने जितनी भी नारी पात्रों की परिकल्पना की है, उनकी पृष्ठभूमि मे उनका यह दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वे नारियों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत कर उन्हे ऊपर उठाना चाहते थे। उसे समाज में श्रद्धा की पात्री बनाना चाहते थे, इसीलिये उनके अधिकांश नारी पात्र आदर्श रूप में चित्रित किये गये हैं। प्राय चरित्र-चित्रण के लिए उन्होंने पात्रो की कल्पना की, इसीलिये उनके नारी पात्र केवल आदर्शों की कठपुतलियाँ हैं, उनमे स्वाभाविक नारीत्व है। वास्तव में इसका कारण यही था कि प्रेमचन्द का सारा साहित्य एक आदर्शवाद से अनुप्राणित था। उनके विचार से नारी पृथ्वी की भाँति धैर्यवान है, शान्ति सम्पन्न है, और सहिष्णु है। नारी में यदि पुरुष के गुण आ जाये तो वह कुलटा हो जायेगी। पुरुष और नारी के कर्म क्षेत्र अलग-अलग हैं। नारियों का पुरुषों के कर्मक्षेत्र मे पदार्पण करना अनुचित है। प्राणियो के विकास मे स्त्री का पद पुरुषों के पद से श्रेष्ठ है, क्योंकि नारी में प्रेम, त्याग, श्रद्धा एवं वात्सल्य है। पुरुष इनसे

१. देवीप्रसाद शर्मा : सुन्दर सरोजिनी, (१६०७), काशी, पृष्ठ ४२।
२. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य, (१६३६), बनारस, पृष्ठ १०४।
३. शिवरानी देवी प्रेमचन्द : प्रेमचन्द : घर में, (१६५६), बनारस, पृष्ठ २६।

वचित है। पुरुष की हिंसा, द्वेष एवं कपट व्यवहार मानवता को निम्न स्तर पर ला पटकती है। इसीलिये नारियाँ पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ हैं जितना प्रकाश अन्धकार से। इसके कारण स्पष्ट हैं। नारियाँ केवल माँ हैं, और कुछ नहीं। इसके अतिरिक्त वे जो कुछ भी करती हैं उसी मातत्व का उपक्रम मात्र है। प्रेमचन्द के अनुसार मातृत्व ससार की सबसे बडी साधना, त्याग एवं महान् विजय है। नारियों को अपने जीवन का व्यक्तित्व का, एव नारीत्व का लय कर देना चाहिए, यही उसकी महानता है। प्रेमचन्द का यह आदर्शवादी दृष्टिकोण उनके अनेक प्रधान नारी पात्रों म अभिव्यक्त हुआ है।

उनका यह दृष्टिकोण 'प्रेमाश्रम' (१९१८-१९) म श्रद्धा के रूप मे सुन्दर ढग से चित्रित हुआ है। श्रद्धा का जो सामान्य रूप प्रस्तुत किया गया है, वह बहुत ही सुन्दर है। छल कपट से पूर्णतया अनभिज्ञ वह सरल हृदया नारी है। नारी म जो भी गुण होने चाहिये, उनसे वह च्युत नहीं है। उसम विवेक की कमी नहीं है, तीव्र चेतना सम्पन्न भी है, पर इतना होते हुए भी वह मिथ्यावादिनी है, आडम्बरों से परिपूर्ण है, धार्मिक मदान्धता से दबी हुई है। उसे सामाजिक अवस्था और समयोचित आवश्यकताओं का ज्ञान था, पर परम्परागत बन्धनों को तोडने के लिये जिस विचार स्वातन्त्र्य और दिव्य ज्ञान की आवश्यकता थी उससे वह पूर्णतया रहित थी। वह एक साधारण हिन्दू अबला थी। वह अपने प्राणों से, अपने प्राणप्रिय स्वामी से हाथ धो सकती थी, किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोकनिन्दा सहन करना असम्भव था। पर प्रेमचन्द का आदर्शवाद अन्त म उसे विवश करता है और उसमे परिवर्तन होता है। वह प्रेमशकर की मुक्तीनि त्याग एव सेवा कार्य के अनुकरणीय उदाहरणों को ही उनका सच्चा प्रायश्चित मानती है, और अपने पहले की प्रायश्चित की भावना का दमन कर देती है। तभी उसका वास्तविक रूप निखरता है। वह अपने पति की सच्चे मन से उपासिका बन जाती है। उसके जीवन म जो मिथ्या गर्व थे, जो अनौचित्यपूर्ण जिद थी, जो धर्मान्धता थी, उसे समाप्त कर अन्त म वह श्रद्धा की पात्री बन जाती है। श्रद्धा की परिकल्पना के मान परम्परागत भारतीय आदर्श ही थे। उस युग मे किसी का विदेश जाना धार्मिक दृष्टि से मान्य न था। श्रद्धा अपने पति को छोड भी नहीं सकती थी, इसी सघर्ष मे नारी का वास्तविक कर्तव्य-पथ क्या होना चाहिए, इसी की ओर इगित करना ही, श्रद्धा की परिकल्पना की पृष्ठभूमि मे प्रेमचन्द का उद्देश्य था।

प्रेमचन्द ने एक आदर्शवादी कल्पना 'गोदान' (१९४६) म गोविन्दी के रूप मे की है। नारी की स्थिति तब पति की दासी के अतिरिक्त और कुछ न थी। बल्कि वह दासी से भी हेय थी[1]। गोविन्दी मे पति खन्ना बराबर अपनी पत्नी को

---

१ 'I am far from pretending that wives are in general no better treated than slaves but no slave is a slave to the same lengths,

उपेक्षा करते है, पर गोविन्दी सारा अत्याचार सहती है। उसमे विद्रोह नहीं पनपने पाता, क्योंकि प्रेमचन्द का आदर्शवाद इसके विरुद्ध था। वह सहनशीलता एवं आत्मपीड़न को ही अपना धर्म समझती है, और पति के कटुवाक्यों एवं उपेक्षा को ओर दृष्टि न डालकर उसकी पूजा तक करती है। नारी की यह स्थिति वस्तुतः और कुछ नहीं, गुलामी सी है। पति तो उपेक्षा करें, पत्नी उसकी पूजा करे—प्रेमचन्द पातिव्रत धर्म को ही नारी जीवन का सर्वोत्तम गुण मानते थे।

वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने कई उपन्यासों मे आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। "विराटा की पद्मिनी" की प्रधान नारी पात्र कुमुद का प्रेम उन्होंने आदर्शवादी धरातल पर ही चित्रित किया है। यद्यपि उसका और कुंजरसिंह का प्रेम पूर्ण मनोविज्ञानिक ढग पर ही विकसित होता है, पर अन्त मे कदाचित् दोनों का मिलन इसीलिए नहीं हो पाता, क्योंकि कुमुद देवी के रूप मे दूर-दूर तक विख्यात थी, और अपने उस देवत्व के आदर्श की रक्षा के लिये ही वह अन्त तक स्पष्ट रूप से कुंजरसिंह का प्रेम स्वीकृत नहीं करती। केवल अन्त मे जाकर माला बदलवा देने मे भी वर्मा जी का आदर्शवादी दृष्टिकोण अभिव्यक्त होता है, जो प्रेम की पवित्रता के प्रति आस्थावान् है।

वर्माजी नारी प्रेम की पवित्रता में विश्वास रखते है, उसका अन्त चाहे कुछ हो। वर्माजी ने विधवा समस्या पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं, और उनके दृष्टिकोण से इस भीषण समस्या का एकमात्र समाधान विधवा का पुनर्विवाह है। "अचल मेरा कोई" (१६४७) मे निशा एक विधवा शिक्षित युवती है। इसमे तीव्र चेतना एव कुशाग्र बुद्धि है। वह अचल से विवाह कर समाज के सम्मुख सफल विवाहित जीवन का अनुपम आदर्श उपस्थित करती है। वर्माजी के विचार मे विधवा विवाह मे पुरुष त्याग नहीं करता, स्वयं नारियाँ ही त्याग करती हैं। निशा के यह कहने पर कि तुमने मुझसे विवाह कर महान् त्याग किया है, अचल कहता है, "असली त्याग तुम्हारा है। हमारा समाज अब भी पिछड़ा हुआ है। उसी समाज के लाज सकोच मे विधवाएं अपने हाड़ मांस को गला-गला कर और जला-जलाकर जीवन बिताती हैं। पाखण्डियों और धूर्तों की पूजा होती है, पर इन यातनाग्रस्त तपस्विनियों को कोई पूछता है? पहले मैं सोचता था कि मैंने वास्तव मे त्याग किया है, किन्तु तुमको पाने

and in so full a sense of the word, as a wife is. Hardly any slave except one immediately attached to the master's person, is a slave at all hours and all minutes, in general he has, like a soldier, his fixed task and when it is done, or when he is off duty, he disposes, within certain limits, of his own time, and has a family life in to which the master rarely intrudes. But it cannot be so with the wife"

—जान स्टुअर्ट मिल : सब्जेक्शन ऑव वीमेन, पृ० ५६।

ने कुछ दिन बाद ही समझ में आ गया कि त्याग मैंने नहीं तुमने किया है।"[1] उन्होंने अपने एक अन्य उपन्यास "संगम" में गंगा का विधवा विवाह कराया है।

नारी अपने आत्मसम्मान के सम्मुख कभी नहीं झुकती। वर्माजी नारी की इस भावना को यथेष्ट प्रश्रय देते हैं। "अचल मेरा कोई" में कुन्ती के ऊपर जब उसका पति दोषारोपण करता है तो वह प्रतिवाद करते हुए कहती है, "मेरे चरित्र पर शंका है? है न? इसीलिए कि दो कौड़ी की हूँ? आवारा सड़कों पर मारी-मारी फिरने वाली औरतों की तरह ढोलकी बजाती फिरती हूँ?"[2] और वह अपने कमरे में जाकर गोली मारकर आत्महत्या कर लेती है, पर पराजय नहीं स्वीकारती। यद्यपि स्वयं उन्होंने इसे बहुत श्रेयस्कर नहीं समझा है। उन्होंने ऐसी भी नारियों का चित्रण किया है, जो पातिव्रत धर्म का पालन करती हैं। वर्माजी के अनुसार नारी के सतीत्व एवं पवित्रता में बड़ा बल होता है। "कुण्डली चक्र" में रतन के जीवन का *परम लक्ष्य पति सेवा ही है, और कुछ नहीं। वह पति के अपना निजत्व मिटा देने* का प्रयत्न करती है यहाँ तक कि उसका दूसरा विवाह करने की भी सहर्ष अनुमति दे देती है, क्योंकि वह समझती है, नारी का व्यक्तित्व उसके पति के व्यक्तित्व के समक्ष शून्य है, जो कुछ है, बस पति ही है। "झाँसी की रानी" (१९४७) में भी वर्माजी का आदर्शवादी दृष्टिकोण ही विकसित हुआ है।

गुरुदत्त कृत "स्वाधीनता के पथ पर"[3] निराला कृत "अलका"[3] भगवतीप्रसाद वाजपेयी कृत "त्यागमयी"[4] एवं "प्रेमनाथ"[5] तथा भगवतीचरण वर्मा कृत "टेढ़े मेढ़े रास्ते" में भी *आदर्शवादी परिकल्पना सम्बन्धी यही दृष्टिकोण विकसित हुआ है।* भगवती बाबू नारी की पति परायणता में पूर्ण विश्वास करते हैं। नारी के जीवन में पति से बढ़कर महत्वपूर्ण और कोई नहीं। पति ही उनकी गति होते हैं, उनके बिना उनका अस्तित्व शून्य होता है। "टेढ़े मेढ़े रास्ते" (१९४६) में अपने पति को एक अंग्रेज महिला के साथ देखकर भी उसकी पत्नी महालक्ष्मी कहती है, "मुझे उसमें सुख है, जिसमें आपका सुख है। आप सुखी रहें, आप अच्छे रहें, आप हँसे बोलें। आप अपने घर में रहें—मैं तो आपकी दासी हूँ। आप उन्हें बुला लें। जब वह पूछें कि मैं कौन हूँ, तब आप कह दें कि मैं नौकरानी हूँ, और मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं उनकी सेवा करूँगी, उनकी पूजा करूँगी।"[7] इसी उपन्यास में एक अन्य नारी पात्र वीणा भी आदर्शवादी भावनाओं से ओतप्रोत पात्र है। उसकी परिकल्पना का उद्देश्य लेखक का राजनीति में भाग लेने वाली नारियों का चित्रण करना था। वर्माजी ने युगीन अनुभूति को सम्यक् रूप में अनुभव किया था कि नारियाँ अब घर

---

१ वृन्दावनलाल वर्मा अचल मेरा कोई, (१९४७), झाँसी, पृष्ठ १४२।

२ वही, पृष्ठ २६१।

३ ३, ४, ५, ६, देखिए अध्याय ५, ६, ७,।

७ भगवतीचरण वर्मा टेढ़े मेढ़े रास्ते, (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ २०८।

की सीमाओं में नहीं हैं, वे बाहर कर्मक्षेत्र में आकर अपने स्वदेश की स्वाधीनता की रक्षा में भी हँसते-हँसते प्राण त्याग सकती है। वीणा कलकत्ते के एक क्रांतिकारी दल की सदस्या है, और देश की स्वाधीनता की लालसा रखती है। वह बीस बाईस वर्ष की बंगाली युवती है। उसके मुख पर नारी-सुलभ भाव न होकर दृढ़ता है और कर्तव्य निष्ठा के कठोर भाव हैं। पर उस कठोरता में भी एक प्रकार की कोमलता है, और देश की स्वाधीनता के लिए प्रत्येक प्रकार का खतरा उठा सकती थी। उसका परिणाम क्या होगा, इसकी चिन्ता उसे नहीं थी क्योंकि, "हम लोग कुछ कर सकेंगी या नहीं, इसको जानने की मुझे तो कोई आवश्यकता नहीं। अन्त को किसने जाना है—कोई बतला सकता है ? फिर उस अन्त की चिन्ता ही क्यों की जाय ?"[१] वीणा की भेंट नाटकीय ढंग से कलकत्ते में प्रभानाथ से होती है, और उसके मन में प्रभानाथ के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। प्रभानाथ बाद में उसे उत्तरप्रदेश बुला लेता है और वह वहाँ क्रान्तिकारी कार्यों में सक्रिय हो जाती है। साथ ही वह एक स्कूल की अध्यापिका भी बन जाती है। जिन परिस्थितियों में वीणा को वर्माजी ने रखा है, उससे ज्ञात होता है कि उसके मन में ममता है, वह बड़ों के प्रति श्रद्धा रखती है, उसमें अमित स्नेह की भावना है। वह दूरदर्शी है, और किसी बात को शीघ्र ही समझ लेने की उसमें तीव्र क्षमता है। वह प्रभानाथ से प्रेम करती है, पर जब उसे पता चलता है कि वह मुखबिर बनने पर तैयार हो गया है तो उसके अन्दर घृणा उत्पन्न हो जाती है, और जेल में उसे विष दे देती है। वीणा प्रभानाथ से प्रेम किया था, पर वह प्रेम छिछला न होकर अत्यन्त प्रशान्त एवं पवित्र था।

"जीवन की मुस्कान" (१९३९) में उषादेवी मिश्रा ने अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए चित्रित किया है कि पूरबी का जन्म वेश्यालय में होता है, और उसे विवश होकर वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती है। यह बात—"उसे सदैव मन ही मन सालती रहती है। उसके वेश्या होने के कारण उसकी एक बहन का पति उसे त्याग देता है, और दूसरी अनब्याही ही रह जाती है। पूरबी मात्र वेश्या ही नहीं है, नारी भी है। उसमें नारी सुलभ गुण है। कोमलता है, भाव प्रवणता है, और उदारता है। वह अपने घर में किसी को शराब तक नहीं पीने देती, सिर्फ नाचती और गाती भी है, शरीर नहीं बेचती। वह पृथीश से प्रेम करती है, उस पर एक सेठ द्वारा आपत्ति करने पर वह दृढ़ स्वरों में कहती है, "देह मेरी अवश्य बिकी हुई है सेठ जी, दुनिया से यह बात छिपी नहीं है। परन्तु मेरी आत्मा मेरी ही है, मेरी रहेगी। उसे मैं नहीं बेच सकती। बस अब चले जाइये।"[२] पूरबी का जीवन कठोर संयम का था। वह सूखा-सूखा खाती थी, पश्चात्ताप की अग्नि में जलती थी। वह गृहिणी के समान ही जीवन व्यतीत करती थी।

---

१. भगवतीचरण वर्मा : टेढ़े मेढ़े रास्ते, (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ ७२।

२. उषादेवी मित्रा : जीवन की मुस्कान, (१९३९), पृष्ठ ९१।

रोमांटिक परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

अनेक उपन्यासकारों ने रोमांटिक परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण को भी अपनाकर नारी पात्रों की परिकल्पना की है। मानव जीवन में प्रेम का प्रमुख स्थान होता है। बिना प्रेम के जीवन एक प्रकार से शुष्क मरुस्थल के समान ही होता है। पर प्रेम वही श्रेष्ठ होता है, जो हमारे अन्दर छिपे हुए देवत्व का विकास कर हमें मानवता के उच्चासन पर बिठा दे। जो प्रेम हमें इसके विपरीत दिशा में ले जाए, उसका महत्त्व कुछ भी नहीं होता। ऐसे प्रेम का गला घोंट देना ही श्रेयस्कर होता है। अधिकांश उपन्यासकारों का यही रोमांटिक दृष्टिकोण रहा है। पूर्व प्रेमचन्द काल से लेखकगण ऐसे प्रेम की कल्पना तक भी न करते थे, जो वासनापरक हो, या जिसमें उच्छृंखलता हो। यह एक सर्वथा नवीन बात थी। विद्वानों ने यह मान लिया गया है कि प्रेम में वासना भी सम्मिलित होती है दोनों को एक दूसरे से अलग करके नहीं परखा जा सकता। पर इस युग के उपन्यासकारों ने रोमांटिक दृष्टिकोण को आदर्शवादी रंग दे दिया था। वे प्रेम का सदैव एक अनुपम आदर्श प्रस्तुत करने के प्रति प्रयत्नशील रहते थे। चाहे वह "श्यामा स्वप्न" में श्यामा का प्रेम हो, या "चन्द्रकांता" में चन्द्रकांता का प्रेम हो, सभी में एक आदर्श है पवित्रता है। यही दृष्टिकोण 'निरुपमा" (१६३६), 'कमलिनी (१८६१), "हृदयहारिणी" (१८६०), "कचनार" (१६४७) में भी चित्रित हुआ है।

प्रेमचन्द भी नारियों के आदर्श प्रेम में विश्वास रखते थे। विवाह के पूर्व शारीरिक सम्बन्ध स्थापित होना, अथवा अन्य घृणित कार्यों को वे परम्परा के विरुद्ध मानते थे। उनके जितने भी नारीपात्र प्रेमिका रूप में चित्रित की गई हैं, सभी में आदर्श प्रेम है। वे कभी अपने गन्तव्य पथ से च्युत नहीं होतीं, और अपनी आत्मा का हनन कर आत्म प्रवंचना का शिकार नहीं होतीं। चाहे वह "रंगभूमि' की सोफिया हो, या "गोदान' की मालती, या वरदान' की विरजन। सभी में प्रेम का उच्च रूप मिलता है। सोफिया का विनय से प्रेम आध्यात्मिक स्तर पर था। प्रेमचन्द ने 'जमाना" के सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम को लिखे गए अपने एक पत्र में लिखा था कि, 'मैंने सोफिया का चरित्र मिसेज एनी बिसेंट से लिया है। यह सच है। सोफिया मिसेज एनी बिसेंट की तरह एक विश्व धर्म (Cosmopolitanism) में विश्वास करती है। "प्रेमचन्द मानते थे कि प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बन्धन नहीं। ऐसी बाधाएं उस मनोभाव के लिए हैं, जिसका अंत विवाह है, उस प्रेम के लिए नहीं, जिसका अंत बलिदान है। यद्यपि सोफिया की परिकल्पना का एक और उद्देश्य यह भी था कि हिन्दू और क्रिश्चियन एकता को चित्रित किया जा सके। ठीक उसी प्रकार, "कर्मभूमि" में अमरकान्त और सकीना का प्रेम चित्रित कर उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता को दृढ़ करने का प्रयत्न किया था। जंगल के समीप गाँव में विनय और सोफी अकेले रहते हैं, तो भी वह अपने को गिरने

नहीं देती। दोनों साथ रहते थे, "किन्तु नैतिक बन्धनों की दृढ़ता उन्हें मिलने न देती थी। सात्विक धर्म निरूपण ने सोफिया को साम्प्रदायिक सकीर्णताओं से मुक्त कर दिया था। उसकी दृष्टि से भिन्न-भिन्न मत केवल एक ही सत्य के भिन्न-भिन्न नाम थे। अब उसे किसी से द्वेष न था, किसी से विरोध न था······वास्तव में दोनों का आत्मिक संयोग हो चुका था, और भौतिक संयोग में भी कोई वास्तविक बाधा न थी।"[1] फिर भी वह विनय से तभी विवाह करना चाहती थी, जब वह विनय की माँ को भी स्वीकार हो। प्रेमचन्द की धारणा में नारी का स्थान अत्यन्त उच्च होता है। और वह गौरव एवं पवित्रता की साकार प्रतिमा होती है।

जैनेन्द्रकुमार का रोमांटिक दृष्टिकोण मनोविज्ञान पर आधारित है। उसकी अधिकांश नायिकाओं का विवेक यौन भावना एवं "सेक्स" की प्रवृत्त्यात्मक उत्तेजना के सम्मुख पराजित होता है। उन्हें किसी दूसरे को समर्पण करने में उनका अहं चूर-चूर होता है।[2] वे नारियों में उनके व्यक्तिगत अहं को कोई महत्व नहीं देते, क्योंकि कोई भी एकाकी नहीं है, और किसी का कोई अलग स्वत्व नहीं है। एक से दो होने की अपेक्षा, आवश्यकता मनुष्य के भीतर एक व्याप्त है। न कहीं विवाह, कहीं प्रेम। लेकिन आदमी अपने में अपने को पूरा नहीं पाता। दूसरे की अपेक्षा उसे ही है।[3] वृन्दावनलाल वर्मा का रोमांटिक दृष्टिकोण उनके अनेक उपन्यासों में चित्रित हुआ है। "कुण्डलीचक्र" में पुना का अटल प्रेम उसके आत्मविश्वास, साहस एवं आत्मबल के कारण सफल होता है। वह अपने पवित्रता के बल पर ही अपने बहनोई भुजबल के कुचक्रों से अपनी रक्षा कर सकने में सफल होती है। "कचनार" में कचनार का, और "गढ़कुण्डार" में तारा का प्रेम भी पवित्रता की भावभूमि पर चित्रित किया गया है। विष्णुदत्त की कन्या तारा दिवाकर से प्रेम करती है। कनेर के फूल लाने की घटना से यह प्रेम प्रगाढ़ होता है, और अन्त में वह जेल से दिवाकर को छुड़ा सकने में सफल हो जाती है। तारा का प्रेम आदर्श प्रेम था। प्रेम में त्याग

---

१. प्रेमचन्द : रंगभूमि, (१९२४), बनारस, पृष्ठ ४३०।

२. "There is a natural source of conflict between them, for the ego urge is selfish, aiming as it does at the conservation of the individual and its personal up-building, while the sex urge, whose aim is to assure the continuance of the species, is altruistic. By altruism I mean that one human being must before finding the complete gratification of his sex urge, join his body to that of the opposite sex, whose sex urge he helps to gratify, the result of that co-operation being the creation of a third human being.'

—आन्द्रे त्रिडॉन : साइको—एनालिसिस एन्ड लव, (१९४९), पृष्ठ ४६-४७।

३. जैनेन्द्रकुमार : सुनीता, (१९३३), बम्बई, पृष्ठ ५।

की अनुपम भावना, और दृढ़ आत्मशक्ति के कारण ही तारा को अपने प्रेम मे सफलता प्राप्त होती है। उषादेवी मिश्रा के उपन्यास "वचन का मोल" म कजरी विनय से प्रेम करती है, पर स्वय सरोज कजरी से प्रेम करता है। मरणासन्न सरोज जब कजरी के सम्मुख प्रणय निवेदन करता है तो वह बडे धर्म सकट मे पड जाती है, क्योंकि वह एक आत्मा की हत्या का दोष अपने सिर नही लेना चाहती थी। अत में वह यही निश्चय करती है कि प्रेम म सभी कुछ मात्र प्राप्य ही नही है। वह विनय के प्रति अपने प्रेम का दमन कर जीवन पर्यन्त क्वारी ही रहने की प्रतिज्ञा करती है। वह अत तक अपने दिए गए वचन का मोल निभाती है और एक आदर्श प्रेम का उदाहरण उपस्थित करती है। मिश्रा जी का यह रोमांटिक दृष्टिकोण आदर्शवादी भावभूमि पर ही आधारित है।

प्रेम म स्वार्थ की भावना उसे घृणित बनाती है और प्रेम का पवित्रता ही उसे उच्च स्थान प्रदान करती है—भगवतीचरण वर्मा का यह रोमांटिक दृष्टिकोण उनके 'तीन वर्ष' (१९३०) नामक उपन्यास मे अभिव्यक्त हुआ है। प्रभा नगर के प्रसिद्ध वकील सर कृष्णशकर का पुत्री है, और सरोज एक वेश्या। नारी धन एव सुख की प्राप्ति के लिए ही पुरुष को अपना तन बेचती है। प्रभा रमेश से प्रेम करती हुई भी उससे विवाह नही करती, क्योंकि वह निर्धन है। वह सदा प्रेम करते रहने का निश्चय करती है, विवाह की अनिवार्यता को अस्वीकृत करती है। उधर सरोज के पास चार लाख रुपया है, फिर भी वह दुखी है, सन्तुष्ट नही है। वह रमेश से कहती है, 'मैं तुम से सच्चे मन से प्रेम करती हूँ, इस पेशे को छोड देना चाहती हूँ।' प्रभा आधुनिक युवती है। अपने पापा के सामने दूसरे युवकों से मचल मचल कर बातें करती है। सिगरेट पीती है, घूमने जाती है। वह यूनिवर्सिटी की छात्रा है, और उसी व्यक्ति के साथ विवाह करना चाहती है, जिसके पास विपुल धनराशि हो। रमेश के साथ उसका प्रेम एक ढकोसला था। वह मात्र विलासिनी का जीवन व्यतीत करना चाहती थी। इस प्रकार अपने प्रेमी के पतन का कारण बनती है, पर उसे ऊपर उठाने का काम सरोज वेश्या करती है। सरोज म त्याग की वृत्ति है, वह पढना चाहती है, और अपना दन को छोड देना चाहती है। वह रमेश के प्रेम मे घुल घुल कर रिसती रहती है अन्त मे उसके नाम अपनी सारी सम्पत्ति करके मर जाती है। उसका त्याग अनुपम है। वास्तव म वर्मा जी के अनुसार प्रेम की महानता त्याग, उदारता एव सहनशीलता ही है। प्रेम मे वैभव एव विलास की कामना करना प्रेम का पतित करना एव पशु बनाना है। 'चित्रलेखा' म भी बीजगुप्त के प्रति चित्रलेखा का प्रेम इसी प्रकार का है। वह बीच मे ठोकर खाती है, फिसलती है, पर शीघ्र ही सभल जाती है, और अपना कर्तव्य पथ पहचान आगे बढती है। उसका प्रेम सही माने मे तभी सफल होता है, जब वह वैभव एव विलास की मृगतृष्णा को भेद देती है, और उसम अनुपम त्याग की वृत्ति उभडती है। वह अपनी सारी सम्पत्ति दान देकर साधारण दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने निकल पडती है। 'अरव' युत

"सितारों के खेल" (१९३९) में अमृतलता अभिजात वर्ग की शिक्षित छात्रा है। उसके जीवन में अनेक पुरुष आते हैं, वह सबसे प्रेम करती हैं, फिर भी उसे कोई सच्चा रोमांटिक प्रेमी नहीं मिल पाता, जिसे वह सच्चे मन से स्वीकार कर सके। कई आदमियों से उसका प्रेम करना प्रयोग ही है। वह अत्यन्त भावुक है, लेकिन उसकी अतृप्त आकांक्षाएं एवं मन की कुण्ठाग्रस्त वर्जनाएं उसे वंसीलाल की हत्या करने पर बाध्य करती है। वह प्रेम को एक सौदा नहीं समझ पाती, इसे वह अत्यन्त महत्वपूर्ण समझती है, विशेष रूप से इस दृष्टिकोण से कि प्रेम नारी जीवन को निखारता है, सवारता है। वह पवित्र प्रेम पर अपना जीवन निछावर कर देना चाहती हैं। उसके प्रेम में निष्काम अपनत्व और पवित्र समर्पण की भावना है, पर दुर्भाग्य से उसके जीवन में एक भी ऐसा पुरुष नही प्रवेश करता, जो उसकी आन्तरिक भावनाओं को समझ सके। अपना सारा प्रेम उसे दे सके, और बदले में उसका सारा विश्वास स्वयं ले सके। अन्त में अमृतलता की मानसिक विक्षिप्तियाँ इतनी बढ़ जाती है, कि वह आत्महत्या कर लेती है।

यथार्थवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

यथार्थवादी उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य जीवन के सम्बन्ध में मूलभूत तत्वों की खोज निकालना होता है, इसीलिए वह जिन वस्तुओं को जिस रूप में देखता है, उस पर बिना कोई मुलम्मा चढाए ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देता है। कला के प्रति सत्यता एवं ईमानदारी यथार्थवादी साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।[1] यथार्थवादी लेखक किसी एक विशेष दृष्टिकोण को सीमित परिवेश में न अपना कर प्रत्येक प्रकार के मानवीय अनुभवों के अंकन का प्रयत्न करता है।[2] अतः यथार्थवादी

१. "True great realism...depicts man and society as complete entities, instead of showing merely one or the other of their aspects Measure by this criterion, artistic trends determined by either exclusive introspection or exclusive extravension equally impoverish and distort reality"

—जार्ज ल्यूकॉच : स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म, (१९५०), लन्दन, पृष्ठ ६।

२. "This use of 'realism', however, has the grave defect of obscuring what is probably the most original feature of the novel form. If the novel were realistic merely because it saw life from the seamy side, it would only be an invented romance; but in fact it surely attempts to protray all the varieties of human experience, and not merely those suited to one particular literary perspective : the novel's realism does not reside in the kind of life it presents, but in the way it presents it."

—इयान वॉट : द राइज ऑव द नॉवेल, (१९५७), लन्दन, पृष्ठ ११।

अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए उपन्यासकारों ने अनेक प्रकार के नारी पात्र प्रस्तुत कर भिन्न भिन्न सामाजिक समस्याओं को उनके माध्यम से चित्रित करने का प्रयत्न किया है। पूर्व प्रेमचन्द युग में यथार्थवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण विशेष रूप से नहीं प्राप्त होता। किशोरीलाल गोस्वामी कृत "स्वर्गीय कुसुम" (१८८६) में कुसुम का असफल प्रेम दिखाकर उसकी मृत्यु चित्रित कर अवश्य ही गोस्वामी जी ने यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया था, पर स्वयं उन्होंने ही इसका फिर प्रयत्न नहीं किया, और अपने सुधारवादी दृष्टिकोण को ही विकसित करते रहे।

'निर्मला' (१९२२-२३) में प्रथम बार हम यथार्थवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण का उचित रूप में परिचय प्राप्त होता है। निर्मला का चरित्र प्रेमचन्द ने यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया था। समाज की विषमताओं में ही उसका जन्म होता है, पालन पोषण होता है। समाज के अभिशाप का वह शिकार बनती है, और उसी में उसकी मृत्यु होती है।[1] "गबन" (१९३०) में जालपा का चरित्र भी इसी दृष्टिकोण पर आधारित है।[2] यद्यपि 'निर्मला" के पूर्व "वरदान" (१९०२) की प्रधान नारी पात्र विरजन में रूप में भी प्रेमचन्द के यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है, पर उतने विकसित रूप में नहीं, जितना उनके बाद के उपन्यासों में। "गोदान" (१९३६) में धनिया की परिकल्पना भी यथार्थ की कठोर भूमि पर की गई है। उसके चरित्र में निरन्तर उत्थान पतन होते रहते हैं। कभी आवेश में आकर वह अनाप शनाप कह भी जाती है, तो दूसरे ही क्षण उसका हृदय भी जाता है, और वह दया एवं ममता की सजीव प्रतिमा बन जाती है। उसका हृदय कठोरता एवं कोमलता का विचित्र सा सम्मिश्रण है। वास्तव में परिस्थितियों की कठोरता ही उसे कठोर बनाती है। नारी का हृदय कितना विशाल होता है उसमें कितनी सहानुभूति भरी हुई है, और कितनी ममता छिपी होती है, इसका परिचय वह भुनिया का तमाम सारे विरोधों के बावजूद भी अपने घर में लाकर देती है। धनिया के रूप में प्रेमचन्द ने यह चित्रित किया है कि नारियाँ कभी संसार में कमक्षन से भयभीत नहीं होती, और न संघर्षों से कभी पीछे मुँह ही मोड़ती हैं। धनियाँ ने अपने जीवन में इसी का परिचय दिया है। उसका समस्त जीवन संघर्षों की प्रेरणा-दायक कहानी है। उसने कभी कठिनाइयों से हार नहीं मानी। उग्र कृत "जीजी जी" (१९४३) में भी यही दृष्टिकोण विकसित हुआ है।[3]

कौशिक जी ने अपने दो उपन्यासों 'माँ" (१९२९) और "भिखारिणी" में नारी पात्रों की परिकल्पना यथार्थवादी दृष्टिकोण पर की है। वे "माँ" में वेश्या समस्या पर अपने विचार प्रकट करते हुए उसका मूल कारण निर्धनता मानते हैं।

---

१ २ देखिए अध्याय ५, ६।

३ देखिए अध्याय ७।

"माँ मे वेश्या बन्दी कहती है, "भई हम अपनी आदत को क्या करे ? हमारी तो जिससे मुहब्बत होती है, उसी से बातचीत करने को जी चाहता है। यों हमसे हँसा बोला नही जाता, चाहे कोई लखपति हो, या करोड़पति। हम तो मुहब्बत के भूखे हैं, रुपये के भूखे नही। रुपया लेकर हमे करना क्या है ? जिस खुदा ने पैदा किया है, वह शाम तक खाने को दे ही देगा।"[1] पर बन्दी का यह कथन अपने पेशे को चलाते रहने के लिए एक बहाना मात्र था। इसकी पृष्ठभूमि मे उसके जीवन की जाने कितनी घनीभूत पीड़ा और अश्रुओं का सैलाव निहित रहता है। वह उसका मन ही जानता था कि उसके जीवन में मुहब्बत की आवश्यकता है या रुपये की। स्वयं उसका ही बाद का कथन इस प्रश्न का उत्तर दे देता है। जब सेठ श्यामनाथ के बहुत दिनो तक न आने पर उसकी माँ चिन्ता एवं आशंका प्रकट करती है, तो उसे समझाते हुए बन्दी कहती है, मैं उन्हे आसानी से थोड़े ही छोड़ दूंगी। अगर कही आँख लगी भी होगी, तो भी जहाँ तक होगा, पंजे से निकलने न दूंगी।"[2] निर्धनता के कारण बेगम को अपनी बेटियो से वेश्यावृत्ति करानी पड़ती है। वह अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा पूर्णतया लुप्त हो जाने से भयभीत होती है। उसकी दोनों पुत्रियाँ भी वेश्यावृत्ति से घृणा करती हैं। पर मुख्य प्रश्न तो पेट के निर्वाह का है, और आर्थिक विषमताएं उन्हें पतित मार्ग पर ला ढकेलती हैं। उनका बड़ा यथार्थ चरित्राकन लेखक ने किया है। उसके अनुसार कोई वेश्या वेश्या-मात्र नही होती। पहले वह नारी होती है, बाद मे कुछ और। -'बन्दीजन वेश्या होते हुए भी स्त्री थी। वह सतीत्वहीन होते हुए भी स्त्रीत्वहीन नही थी। यह बात दूसरी थी कि वह धन के कारण अपनी रुचि के प्रतिकूल कार्य करने को भी प्रस्तुत रहती थी, धन के कारण अरुचिकारक पुरुष से भी प्रेमालाप करती थी। केवल इतना ही नही धन के कारण उसे ऐसे पुरुष का भी तिरस्कार करना पड़ता था, जिससे प्रेमालाप करने मे उसको हृदय को आनन्द प्राप्त होता था। इसीलिए वह वेश्या थी—यही उसमे वेश्यापन था।[3] "राधाकृष्ण महाशय की आर्थिक सहायता एवं सद्प्रयत्नों से जब बेगम की दोनो बेटियों का विवाह हो जाता है, तो उनमें कुछ भी वेश्यापन का सा भाव नहीं रह जाता, वे सामान्य नारियाँ ही बन कर अपना जीवन व्यतीत करती हैं। वास्तव में वेश्यावृत्ति के लिए पुरुषो को लज्जित होना

---

१. विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" : माँ, (१९२९), पृष्ठ १३६।
२. विश्वम्भर नाथ शर्मा "कौशिक" : माँ, (१९२९), पृष्ठ ३३०।
३. वही, पृष्ठ ३१३।

चाहिए हालांकि वह मात्र भारतीय नहीं, विश्व समस्या है।'[1] समाज को इसके निराकरण का उपाय करना चाहिए, नारियों की दुदशा एव हीनावस्था का यह एक प्रमुख कारण है।

नारियों के विवाह के सम्बन्ध मे कौशिक जी ने समाज को बहुत प्रमुखता प्रदान की है। वे प्रेम की स्वतन्त्र सत्ता तो मानते हैं, पर समाज की अस्वीकृति की स्थिति मे उसकी अनुपयोगिता भी घोषित करते हैं। "भिखारिणी' मे जस्सो का विवाह रमानाथ से इसीलिए नही हो पाता, क्योंकि वह स्वतन्त्र प्रेम था, और रमानाथ मे इतना साहस नहीं था कि वह अपने पिता (जो समाज के प्रतीक स्वरूप माने जा सकते हैं) से कह सके। कौशिक जी के अनुसार „ऐसा कोई भी सफल नहीं होता, जिसे समाज स्वीकृति न प्रदान करे। तत्कालीन युग की परिस्थिति किसी भी प्रकार से नारी विद्रोह को प्रश्रय नही प्रदान करना चाहती थी। नारी की व्यथा का एक और कारण अन्तर्जातीय विवाहों पर प्रतिबन्ध भी है। यदि यह प्रतिबन्ध न होता तो कदाचित् जस्सो का विवाह रमानाथ से हो जाता और दर-दर की ठोकर खाने और जीवन भर व्यथा का भार सहने के लिए बाध्य न होना पड़ता।

आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परिकल्पना संबंधी दृष्टिकोण

प्रेमचन्द—ने आदर्श एव यथार्थ का समन्वय करके आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का दृष्टिकोण अपनाया था। स्वय उन्ही के अनुसार "यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमे उठाकर किसी मनोरम स्थान मे पहुँचा देता है। यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है। हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है। उसके विपरीत आदर्शवाद हमे ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यथार्थवाद की प्रवृत्ति की दुर्बलताओं के चित्रण मे शिष्टता की सीमाओं का उल्लंघन कर देती है और मानव को पशु दिखाकर भयभीत कर देती है। दूसरी ओर आदर्शवाद ऐसे पात्रों की सृष्टि कर देता है जो भलाई या

१ "All of us men must hang our needs in shame, so long as there is a single woman whom we dedicate to our lust I will far rather see the race of man extinct than that we should become less than beasts by making the noblest of God's creation the object of our lust but this is not a problem merely for India, it is a world problem"

—महात्मा गाधी वीमन एण्ड सोशल इनजस्टिस, (१९५४), अहमदाबाद, पृष्ठ १२५।

बुराई के प्रतीक बनकर रह जाते हैं। वे निर्जीव से हो जाते हैं······वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।" प्रेमचन्द ने अपने अनेक नारी पात्रों की परिकल्पना इसी आधारभूमि पर की थी और इसी दृष्टिकोण को उनके समकालीन अनेक अन्य उपन्यासकारों ने भी अपनाया था। वे ऐसे नारी पात्रों का चित्रण तो यथार्थवादी ढंग से करते थे पर उनका अन्त आदर्शवादी ढंग से चित्रित करते थे।

मालती ("गोदान" की प्रधान नारी पात्र) श्रद्धा का ही परिवर्तित रूप है। ऐसा प्रतीत होता है कि समय की परिवर्तनशीलता के साथ श्रद्धा भी परिवर्तित हो जाती है, और नवीन रूप धारण कर मालती बन जाती है। प्रेमचन्द ने जिस समय "गोदान" की रचना की थी, उस समय भारतीय चेतना लगभग पूर्णरूप से पश्चिमी सभ्यता के परिवेश में बंध चुकी थी। नारियों में जागरूकता उत्पन्न हो रही थी, और उनकी शिक्षा के प्रति अभिभावकों में उदासीनता समाप्त होती जा रही थी, मालती इसी जागरूक नारी वर्ग की प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत की गई है। पर उसे बाहर से तितली और भीतर से मधुमक्खी समझना ही पर्याप्त नहीं है। अभी तक आलोचकों ने प्रारम्भ में मालती को केवल तितली रूप में और बाद में मेहता के सम्पर्क में आने पर त्यागवृत्ति से ओतप्रोत नारी के रूप में ही देखा है। यह कहना कि मालती में नैतिक बल अधिक नहीं है, और वह भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्परा का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ है, तर्क सगत नहीं है। यह भ्रम इसीलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि आलोचक प्राय. समझते हैं कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मनोविज्ञान का उपयोग नहीं किया है, इसीलिए मालती के चरित्र की विचित्रता के पीछे मनोवैज्ञानिक कारण हो नहीं सकते, वह तो केवल चमत्कार प्रदर्शन एवं आकर्षण उत्पन्न करने के लिए किया गया है। फतवा तो यहाँ तक दे दिया गया है कि इसीलिए प्रेमचन्द द्वितीय श्रेणी के लेखक हैं।

इसका यही कारण है कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मनोविज्ञान की गुत्थियों को शास्त्रीय रूप में सुलझाने की चेष्टा नहीं की है। अपने उपन्यासों के वक्तव्यों में उन्होंने चिल्ला-चिल्ला कर यह घोषणा करने का प्रयत्न नहीं किया है कि मैं मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हूँ। मैं केवल मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण के लिए अपने उपन्यासों में फ्रायड और उसके तथाकथित अनुयायियों के आदर्शों को जीवित कर रहा हूँ। वस्तुतः मालती जैसी अन्त में है, वैसे ही प्रारम्भ में संस्कारों से है। प्रारम्भ में वह छिछोरी, विलासिनी या अपने यौवन का नग्न प्रदर्शन करने वाली जानबूझ कर नहीं बनी है, हमारे इस समाज ने उसे ऐसा बनाया था, ऐसा रूप धारण करने पर विवश किया था। मालती के निर्बल कन्धों पर पूरे परिवार के

पालन-पोषण का उत्तरदायित्व है। अपनी बहन सरोज की उच्च शिक्षा का उत्तरदायित्व है। उसका पारिवारिक जीवन अधिक सरस नहीं, अपितु शुष्क एवं नीरस है। रोगियों को देखने, उनके दुःख दर्द सुनने में शायद ही किसी को संसार में आनंद तत्व की उपलब्धि होती हो। इसके अतिरिक्त यदि मालती के क्रिया कलापों उसके अंतरमन और उसकी भावनाओं की परीक्षा की जाए तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाएगा कि मालती के अपने सपने थे, आकांक्षाएं थीं, और उसकी पारिवारिक परिस्थितियाँ एवं विवशताएं उसमें बाधक थीं। हर नारी की स्वाभाविक इच्छा *विवाहित जीवन व्यतीत करने और मातत्व का उत्तरदायित्व पूरा करने की होती है।* पश्चिम में यह भावना भले ही बल न प्राप्त कर सकी हो, पर भारतीय चेतना में यह बात अत्यन्त सशक्त है। अपनी भावनाओं के प्रति जो सशक्त प्रेम था, मालती को उसे दमित करना पड़ा, मात्र अपने परिवार एवं उत्तरदायित्व के लिए। पर ये भावनाएं वस्तुतः अवचेतन में चली गईं। जहाँ वे सदैव ही क्रियाशील रहीं और मालती को विभिन्न दिशाओं में ले जाती रहीं। मालती भी ममत्व प्रदर्शित करना चाहती थी, और उसकी यह भावना आगे चल कर मंगल को अपनी ममता प्रदर्शित करने में स्पष्ट होती है। वह मालती, जो गन्दे लोगों से घृणा करती थी उनकी ओर देखना भी नहीं चाहती थी, मंगल को पाकर जैसे धन्य हो उठी, उसकी दमित मातत्व की भावना जैसे साकार हो उठी। यह प्रो० मेहता के कारण हुआ, मैं इसे स्वीकार नहीं करता।

ऊपर कहा जा चुका है मालती की पारिवारिक परिस्थितियां विचित्र थीं। वह घर की एकमात्र कमाने वाली सदस्या थी। यदि वह विवाह कर लेती तो अपनी *मातत्व की इच्छा और अन्य सभी भावनाएं सरलता से पूर्ण कर सकती थी,* पर परिवार संचालन की समस्या बीच में थी। उच्च शिक्षा प्राप्त कर उसने कर्तव्य एवं दायित्व से मुख मोड़ना नहीं सीखा था। वह अपने असहाय माता पिता को कठिनाइयों के बीच नहीं छोड़ना चाहती थी। विवाहोपरान्त अपनी आय का भाग वह इस परिवार को दे नहीं सकती थी क्योंकि यह प्रेमचंद को पसन्द न था और न यह भारतीय परम्परा में ही अनुकूल था। अतः अब मालती को अपनी इच्छा का दमन करना ही पड़ा। पर व्यक्ति केवल उन्माद क्षणों में ही अपना जीवन नहीं व्यतीत कर सकता, विशेष रूप से जबकि उसका एक सामाजिक जीवन भी होता है। मालती इंग्लैंड से उच्च *शिक्षा प्राप्त कर आई थी और हमारे यहाँ के तथाकथित उच्च समाज में घुल मिलकर कोई अपराध नहीं किया था।* उसने अपना गौरव बनाए रखने की बराबर चेष्टा की, और कभी नीचे नहीं गिरी। अगर वह थोड़ी हल्की अपने हाव-भाव में दिखाई पड़ती है, तो उसके लिए उसका अवचेतन मन उत्तरदायी है। वह बराबर पवित्र, उच्च एवं आत्मपूर्ण प्रेम की खोज में रहती है। पर उसकी सोसायटी में सभी उच्छृंखल प्रवृत्ति के स्वार्थी, कायर और रस के [illegible]। एक मेहता ही

अपवाद था, जिसमे शालीनता थी, ऊंचे विचार थे, और आदर्शवादिता थी। मालती उसकी ओर खिंचती चली गई, पर अपनी दार्शनिकता की खोज मे प्रारम्भ मे मेहता को उसकी परख ही न हो सकी, और वह मालती को अपना कोई समर्थन न दे सका। मालती के अन्तरमन मे इसकी तीखी प्रतिक्रिया हुई और जाने-अनजाने उसके अवचेतन मन ने इसे अपमान स्वरूप ग्रहण किया। इसका एक दूसरा रूप भी है। मालती की वे मृत आशाएं, जो मेहता को पाकर सहसा सजीव होने लगी थी, जबर्दस्त रूप से खण्डित होती हैं। पर प्रेमचन्द आदर्शवादी लेखक थे। यही उन्होने यथार्थवाद के साथ आदर्श का समन्वय भी कर दिया और मालती के यथार्थ चित्र को एक आदर्शवाद दिशा दे दी। वे ध्वंसोन्मुख समाज मे निर्माण के बीज अंकुरित करना चाहते थे। उन्होंने यही मालती को एक विशिष्ट दिशा दे दी। इसे मैं पतनोन्मुख समाज को वास्तविक प्रगतिशीलता की ओर ले जाने का प्रेमचन्द का स्तुत्य प्रयास मानता हूँ। वे इसे मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया की भयंकरता नही चित्रित करना चाहते थे। जोशी जी होते, तो कदाचित् अन्त में मालती या तो मेहता की ही हत्या कर देती, या स्वयं आत्महत्या कर लेती। पर जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हू, प्रेमचन्द की आस्था निर्माण मे थी, विनाश में नही। धीरे-धीरे मालती के मन मे छिपी त्याग-वृत्तियां उदित होने लगी, और साथ ही उसके अवचेतन मन मे मेहता से स्पर्धा को भावना भी उत्पन्न हो गई थी। वह भी ऊंचा उठना चाहती थी, और मेहता की भांति अपने व्यक्तित्व को गम्भीरता एवं सौम्यता प्रदान करना चाहती थी। इसमें उसे अपने इच्छानुकूल के संस्कारो की यथेष्ट सहायता मिली, और अन्त मे तो वह हमें एक आदर्श रमणी के रूप मे दिखाई पडती है।

मालती के चरित्र के सूत्रो को यदि हम एक स्थान पर एकत्रित करें तो वे इस प्रकार होंगे—मालती मृदुभाषिणी है। मन मे कोई ईर्ष्या या द्वेष न रखने वाली है। कर्तव्य-परायणता उसमे कूट-कूट कर भरी हुई है। हाजिर जवाबी में कुशल है। संवेदनशील है। पुरुष मनोविज्ञान की कुशल ज्ञाता है। बुद्धिमती है, स्वाभिमानी है, और प्रतिभावान है। उसमे ममत्व है, और त्याग की अनुपम भावना है। वह अच्छे संस्कारो वाली आदर्श नारी है। वास्तव मे वह परिवर्तित युग की उस नारी का चित्रण है, जिसकी नब्ज प्रेमचन्द ने सशक्त रूप मे पहचानी थी, और मालती ने ही आगे आने वाले युग के प्राय सभी उपन्यासकारो को एक नई दिशा दी। यथार्थवादी दृष्टि दी। बाद की अधिकाश नायिकाए मालती का ही विकसित रूप हैं। मालती अन्त मे धीरे धीरे उच्चता के शिखर की ओर अग्रसर होती जाती है, और अन्त मे तो वह जैसे स्वयं अपने प्रति तटस्थ हो जाती है, उसकी अपनी सारी भावनाए और इच्छाएं समाप्त हो जाती हैं। वह अब मेहता की पत्नी बनने की आकांक्षा नहीं करती। वह पति पत्नी की तरह न रहकर मित्र बनकर सहयोग की भावना से काम करने को ही गौरवपूर्ण समझती है। इसके पीछे भी मनोवैज्ञानिक कारण है, जिसे

हम पारिभाषिक शब्दावली म सैडिज्म (Sadism) और मसोचिज्म (Masochism) कह सकते हैं, अर्थात् दूसरो को पीड़ा देकर वह आनन्द की उपलब्धि करता है या दूसरा से पीड़ित होने म ही वह सुखी होता है। यह कथाकार का कौशल ही होता है कि पाठक तो समझता है कि अब मेहता और मालती का मिलन होगा पर अप्रत्याशित ही मालती के इस निर्णय को प्रस्तुत कर लेखक पाठको की मन स्थिति को झकझोर देता है।

आलोच्य काल म भारत को स्वाधीनता न प्राप्त हुई थी, और गाधी जी के राजनीति के क्षेत्र म उदय के साथ राजनीतिक एव सामाजिक परिस्थितियो म अनेक परिवर्तन उपस्थित हुए। उन्होने नारियो को अपन अधिकारो क साथ अपन दायित्व को भी समझने की प्रेरणा दी। और उनस राजनीति म आन और देश के स्वाधीनता आदोलन को आगे बढान की अपील की। यह नारिया क लिए एक प्रकार स नवीन बात थी। अभी तक उनका कार्यक्षेत्र घर की चार दीवारी क भीतर ही समझा जाता था, और गृहस्थी का सचालन कर पति को सुख प्रदान करना ही उनका एक-मात्र कार्य समझा जाता था। नारियो ने परिवर्तित परिस्थितियो म अपने प्रति प्रकट किए गए विश्वास की अवहेलना नही की, और वे राजनीति के क्षेत्र में कूद पडी। यद्यपि इसके पीछे अन्य अनेक कारण भी सम्मिलित थे। कभी कभी पति राजनीति मे भाग लेता था, तो उसकी तुलना म अपने को हेय एव पराजित न प्रदर्शित करने के लिए भी नारियाँ राजनीति मे भाग लेती थी। कभी कभी वे स्वय अपनी ही भावनाओ से अनुप्राणित होकर राजनीति म भाग लेना प्रारम्भ करती थी। इसके कारण कुछ भी हो, यह तथ्य प्रमुख है कि नारियाँ नव जागृति से अभिभूत होकर राजनीतिक आदोलनो म भाग लेन लगी थी। उनके सम्मुख पारिवारिक कठिनाइयाँ आती थी, बच्चो की देखरेख की समस्या भी उत्पन्न होती थी, पर उस समय देश म राजनीतिक नशा कुछ इस तरह छाया हुआ था कि नारियाँ इसकी जरा भी परवाह नही करती थी। "कर्मभूमि" (१६३२) की प्रधान नारी पात्र सुखदा मे प्रेमचन्द न यही भाव चित्रित किए है।

सुखदा की परिकल्पना का उद्देश्य प्रेमचन्द द्वारा यह चित्रित करना था कि भारतीय नारियो मे किस सीमा तक प्रगतिशीलता और सजगता आ गई है। व अब अपने कर्तव्य एव उत्तरदायित्व को समझ गई हैं, और सुखदा की भाँति वे राजनीति मे भी भाग लेने को प्रस्तुत हैं। वास्तव म नारियो का राजनीति मे रहकर परिवार सम्भालना थोडा कठिन होता है, जैसा कि सुखदा के सम्बन्ध म भी होता है, पर प्रेमचन्द अन्त मे आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत कर सबके चरित्र म परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं, और यह चित्रित करते हैं कि परिवार एव राजनीति का समन्वय किया जा सकता है। विलासिनी सुखदा एकदम से परिवर्तित होकर देश सेविका बन जाती है, साथ ही अपने साथ सकीना, पुनी, अपन ससुर लाला समरकान्त आदि को भी देशसेवा का व्रत लेन को प्रेरित करती है।

प्रेमचन्द ने विधवा समस्या पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं, पर विधवाओं की स्थापना के अतिरिक्त कोई ठोस सुझाव नहीं उपस्थित कर सके है। अपनी तमाम सारी प्रगतिशीलता के बावजूद भी कदाचित् वे रूढ परम्पराओं से अपने को पूर्णरूपेण मुक्त नहीं कर पाए थे, इसीलिए समाधान का यह एक महत्वपूर्ण अंग हो सकता है। "प्रेमाश्रम" की प्रधान नारी पात्रों में गायत्री एक है, जो विधवा है। उसके पास अपार सम्पत्ति है, और वह अपना वैधव्य जीवन बड़ी पवित्रता एवं अपने स्वर्गीय पति के प्रति पूर्ण भक्ति से व्यतीत करती है। पर जब उसके एकान्त जीवन में ज्ञानशंकर का प्रवेश होता है, तो वह अपने सतीत्व के धर्म से फिसल पड़ती है, और कृष्ण की रासलीला की कल्पनाओं से नीचे उतर कर यथार्थ रूप में ज्ञानशंकर के साथ रासलीला करने लगती है। यह बात यहाँ तक बढ़ जाती है कि ज्ञान की पत्नी आत्महत्या कर लेती है, पर तब भी ज्ञान एवं गायत्री का विवाह नहीं हो पाता। "वरदान" (१६०२) की प्रधान नारी पात्र विरजन भी विधवा हो जाती है, पर उसका और प्रताप का विवाह नहीं ही पाता, जबकि प्रताप ऐसा चाहता था। विरजन कर्तव्य एवं प्रेम के संघर्ष में पड़कर कर्तव्य पथ का अनुगमन करती है। उसके चरित्र के रूप में प्रेमचन्द ने नारी जीवन के सत्पथ का वर्णन किया है। उसके हृदय के विकार उसे कभी पथभ्रष्ट नहीं होने देते—यह प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख दृष्टिकोण था। भारतीय नारी की मर्यादापूर्ण परम्परा उनके आदर्शवादी ताने-बाने में बुनकर आती है, विरजन की परिकल्पना का उद्देश्य लेखक का यही था कि भारतीय नारियाँ विवाहित जीवन में कर्तव्य पथ का अनुसरण ही करती है, और पातिव्रत धर्म को अपना सबसे बड़ा धर्म मानती है। उनके वैधव्य जीवन में प्रेम संघर्ष उत्पन्न करता है, विकास पथ में कठिनाइयां उत्पन्न करता है, पर उनके जीवन में अन्ततोगत्वा कर्तव्य की ही विजय होती है। "प्रतिज्ञा" में भी पूर्णा विधवा है, और पवित्रता से अपना जीवन व्यतीत कर रही थी कि कमला प्रसाद बीच में आता है, और उसे तरह-तरह के प्रलोभन देता है। पूर्णा के सम्मुख उसका भविष्य स्पष्ट न था। स्थायी रूप से उसके जीवन-यापन का कोई साधन न था। उसकी आर्थिक समस्या भीषण रूप में उसके सम्मुख उपस्थित थी। ऐसी परिस्थिति में वह यह भली भांति जानती थी कि वह लाला बद्री प्रसाद और उनके परिवार के सभी व्यक्तियों की दया की पात्री है, और फिलहाल अभी उसे इसी परिवार के टुकड़ों पर पलना है, वह स्वयं भी नहीं जानती थी कि उसकी यह विवशता कब तक बनी रहेगी, और ऐसी दयनीय परिस्थिति में वह कब तक जीती रहेगी। पर जब उसके सतीत्व भंग होने का प्रश्न उठता है, तो वह जैसे सोते से जाग उठती है, और अपनी रक्षा करती है। पर प्रेमचन्द ने जिस प्रकार एक विधवाश्रम की स्थापना की है, वह विधवा समस्या का उचित समाधान नहीं है। वह मात्र आदर्शोन्मुख है, पूर्ण यथार्थवादी नहीं। ये आश्रम विधवा नारियों की समस्या सुलझाने के बजाय दूसरी जाने कितनी समस्याएं उत्पन्न कर देंगे, यह निश्चित है।

नारियों की दयनीय अवस्था का एक विशेष कारण प्रेमचन्द दहेज प्रथा को भी मानते थे। 'सेवासदन' में सुमन[1], और 'निर्मला' में निर्मला[2] इसी दहेज की कुप्रथा का शिकार होती है। पर सुमन को वेश्यावृत्ति से शीघ्र ही निकाल कर प्रेमचन्द ने अपनी आदर्शवादिता का ही परिचय दिया है यथार्थवादी दृष्टिकोण का नहीं। दहेज प्रथा का कारण मध्यवर्ग की अतिशय भावनात्मक और निर्धनता तो है ही, पढ़े लिखे युवक वर्ग की उदासीनता भी है। *समाज की गति कुछ इतनी विचित्र* है कि जिन्हें हम मात पद पर विभूषित करने की बात करते है, वे ही बाजारों में अपनी पवित्रता और अपना नारीत्व बेचने पर विवश होती हैं।[3] पुरुष उसे भाँति-*भाँति के प्रलोभन देता है, और मृगतृष्णा निर्मित कर एक कृत्रिम संसार में उसे जीने* के लिए बाध्य करता है। सुमन के रूप में प्रेमचन्द ने यह यथार्थ चित्रित करके भी उसके चरित्र को आदर्शों मुग्ध अन्त प्रदान किया है।

"प्रसाद" का नारी दृष्टिकोण जितने सन्तुलित रूप में उनके नाटकों में अभिव्यक्त हुआ है, उस रूप में उपन्यासों में नहीं। "कंकाल" में उन्होंने तारा के रूप में वेश्या समस्या पर विचार प्रकट किया है, पर उसका कोई समाधान प्रस्तुत करने में वे सफल नहीं रहे हैं। तारा के रूप में वे यह दिखाना चाहते थे कि जो कन्याएं स्वयं सुधरना चाहें, समाज को उन्हें पूर्ण रूप से सुविधा देनी चाहिये। विवाह का आधार वे धन नहीं प्रेम मानते हैं इसीलिए "तितली" में तितली का विवाह इन्द्रदेव से न होकर बालसखा मधुबन से होता है। वे पाश्चात्य सभ्यता के प्रगतिशील तत्त्वों के बराबर समर्थक थे। इसीलिए तितली के रूप में जहाँ उन्होंने आदर्श भारतीय नारी का चित्रण किया है, वहीं उसे कर्मक्षेत्र में भी प्रवृत्त दिखाया है। मधुबन के चले जाने पर तितली स्वयं ही *कामकाज कर अपना पेट भरती है, पर किसी के सामने* हाथ नहीं फैलाती। यह नवयुग की नारी की एक महान् विजय थी। यही नहीं उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह का भी समर्थन किया है, और "तितली" में अंग्रेज युवती शैला और इन्द्रदेव का विवाह कराते हैं। इन्द्र की माता श्यामदुलारी अभिजात्य

१-२ देखिए अध्याय ६, ७।

३ "It is a matter of bitter shame and sorrow, of deep humiliation that a number of women have to sell their chastity for man's lust Man the law given will have to pay a dreadful penalty *for the degradation he has imposed upon the so called weaker sex* let the Indian man ponder over the fate of the thousands of sisters, who are destined to a life of shame for his unlawful and immoral indulgence It is an evil which cannot last for a single day if we men of India realize our own dignity "

महात्मा गाँधी वीमेन एण्ड सोशल इनजस्टिस (१६५४), अहमदाबाद, पृष्ठ १२६।

कुल की विधवा थी, वर्ण व्यवस्था एवं धर्म में गहन आस्था रखती थी, पर अन्त में उन्हें शैला को बहू स्वीकारना पड़ता है। यह प्रगतिशील तत्वों की विजय थी, जिसे प्रसाद ने अपनी आदर्शवादिता के ताने बाने में लपेट कर प्रस्तुत किया था। उन्हें नारी का विद्रोह नितान्त रूप से भी रुचिकर न था। वे तमाम नारी प्रगतिशीलता के बावजूद भी नारियों को परम्परा के सीमित दायरे में रखना पसन्द करते थे। "कंकाल" में तारा पुरुष वर्ग के प्रेम विलास का खिलौना मात्र ही बन कर रह जाती है। उसमें विद्रोह नहीं सहनशीलता है। भारतीय नारी का आत्मपीड़न एवं करुणा ही उसके व्यक्तित्व का संगठन करती है। वह अपनी व्यथा को चुपचाप पीकर ही जीना चाहती है। अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना उसने न सीखा था। वह दर-दर की ठोकरें खाती है, एक के बाद एक परिस्थितियों से पराजित होती है, पर विषाद एवं असंतोषग्रस्त उसका मन कभी विद्रोह की बात नहीं सोचता। नारी की परिकल्पना का स्रोत प्रसाद को उसी समाज से प्राप्त हुआ था, जहाँ नारी पुरुष की वासना एवं हवस का शिकार होकर केवल ढोंग की सामग्री समझी जाती है, इसके अतिरिक्त उसका अस्तित्व शून्य समान होता है। नारी छली जाती है, इसकी मर्यादा खंडित होती है, और तत्पश्चात् उसे दर-दर की ठोकरें खाने के लिए बाध्य कर दिया जाता है। प्रसाद ऐसी ही नारी का चित्रण कर समाज की आँखें खोलना चाहते थे, पर अपनी आदर्शवादिता के कारण वे इसमें सफल नहीं हो पाए।

"पिया" नामक उपन्यास में उषा देवी मित्रा ने विधवा समस्या पर अपने आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टिकोण अभिव्यक्त किए हैं। पुरुष छिप-छिप कर अपनी वासना तो शान्त करता है, पर जब नारी एक शिशु का बोझ धारण कर लेती है, तो वह मुँह चुराता है। आखिर इसका समाधान क्या हो? वे कहती हैं, पुरुष को अपना नैतिक दायित्व समझ कर साहस प्रदर्शित करना चाहिए, और उस अबला नारी से निश्चित रूप से अपना विवाह कर लेना चाहिए। "पिया" में नीलिमा पर उसकी छोटी बहन कविता का पति सुकान्त डोरे डालता है, और अन्त में सफल भी हो जाता है। फलस्वरूप नीलिमा गर्भवती हो जाती है। सुकान्त लोक-लाज के भय से गर्भपात कराने का परामर्श देता है, किन्तु कविता को जब यह ज्ञात होता है, तो वह इसका तीव्र विरोध करते हुए अपनी बहन से कहती है, "तुम हत्या न करो। जिसको मन से पति रूप में ग्रहण किया है, एक निष्ठ प्रेम किया है, उससे विवाह करो।"[1] यही नहीं कविता में मानव मन की दुर्बलता एवं उसकी विवशताओं को समझने की इतनी प्रवृत्ति है कि वह अपनी माँ से कहती है, इन बेचारी को कोसना व्यर्थ है। वह अशिक्षित है, एवं जन्म से ही पीड़ाग्रस्त है। दुनिया ने आखिर उसे क्या दिया? उसे दिया गया अविराम लाछना, परिहास और दरिद्रता, केवल परिश्रम एवं नियमों का एक काला पहाड़। ज़रा सी सहानुभूति भी नहीं थी उसके लिए। इन ग्रामीण विधवा के सहारे के लिए एक तिनका भी तो नहीं दिया गया था।

१. उषा देवी मित्रा : पिया, पृष्ठ १६०।

समाजवादी परिकल्पना संबंधी दृष्टिकोण

समाजवादी विचारधारा के अन्तर्गत सामाजिक वैषम्य को अस्वीकृत किया गया है। वे ऊँच नीच, वर्ग भेद आदि को नहीं मानते, और समता के सिद्धांत को स्थापित करना चाहते हैं। नारियों का वास्तविक स्थान भोग विलास और ऐश्वर्य की दृष्टि भी नहीं साधारण दाम्पत्य जीवन निर्वाह करने में है। यशपाल ने "दिव्या" और भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' में यही समाजवादी आदर्श ग्रहण किया है। इन उपन्यासों की नायिकाएं क्रमश: दिव्या और चित्रलेखा दोनों ही वैभव एवं विलास तथा ऐश्वर्य को ठुकरा कर साधारण दाम्पत्य जीवन को महत्व प्रदान करती हैं।[1] यशपाल मार्क्सवादी उपन्यासकार हैं। वे सर्वहारा वर्ग की क्रांति के प्रति आस्थावान हैं। अपने उपन्यासों में उन्होंने अधिकांश रूप में अभिजात्य वर्ग या मध्यवर्गीय नारी पात्रों की कल्पना की है। उनके नारी पात्रों के सम्मुख दो महत्वपूर्ण कार्य रहते हैं। एक तो अपने सर्जनकर्त्ता की प्रगतिशीलता सिद्ध करने के लिए सामाजिक परम्पराओं एवं मान्यताओं के प्रति विद्रोह करना, दूसरे साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार करना और अपनी पार्टी के लिए पूँजीवादी शोषण एवं साम्राज्यवादी शासन के नाश के लिए आवाज उठाना। "दादा कामरेड" में शैला का चरित्र इसी प्रकार का है।[2] इसी उपन्यास में दूसरी प्रधान नारी पात्र यशोदा हरीश के प्रभाव में आकर राजनीतिक कार्यों में भाग लेने लगती है, पर अपने पति से कुछ नहीं बताती। शंका होने पर उसके पति सोचते हैं, "मैं आठ वर्षों में कुछ न हुआ, और वह एक ही दिन में इतना हो गया?" अपनी ही आँखों के सामने वे अपने आपको अपमानित और निकृष्ट जीव अनुभव करते। जिस मनुष्य की स्त्री उसे निकम्मा समझे उस मनुष्य का जीवन भी क्या? क्या यशोदा को दण्ड देने की भावना उसके मन में आती। उस उसके मायके भेज दें और कभी न बुलायें। या घर से निकाल दें? दूसरे आदमियों से दोस्ती करने का मजा उसे मिल जाये। स्त्री स्वभाव से ही चंचल होती है। यशोदा तो कभी चंचल दिखाई नहीं दी परन्तु स्त्री का क्या विश्वास। स्त्री पतन और अनाचार का मूल है, उसका कभी नहीं विश्वास करना चाहिए।"[3] और कदाचित् उसे मात्र वासना और भोग की सामग्री मात्र ही समझना चाहिए? यशपाल इसी प्रसंग में नारी की स्वतन्त्रता की बात भी करते हैं। वे कहते हैं, किसी का अपना बना लेने का मतलब भी तो किसी की हो जाना ही है। जहां स्त्री का अपना कुछ शेष नहीं रह जाता। यदि स्त्री को किसी न किसी की बनकर ही रहना है, तो उसकी स्वतन्त्रता का अर्थ ही क्या हुआ? स्वतन्त्रता शायद इसी बात की है कि स्त्री एक बार अपना मालिक चुन ले, परन्तु

१ विशेष विवरण के लिए देखिए अध्याय ६।

२ देखिए अध्याय ५।

३ यशपाल दादा कामरेड, (१९४१), लखनऊ, पृष्ठ १४६।

गुलाम उसे जरूर बनता है।[1] यह सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग नहीं तो और क्या है? और फिर बात चाहे जिस प्रकार कही जाए, शैला इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

यशपाल का नारी चित्रण सम्बन्धी दृष्टिकोण मात्र सेक्स पर आधारित है यद्यपि उन्होंने—इसे समाजवादी प्रगतिशीलता का नाम दिया है। उनकी नारियाँ अपने नारीत्व को असहनीय बोझ समझती हैं और किसी भी पुरुष का संस्पर्श स्थापित होते ही नारीत्व के उस बोझिले आवरण को उतार कर लज्जाहीनता, बेहयाई और मर्यादाहीनता को आत्मसात् करने में वे नारी का गौरव समझते हैं। यही यशपाल की प्रगतिशील विचारधारा है, जो नारियों में यौन सबधों के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखती, हालांकि कहीं-कहीं नारियों के 'अधिकारों' उसकी 'यातनाओं' तथा उसकी 'स्वतन्त्रता' की भी लीपा-पोती की गई है। उनके नारी पात्रों का व्यक्तित्व सामन्ती युग की मान्यताओं के प्रति विद्रोह करने में ही अपने कर्त्तव्य की परिणति समझता है और किसी की अंकशायिनी बनने में लक्ष्य की प्राप्ति और जीवन उद्देश्यों का अन्त। उन्होंने इस बात का प्रचार किया है कि इस देश में बिना जाने-बूझे पुरुष को पति रूप में स्वीकार कर लेना स्त्री के आत्मसम्मान का हनन करता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि विवश होकर कोई स्त्री या तो वेश्या बनती है या पतिव्रता। यशपाल ने उस रोमांटिक प्रेम का पर्दाफाश करने का प्रयत्न किया है, जो पूँजीवादी संस्कृति की देन है, और जिससे नारियाँ 'अनैतिकता' की राह पर अग्रसर होती हैं। यशपाल का विश्वास है कि आधुनिक पूँजीवादी समाज में प्रेम एक सौदा मात्र है। नारी एक आश्रय चाहती है, जिसे प्रेम का नाम दिया गया है। उनके अनुसार और सब चीजों की तरह जीवन में प्रेम की गति भी द्वन्द्वात्मक है। प्रेम जीवन की सफलता और सहायता के लिए है। यदि प्रेम बिल्कुल छिछला और थिथला रहे तो वह असंयत वासना मात्र बन जाता है। जीवन में अड़चन के रूप में प्रेम नहीं चल सकता। नारी के लिए प्रेम का परिणाम केवल रक्त है—हृदय का रक्त अथवा शरीर का रक्त। पुरुष केवल ठोकर मारकर चला जाता है। यही उसका भाग्य है और यही उसका गौरव है। नारी की इन समस्याओं को यशपाल ने अपने समाजवादी दृष्टिकोण से सुलझाने का प्रयत्न किया है, पर प्रचारवादिता की छिछली मनोवृत्ति के कारण वह एक विद्रूप ही बन कर रह पाया है। न वह पूर्ण रूप से समाजवादी दृष्टिकोण ही है, और न प्रचारवादी दृष्टिकोण ही। वह दोनों के मध्य विडम्बना मात्र बन कर रह गया है, जो बड़ा हास्यास्पद प्रतीत होता है।

यशपाल अपने समाजवादी दृष्टिकोण के आधार पर नारियों को परामर्श देते हुए कहते हैं, "पुरुषों के सन्देह और बेमतलब नाराजगी की बहुत परवाह

---

१. यशपालः दादा कामरेड, लखनऊ, पृष्ठ ३७।

करने से या तो केवल उनके जेब के रूमाल की तरह रहो, स्वयं सोचना अपने जीवन की बात करना छोड़ दो। या फिर उन्हें सोचने दो — अपने आप समझ जायेंगे अब तक स्त्रियाँ रही हैं मर्दों के व्यक्तिगत इस्तेमाल की चीज़। यदि व अपने व्यक्तित्व को जरा भी अलग से खड़ा करने की चेष्टा करेंगी तो उंगली ला जरूर उठेगी। लेकिन थोड़े दिन बाद नहीं। जरा हिम्मत करो। पुरुषों को सहने का अभ्यास होना चाहिए कि स्त्रियाँ भी अपना व्यक्तित्व रखती हैं।'[1] कदाचित् नारियों के इसी स्वतन्त्र अस्तित्व की परिणति "दादाहोही' में हुई है जब अपने पति की मृत्यु का झूठा समाचार सुन कर थोड़े ही दिनों के भीतर राजदुलारी कन्या राजनीतिक बंदीवाद् से विवाह कर लेती है, और जब अन्त में पति राज के द्वार पर मरणासन्न अवस्था में पहुँचता है, तो राज घर में जा छिपती है। अपने पति को देखने भी नहीं आती, क्योंकि उसका कर्त्तव्य (!) उस ऐसा करने नहीं देता। आखिर वह कर्त्तव्य कैसा था? क्या सहज मानवीय संवेदना और सहानुभूति भी कर्त्तव्य के नाम पर ठुकराई जा सकती है? जब चिता की अग्नि भी नहीं ठण्डी हुई थी, तभी राज ने दूसरा विवाह कर लिया था, जबकि वास्तविकता यह थी कि चिता में अग्निशिखा प्रवाहित हुई ही नहीं थी, तब क्या राज के पावों कर्त्तव्य की बेड़ियाँ न थीं? यशपाल के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं। उनके अधिकांश नारी पात्र "प्रगतिशीलता" की दोहाई देते हैं। उन नारियों से अपने नारीत्व का "बोझ" नहीं सहा जाता और वे उस "बोझ" को किसी भी क्षण उतार फेंकना चाहती हैं। या यह भी कि व अपने नारीत्व पर क्षुब्ध होती रहती है, और अवसर पाते ही किसी स भी शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने जन्मदाता से जवाब तलब करती रहती हैं।

अश्क जी का दृष्टिकोण भी समाजवादी आधार भूमि पर निर्मित हुआ है। उनके विचार से नारियाँ केवल वासना एवं हवस की सामग्री मात्र समझी जाती हैं। पति भी अपनी पत्नी को छोड़कर दूसरी नारियों के पीछे भागता रहता है। 'गिरती दीवारें" (१९४७) में नायक चेतन अपनी पत्नी चन्दा को प्यार नहीं करता। क्योंकि चन्दा सुन्दर तितली नहीं है। उसका सबसे बड़ा दोष है कि वह सरल एवं अबोध है। उसमें आधुनिकता नहीं है, फैशन एवं विलासिता नहीं है। इसके विपरीत उसकी बहन सुन्दर है, फैशन परस्त है, और चेतन को अपने मोहपाश में आबद्ध किए रहती है। शादीराम भी अपनी पत्नी पर अत्याचार करता है जब कहीं जाता है, तो बाहर से ताला लगा जाता है, और बात-बात पर अकारण सन्देह करता है। वास्तव में इसका कारण अश्क जी के अनुसार समाज की स्थिति ही थी, जो निरंतर पतनावस्था की ओर अग्रसर हो रहा है। "भूचाल" पत्र के सम्पादक लाला जीवनलाल अपने पत्र की लोकप्रियता बढ़ाने और अतृप्त युवकों की "दबी हुई वासना की भूख मिटाने के लिए एक्ट्रेसों की दुख भरी आप बीतियाँ छापते हैं।

१ यशपाल दादा कामरेड, लखनऊ, पृष्ठ १५० ।

वे यूरोप के पापियों की जीवन गाथाएं, पतन के ज्वालामुखी पर खड़े यूरोप में सुन्दरियों के मुकाबले, यौवन की सामग्री कहने वाली तन्वांगियों की जीवन की कहानियां भी अपनी ओर से नमक मिर्च लगाकर अपने पत्र में निरन्तर छापते रहते।"[1] इसमें कुन्ती, प्रकाशो, केशर, मुन्नी इसी प्रकार की नारी पात्र हैं, जो केवल पुरुष की बाहों में बधने के लिए और उसकी वासना की शान्ति के लिए हैं।

रांगेय राघव का समाजवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण उनके दो उपन्यासों 'मुर्दों का टीला' (१९४६), तथा 'घरौंदे' (१९४१) में अभिव्यक्त हुआ है। पश्चिमी सभ्यता ने भारतीय नारियों की बड़ी दुर्गति की है। "घरौंदे" में लवंग तथा उषा ऐसी ही नारियाँ हैं। लवंग तो पतन की किसी भी सीमा तक जा सकती है। वह अपने प्रोफेसरों के हाथ अपना सतीत्व बेचती है, और अपने स्वार्थ की पूर्ति करती है। पश्चिमी सभ्यता ने नारियों का आदर्श इतना गिरा दिया है कि वे समझने लगी हैं, "प्रेम पुरुष और स्त्री के मानसिक व्यभिचार का दुष्परिणाम है, क्योंकि प्रेम की असली वेदना है, हमारे समाज की युग-युगान्तर का निषेध और जो वस्तु निवृत्ति के झूठे स्वरूप की छाया है, वह कभी भी ग्राह्य नहीं हो सकती।"[2] लीला भी अत्यधिक आधुनिक नारी के रूप में चित्रित की गई है, जो माता-पिता का अस्तित्व पांव की जंजीरें समझती हैं। माँ कहकर नारियों का गला घोंटा गया है, वर्ना वह महाभारत में पढ चुकी है कि नारियाँ कभी गायों की स्वतन्त्रता का अनुभव करती हैं। इस उपन्यास की सभी नारी पात्र नारी स्वातन्त्र्य चाहती हैं। सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता चाहती हैं अपनी भावनाओं की अनियमित पूर्णता चाहती हैं। "वह बोर्जुआ लड़कियां! साम्राज्यवाद को वह बुरा समझती हैं, मगर रेडक्रास के फन्ड के लिए नाच गा सकती है चाहे वह साम्राज्यवादी युद्ध के लिए ही चन्दा क्यों न हो रहा हो। समाजवाद भी ठीक है मगर अपनी गरीबी नहीं। पार्टियों में इश्क लड़ाती हैं और सतीत्व का भयंकर पर्दा भी उन पर पड़ा रहता है। यह हिन्दुस्तान का अजीब वर्ग था, जहां स्त्री न पूर्व की थी, न पश्चिम की, जहां आजादी और गुलामी का ऐसा विचित्र सम्मेलन हुआ था कि न कोई आगे जाने की राह थी, न पीछे हटने की ही। अपने ही भीतर ऐसी कश्मकश थी कि निरुद्देश्य, दिन पर दिन समय का कुछ पुरानी की जगह नई रूढ़ियों में कट जाना आवश्यक था।"[3] यह वह नारी थी, जो पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित होकर अपनी परम्पराओं को भूलती जा जा रही थी, और तथाकथित प्रगतिशीलता के नाम पर अपना सतीत्व, अपना धर्म, प्रेम एवं अपना यौवन सरे बाजार नीलाम कर रही थी।

---

१. उपेन्द्र नाथ अश्क. गिरती दीवारें, (१९४७), इलाहाबाद, पृष्ठ ६४६।

२. रांगेय राघव : घरौंदे, (१९४१), बनारस, पृष्ठ ४५।

३. वही, पृष्ठ ६१।

इसी उपन्यास में यह भी चित्रित किया गया है कि वेश्या का जीवन भी विधवा जीवन से कुछ भिन्न नहीं है। नादानी वेश्या को अपना जीवन रुचिकर नहीं। वह कामेश्वर से उबारने को कहती है, पर वह ऐसा नहीं करता। रांगेय राघव के दृष्टिकोण में विवाहित नारी और वेश्या में कोई अन्तर नहीं। वेश्या एक गन्दी बरसाती नदी की भाँति है, जिसमें समाज के सभी वर्गों के पुरुष स्नान कर भी गन्दे नहीं होते, नीचे एवं पतित नहीं कहलाते। वे समाज के सभी सम्मान के पूर्ण अधिकारी होते हैं। नादानी वेश्या कहती है 'तुम स्त्री को दासी बनाना चाहते हो ! हमारी चीख में तुम्हारा समाधान है हमारी हँसती सिसक में तुम्हारी विजय। हम अपराध सहती हैं, स्वयं रो लेती हैं, इसीलिए कि पाप से घृणा करती हुई भी आगे आती हैं। अपराध स्वीकार करा देने पर भी किन्तु होती हैं हम ही अधिक अपराधिनी ! पुरुष की भूल की भाँति नारी की भूल क्षणिक नहीं होती।"[1] सत्य तो यह है कि सामंती राज्य की नारी एक वेश्या है। घर की बेजान चीजों की स्वामिनी, जीवन्त मनुष्यों की दासी। वह आर्थिक परतन्त्रता की शृंखलाओं में जकड़ी हुई है। वह क्या जीवन है, जब अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रहे, दूसरों के आश्रय पर साँस लेनी पड़े, जीवित रहना मात्र ही तो सब कुछ नहीं है ? सतीत्व पूँजीवाद को बनाए रखने का एक ढकोसला है, रूढ़ि भरे धर्म की एक दाई है। ऐसी व्यवस्था में नारी का कोई कल्याण नहीं। वह कभी विकास नहीं कर सकती, दलदल से उबर नहीं सकती। रांगेय राघव के दृष्टिकोण से नारियों की दुरवस्था का कारण सामाजिक व्यवस्था की बागडोर पुरुषों के हाथों में रहना ही है।" अब स्त्री का दिल स्वयं इतना गुलाम है कि वह औरत का मुँह खोले नहीं देख सकती। कँटीबाल नरमांस खाकर प्रसन्न होता है, उसके सामने इससे बढ़कर सत्य ही नहीं। यही दशा स्त्री की भी है।"[2] हालाँकि नारियों में यथेष्ट मात्रा में दूरदर्शिता होती है, और पुरुषों की तुलना में वे भी विषम परिस्थितियों का सामना करने में समर्थ होती हैं। "मुर्दों का टीला" (१९४६) की प्रधान नारी पात्र नीलूफर इसी का प्रमाण है। वह गुलाम लड़की है, और उसे मणिबन्ध खरीद कर विवाह का आश्वासन देता है। इससे पूर्व नीलूफर ऐश्वर्यशाली जीवन के सपने भी देखा करती थी। पर जब वह ऐसे जीवन में प्रवेश करती है, तो प्रसन्न नहीं रह पाती। उसकी आत्मा एवं मन को सन्तोष नहीं प्राप्त होता। एक नारी के जीवन में धन और ऐश्वर्य ही केवल आवश्यक नहीं है। जब तक पति का पवित्र एवं निश्छल प्रेम उसे प्राप्त न हो। अन्य सभी बातों का महत्व गौण हो जाता है। नीलूफर इसका अपवाद न थी। वह राजप्रसाद से भाग जाती है, पुरुष वेष धारण कर नागरिकों में विद्रोह फैलाती है और जब उसे विल्लिभितूर नामक निर्धन चित्रकार का आश्रय मिलता है, तो वह उसे पति मान

१ रांगेय राघव : घरौंदे, (१९४१), बनारस, पृष्ठ २९५।

२ वही, पृष्ठ १७६।

लेती है। नीलूफर जैसे उन नारियों की प्रतिनिधि सी है, जो विवशता एव विषमताओं के बीच भी अपना नया जीवन पथ निर्मित करना चाहती है, साहस नही खोती, धैर्य के साथ नए सवेरे की प्रतीक्षा करती है। वह साधारण नारियों की भांति दाम्पत्य जीवन व्यतीत करना चाहती है, क्योंकि वही नारी जीवन का चरम लक्ष्य है। वह न ऐश्वर्य चाहती है, न गौरव। वह केवल विल्लीभिन्तूर के साथ साधारण रूप से रहना चाहती है। वह इससे पूर्ण रूप से सतुष्ट होती है,"अब भोर अपनी होती है। सांझ अपनी होती है। कही कोई हाहाकार नही। विवशताओ मे भी हम सुखी है। न दासत्व न स्वामित्व। न किसी से कुछ मांगते हैं, न किसी को कुछ देते है। व्यापार, राज्य, अधिकार, यह सब हाहाकार की जड है। प्रसिद्धि मनुष्य की शान्ति की सबसे बडी शत्रु है, जो उसके हृदय की कोमलता का हनन करती है। उसे एक क्षण चैन से नही बैठने देती। हृदय की पूर्ण परितृप्ति आसक्ति और प्रेम मे है, न कि दूसरो को अपने आधीन करें।"[1] स्पष्ट है कि नारी सम्बन्धी यह दृष्टिकोण समाजवादी भावना से ओत प्रोत है।

राहुल सांकृत्यायन ने भी अपने उपन्यासो मे समाजवादी दृष्टिकोण से भारतीयो के परम्परागत आदर्शों के चित्रण करने का प्रयत्न किया है। "सिंह सेनापति" (१९४२) मे प्रधान नारी पात्र भामा मे वीरोचित साहस एवं प्रबन्ध कुशलता है। मगध द्वारा वैशाली के गणराज्य पर आक्रमण की स्थिति मे वह घर की चार दीवारी मे नही रहती। वह बाहर आकर लिच्छवि नारियों की परिषद् का सगठन करती है, और उन्हें युद्ध नीतियो एवं आवश्यकता पड़ने पर अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग की विधि सिखाती है। युद्ध प्रारम्भ होने पर घायल सैनिकों का उपचार, उनकी सेवा करना, मृतको का दाह-संस्कार करना एवं अन्य युद्ध आवश्यकताओं का भामा बखूबी निभाती है। उसमे अपूर्व वीरता, रणकौशल, साहस एवं त्याग की भावनाएं सन्निहित हैं। इसी उपन्यास की दूसरी प्रधान नारी पात्र रोहिणी भी लगभग भामा की ही भाँति नारी है। स्वर्णालंकारों को वह नारी की परवशता का प्रतीक समझती है। वह खेतो मे काम करती है और परिश्रम करके पेट भरने को ही अपने जीवन का उद्देश्य समझती है। यह मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित राहुल जी का दृष्टिकोण है। स्वदेश की रक्षा के लिए अपने पति को रणक्षेत्र मे भेजने और स्वयं भी भाग लेने मे वह गौरव का अनुभव करती है। वह कहती है, "हम गान्धारियों के लिए वह सबसे आनन्द का समय होता है, जब हमारा प्रिय रणक्षेत्र के लाल कर्दम से सने शरीर के साथ लौटता है। जानते हो मैं अपनी सहेलियों से बड़े अभिमान के साथ तुम्हारे हाथ के उस खंग चिन्ह के बारे मे कहा करती हूँ। खंग चिन्ह से बढकर भूषण नही, उससे बढ़कर गौरव का कोई चिन्ह नही।"[2] राहुल के दूसरे उपन्यास "जय यौधेय" (१९४४) में भी लेखक

१. रांगेय राघव : मुर्दों का टीला, (१९४६), पृष्ठ २६६।

२. राहुल सांकृत्यायन : सिंह सेनापति, (१९४२), इलाहाबाद, पृष्ठ ४७।

के इसी आदर्श का चित्रण हुआ है। वसुन्दा की वीरता साहस धर्यशीलता एव दूरदर्शिता भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्पराओ का पुन सजीव करने के लिए ही चित्रित की गई है। राहुल नारियो की हीनावस्था के पीछे इस पुरुष वर्ग को ही उत्तरदायी समझते हैं। यह पुरुष ही नारियो को अपनी वासना एव हवस की शान्ति के लिए साधन बनाता है, और अनेक प्रकार के पापाचरण कर उन्हे पथभ्रष्ट करता है। "आज की नारी जो कुछ है उसके बनाने म पुरुष का ही हाथ है, नारी के लिए कोई और नही, यही पुरुष विधाता है।"[1] राहुल के इस दृष्टिकोण म पर्याप्त सत्यता है। वस्तुत नारियों को अपनी हीनावस्था स उबरने के लिए स्वय ही मूल सकल्प होना पडेगा। कोई वाह्य शक्ति उनकी स्थिति म परिवतन नहीं ला सकती। राहुल अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष मे है क्योकि प्रेम की पवित्रता एव उसके आदर्श के प्रति वे आस्थावान् हैं। प्रेम की सबस बडी परीक्षा उसका निर्वाह ही है। यही उनकी दृष्टि से प्रेम की पवित्रता भी है, चाहे विवाहपूर्व ही कोई नारी गर्भवती क्या न हो जाए। "जीने के लिए" (१६३६) म जैनी आक्सफोर्ड क प्रोफेसर की पुत्री है, और देवराज नामक भारतीय युवक से प्रेम करती है। जेनी विवाह पूव ही गर्भवती हो जाती है, पर जेनी इससे विचलित नही होती। वह इस अपने प्रेमी का उपहार समझ कर पालती है।[2] जेनी स्वभाव की उदार एव मदुभाषिणी है। प्रेम ही जीवन है। माँ बनने के पूर्व वह देवराज को ही अपना सारा प्रेम समर्पित करती है, किन्तु सतानोत्पत्ति होने के पश्चात् वह दोनो को समान रूप से प्रेम करती है और अपने पुत्र को पढाती लिखाती है, आगे बढने की प्रेरणा देती है।

व्यक्तिवादी परिकल्पना सबधी दृष्टिकोण

उत्तर प्रेमचन्द काल मे हिन्दी उपन्यासकारो म पश्चिमी उपन्यासकारो के दृष्टिकोण के आधार पर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। सभी मे मौलिक होने की प्रवृत्ति का प्राधान्य होने लगा था[3] और व सभी अपनी अपनी व्यक्तिगत विचारधारा समाज की प्रत्येक समस्याओ पर अभिव्यक्त करने लगे थे। चाहे प्रेम की समस्या हो, विधवा, या वेश्या समस्या हो, जीवन जीने की समस्या

---

१ राहुल सांकृत्यायन जय यौधेय, (१६४४), इलाहाबाद, पृष्ठ २२८।

२ राहुल सांकृत्यायन जीने के लिए, (१६३६), छपरा, पृष्ठ २०२।

३ "It has become so easy and so natural a thing to express one's own originality to one self, and to draw up a programme that all beginners are or to want to be original, all are leaders of some school or other, the result is that there is no longer any real school"

—लुई केजामियाँ ए स्टडी ऑव इगलिश लिट्रेचर, (१६५०) लन्दन, पृष्ठ ३८७।

हो, विवाह की समस्या हो, या विवाहित जीवन में प्रेम एवं कर्तव्य के निर्वाह की समस्या हो, उनका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ही विकसित हो रहा था। वे व्यक्ति को समाज से अलग कर उसके व्यक्तिगत विकास एवं व्यक्तिवादी विचारधारा जैसी बातें अपने उपन्यासों में चित्रित करने लगे। विदेशों में इस प्रवृत्ति की शीघ्र ही तीखी प्रतिक्रिया हुई और इस धारणा का कि व्यक्ति समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है, वह एक प्रकार से समाज के नियमों का पालन करता है, और उस पर आश्रित रहता है, पुनः विश्लेषण कार्य नए सिरे से प्रारम्भ हुआ।[1] यद्यपि डेविड ह्यूम ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ट्रीटाइज ऑव ह्यूमन नेचर" (१७३६) में इसको बड़ा बेतुका और अनुपयोगी सिद्ध करने की चेष्टा की है, पर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का विकास धीरे-धीरे होता रहा। हिन्दी में इस प्रवृत्ति को प्रश्रय देकर अनेक उपन्यासकारों ने अपने नारी पात्रों की परिकल्पना की, और समाज की चिर-प्रचलित मान्यताओं को ठुकरा कर व्यक्तिवादी ढंग से उनका चारित्रिक विकास चित्रित किया। पूर्व प्रेमचन्द काल में इस दृष्टिकोण के विकसित न होने का कारण यही है, क्योंकि इस युग के लेखकों ने इसकी कल्पना ही नहीं की थी कि समाज से भी अलग किसी व्यक्ति की सत्ता हो सकती है। वे अपनी नायिकाओं एवं अन्य नारी पात्रों को समाज से संबंधित करके ही उनका चित्रण करने का प्रयत्न करते थे। इस युग की नायिकाओं एवं नारी पात्रों का स्वरूप समाज एवं परिवार तक ही सामान्यतः सीमित था, इससे भिन्न उनकी कोई सत्ता न थी। प्रेमचन्द और उनके सहयोगी भी व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता और समाज की तुलना में उसके अत्यधिक महत्व में विश्वास नहीं रखते थे।

भगवती प्रसाद वाजपेयी ने अपने कुछ उपन्यासों में नारी समस्याओं पर विचार किया है, जिनसे उनके व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है, "पतिता की साधना" (१९३६) में उन्होंने मुख्य रूप से विधवा समस्या एवं विधवा के जीवन निर्वाह के आर्थिक प्रश्न को उठाया है। उनके दृष्टिकोण से विधवा समस्या समाज का एक भीषण अभिशाप है, और यदि उसका निराकरण न किया गया, तो निश्चय ही यह सारी व्यवस्था नष्ट हो जायेगी। नन्दा बाल-विधवा है। उसका जीवन अभिशापों से ग्रस्त है। उसे कभी सुख नहीं मिला। असन्तोष एवं दारुण दुःख की भीषण ज्वाला उसके मन में भीतर ही भीतर सुलगती रहती है। वह कहती है, "कौन कहता है तुम विधवा हो? कौन कहता है तुम्हारा विवाह हुआ था, या तुमने पति नाम की किसी वस्तु को प्राप्त किया था? वह तो एक खेल था। पुरुषों का नहीं, बच्चों का भी नहीं, इस अन्धे समाज का, हिन्दू जाति की अधोगति के कंगाल का, जिसे नष्ट होना है, जिसका नाश ही अभीष्ट है।"[2] नन्दा समाज एवं उसके नियमों को ठुकरा देती है। उसका स्थान न मायके में है, न पिता के घर। पिता की

१. इयान वॉट : द राइज ऑव द नॉवेल, (१९५७), लन्दन, पृष्ठ ६३।

२. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : पतिता की साधना, (१९३६), इलाहाबाद, पृष्ठ १९९।

मृत्यु के पश्चात् उसके दोनों भाई नन्दा को अपने ऊपर भार समझते है। यही प्रश्न उठता है कि विधवा नारी अपना यह जीवन कैसे जीए? अपनी आर्थिक परतन्त्रता की शृंखलाओं को वह कैसे तोड़ फेंके? नन्दा की विवशता का लाभ उठाकर हरिनाम उससे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, जिससे वह गर्भवती हो जाती है। अन्त में यह समाज ही, उसे माया नाम की वेश्या बना देता है। इस सारी प्रक्रिया में नन्दा का अगर कोई दोष था, तो इतना ही कि वह मरना न चाहती थी। आत्महत्या करके अपना जीवन समाप्त नहीं करना चाहती थी। और नन्दा जैसी नारियाँ एक दो तो हैं नहीं कि उनके आत्महत्या कर लेने से समस्या समाप्त हो जाए? "—हिन्दू समाज की विधवा नारी जीवित होकर भी मसिक्ता है, पाषाण है। शिलाखण्ड की भाँति उसे शब्दहीन, गतिहीन, निष्पन्द, निश्चल और निश्चेष्ट होकर रहना पड़ता है। जगत भर के लिए वर्षा और बसंत, कोयल और मोर पुण्य और सौरभ, भ्रमर और तितली, ध्वनि और राग, सरोवर और हंस कपोत और कपोती, हास और क्रीडा सभी जागत और उत्फुल्ल है, किन्तु एक विधवा प्राण, देह, स्वास, स्वप्न, कांक्षा और विकास रहते हुए भी इन सबसे हीन है, सर्वथा रहित। क्योंकि संयम नियम, आदर्श उपासना, तपस्या, साधना, त्याग और बलिदान आदि हिन्दू संस्कृति के गर्व तथा गौरव की जितनी भी दिगन्तव्यापी ध्वजाएं हैं, सबकी सब उसी के भाग्य में पड़ी हैं।[१]" अन्त में दर दर की ठोकरें खाने और अनेक दारुण दुःख सहने के पश्चात् नन्दा की साधना सफल होती है, और वह हरिनाम से विवाह कर लेती है।

बाजपेयी जी आज की तथाकथित प्रगतिशीलता एवं फैशन परस्ती के तीव्र विरोधी हैं। वे समझते हैं, नारियों का क्षेत्र तप एवं संयम का है, गृहस्थी संचालन का है, पत्नीत्व का है, फैशन एवं विलास का है। नारियों के लिए विवाह ही श्रेष्ठ व्यवस्था है। 'निमन्त्रण" (१९४२) में गिरिधारी कहता है, "मैं यह नहीं कहता कि विवाह प्रेम की आदर्श कल्पना है। किन्तु समाज के निर्माण के लिए जब तक विवाह से उत्तम दूसरी कोई आदर्श कल्पना भी तो स्थिर नहीं हुई है।'[२] मालती आधुनिक सभ्यता में पालित पोषित युवती है। अपने कार्यों में, अपने प्रयासों पर उसे पूर्ण विश्वास है। वह समाज का कोई अस्तित्व अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के सम्मुख नहीं मानती। जो लोग नियतिवाद में विश्वास रखते हैं, उनसे उसे घृणा है। उसकी स्वच्छन्दता को परिवार वाले शंका की दृष्टि से देखते हैं, पर वह प्रतिवाद करते हुए कहती है, "मैं आज़ाद हूँ—मैं पुरुषों के बीच रहती हूँ—उनसे स्वतन्त्रतापूर्वक मिलती हूँ। बस इसीलिए मैं चरित्रहीन हूँ? और घरों के अन्दर सीता और सावित्री जैसी सती, शकुन्तला और उर्वशी जैसी सुन्दर स्त्रियों को पालते हुए भी जो लोग

---

१ भगवती प्रसाद बाजपेयी पतिता की साधना, (१९३६), इलाहाबाद, पृ० २५२।
२ भगवती प्रसाद बाजपेयी निमन्त्रण, (१९४२), इलाहाबाद, पृ० ३०७ ३०८।

केप्ट प्रास्टीच्यूट् (रखेल वेश्या) रखते हैं, वे क्या हैं।"[1] वास्तव में यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से परिवर्तित परिस्थितियों की नारी का ही चित्रण है, जिसे वाजपेयी जी का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण नियंत्रित न कर सका। अपनी इसी स्वतन्त्रता के मद में मालती विवाह न करने का निश्चय करता है। वह विवाह से घृणा करती है, क्योंकि विवाह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन करती है। वह एक पत्र सम्पादक शर्माजी से प्रेम करती है, जो विवाहित हैं, और एक साड़ी मात्र पहन कर रात्रि के सन्नाटे में अकेले ही शर्माजी के मारे जाने से नहीं हिचकती। मालती जीवन में विभिन्न प्रयोग चाहती है। वह एक मित्र की भाँति जीवन निर्वाह करने का तथा विवाह प्रथा को तोड़-फोड़ डालने का प्रयत्न करती है, पर असफल रहती है। इसका कारण स्पष्ट था। वह आदर्श की उन ऊँचाइयों को नहीं स्पर्श कर सकी, जो आवश्यक थी। नारी की पूर्णता वैवाहिक जीवन में है, मित्र बनकर रहने में नहीं। नारी की पूर्णता कर्तव्य पालन, उत्तरदायित्व वहन करने और त्याग करने में है, सिर्फ प्रेम में ही नारी की पूर्णता नहीं। मालती जीवन पर्यन्त इसे नहीं समझ सकी, इसीलिए असफल हुई।

वाजपेयी जी के अनुसार विवाह नारियों के मन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता, उन्हें मात्र कर्तव्य एवं दायित्व की शृंखलाओं में बाँध सकता है। "पिपासा" (१९३७) में शकुन्तला और नरेन्द्र के विवाहित जीवन में कमलनयन के प्रवेश से संघर्ष उत्पन्न होता है। कर्तव्य शकुन्तला को बाध्य करता है कि वह पति से विश्वासघात न करे, पर मन उसे अपने प्रेमी की ओर खींचता है। अन्त में शकुन्तला पति से सन्देह और आत्मपीड़ा से तिल तिलकर आत्महत्या कर लेती है। यहाँ एक विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न होती है। लेखक के अनुसार "नारी के लिए पर-पुरुष एक अपदार्थ है। वह उसके लिए अस्तित्वहीन है, वह कुछ भी नहीं है। किन्तु यह बात उस युग की है, जब नारी अपने गृह और कुटुम्ब तक ही सीमित थी। किन्तु अब तो नारी वैसी सीमित नहीं है। तब नारी व्यक्ति से मुक्त थी, अब वह समाज का अंग हो रही है। अब तो समाज में आत्मसात होकर उसे रहना है। अब पर-पुरुष से दूर रहना तो दूर की बात है, उसे उससे मिलना होगा, उनमें लिप्त होना पड़ेगा और जीवन संघर्ष में उनसे भिड़ना भी पड़ेगा। यहाँ तक कि आवश्यकतानुसार उन्हें मित्र या शत्रु भी बनाना होगा।"[2] अन्त में शकुन्तला आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार उन्होंने प्रेम पीड़ा और कष्ट सहन में विश्वास प्रकट कर प्रेम में सत्यान्वेषण करने का प्रयत्न किया है।[3]

१. भगवती प्रसाद वाजपेयी : निमंत्रण, (१९४२), इलाहाबाद, पृ० २९।
२. भगवती प्रसाद वाजपेयी : पिपासा, (१९३७), इलाहाबाद, पृष्ठ १०९।
३. 'मैं सत्य की सुन्दरता का पुजारी हूँ। पुरुष और स्त्री में परस्पर आकर्षण ही प्रेम के स्वरूप को निर्धारित करता है। प्रेम कभी विकृत नहीं होता, वह सदैव एकरस रहता है।"
—भगवती प्रसाद वाजपेयी

"तीन वर्ष" (१९३०) मे भगवतीचरण वर्मा का व्यक्तिवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण विकसित हुआ है। इसमे वेश्याओं को उन्होंने भद्र समाज की नारियों की तुलना मे श्रेष्ठ और गरिमामयी माना है। प्रभा भद्र समाज की युवती है, और सरोज एक वेश्या। इन दोनो के तुलनात्मक अध्ययन मे उन्होंने सरोज के चरित्र को अधिक गरिमा प्रदान की है। अज्ञेय का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण पूर्णतया व्यक्तिवादी है। वे प्रेम की पूर्णता के मध्य नाते रिश्ते कुछ भी स्वीकार नहीं करते। प्रधान नारी पात्र शशि रिश्ते मे शेखर की बहन लगती है, पर उससे वासनात्मक प्रेम करती है, पतिव्रत धर्म का खण्डन करती है, और शेखर के जीवन निर्माण की प्रक्रिया के बहाने स्वयं टूट कर बिखर जाती है। शशि उसी की समवयस्क है, किन्तु उसमे गहरा विवेक, प्रशान्त संवेदना एव विशद ज्ञान प्रज्ञा है। वह अपने पति का घर छोड़ शेखर की भावना की पूर्ति के लिए उसके घर चली जाती है, और शेखर के पूछने पर कहती है, "   स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आई है। ज्ञान सब उसमें संचित है, जैसे धरती मे चेतना संचित है। पर बीज अकुरित होता है, तो धरती को फोड़कर, धरती अपने आप नहीं फूलती फलती। मेरी भूल हो सकती है, पर मैं इसमे अपमान नहीं समझती, कि सम्पूर्णता की ओर पुरुष की प्रगति में स्त्री माध्यम है—और वही एक माध्यम है। धरती धरती ही है, पर वह भी समान स्रष्टा है, क्या हुआ अगर उसके लिए सृजन पुलक और उन्माद नहीं, क्लेश और वेदना है।"[1] यह भावना और कुछ नहीं मातृत्व की महती भावना का ही दूसरा प्रतिरूप है। अज्ञेय का यह दृष्टिकोण प्रेमचन्द के उस दृष्टिकोण से पर्याप्त साम्य रखता है कि नारी केवल माँ है, और कुछ नहीं। वह जो कुछ करती है, मातृत्व का उपक्रम मात्र है। माँ भी तो सब कुछ मिटाती है, पर प्रेमचन्द ने उसे सर्वजनीन रूप से अभिव्यक्त किया है, जबकि अज्ञेय ने व्यक्तिवादी ढग से। शशि अपने प्रेम को पाप नहीं समझती। क्योंकि "   कोई स्त्री प्यार नहीं जानती जो एक साथ ही बहिन, स्त्री, और माँ का प्यार नहीं देना जानती—और मैं लौट कर इसलिए जी सकूँगी कि माँ की तरह तुम्हें पाल सकूँगी—तुम नहीं जानते कि यह विश्वास मेरे लिए कितना आवश्यक है—अब और भी अधिक। मैं जरूर जी लूँगी। जीवन यह कीड़े का होगा पर नारी अग्निकीट हो सकती है, जिसके देह मे निरन्तर आग जलती है।"[2] शशि के प्रेम का आदर्श यही है। वह अपने पति को ठुकरा कर अपने प्रेमी एवं भाई शेखर की बाहों मे ही मृत्यु का आलिंगन करना चाहती है।[3] अज्ञेय इस असामाजिक एवं अटूट प्रेम के प्रति पाठकों की सारी

१ अज्ञेय, शेखर एक जीवनी, (प्रथम भाग १९४१), बनारस, पृष्ठ २१८।
२ अज्ञेय, शेखर एक जीवनी, (प्रथम भाग १९४१), बनारस, पृष्ठ २२३।
३ "I want to die while you love me
While yet you hold me fair"
—वही, पृष्ठ ३४१।

सहानुभूति पूर्ण संवेदनाओं को समेट लेना चाहते हैं। उसके पतिव्रत धर्म के खण्डन को वे मानव जीवन का अलौकिक चमत्कार एवं उन्मेष मानते हैं। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का चरम रूप अंचल कृत "चढ़ती धूप" में प्राप्त होता है। भारतीय व्यवस्था में विवाह के पश्चात् पति ही नारी का ईश्वर होता है, उसकी भावनाओं एवं कल्पनाओं का प्रतिबिम्ब होता है। पर अंचल ने इसे अस्वीकृत कर दिया। नारी स्वातन्त्र्य के नाम पर उनकी नायिका ममता अपने पति से न बात करती है, न साथ सोती है, केवल अपने प्रेमी के सपने देखती है। वह तो अपने पति से यहाँ तक कहती है, कि उसका प्रेमी अब भी चाहे तो वेश्यावृत्ति करा सकता है।[1] वस्तुतः अंचल पूर्णतया व्यक्तिवादी उपन्यासकार हैं। उनके अनुसार आज की नारी पर जो अत्याचार हो रहे हैं, और फलस्वरूप उसकी जो शोचनीय स्थिति हो गई है, वह बहुत दिनों तक वर्तमान नहीं रहेगी, उसमें परिवर्तन होगा, और नारी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाएगी। वे कहते हैं, "नारी स्वतन्त्रता से मेरा मतलब है नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व की मान्यता। उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति की सुरक्षित मर्यादा, उसे आत्मनिर्णय का अधिकार। साथ ही उसके प्रति एक उदार, आदरपूर्ण, शुचितामय, दृष्टिकोण, जो अधिक स्वस्थ, संयत और मानवीय हो। उसे केवल विलास या सौन्दर्य की गुड़िया न समझ कर एक संवेदनशील आत्मा का दरजा दिया जाय।"[2] अंचल की इस स्वतन्त्रता में विवाह संस्था के प्रति भी विद्रोह है। वे नारी के सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग करते हैं, और अपनी नायिकाओं में विद्रोह का स्वर फूंकते हुए कहते हैं, "जो समाज व्यवस्था मेरी इच्छा के प्रतिकूल मुझे एक खास पुरुष के साथ रहने के लिए और जीवन बिताने के लिए विवश करती है उस व्यवस्था का, उस नैतिकता का मेरे निकट क्या मूल्य है? यह मेरे व्यक्ति का दमन है—मेरी सत्ता का संहार है—मेरी आत्मा की अस्वीकृति है। मैं ऐसी व्यवस्था को नष्ट करने में अपना सारा बल लगाऊँगी।"[3] "नई इमारत" में प्रेमी की मृत्यु के पश्चात् प्रतिमा रोती चिल्लाती नहीं, वरन् अपना कर्तव्य पथ पहचान कर अपने प्रेमी द्वारा छोड़े गए अधूरे कार्यों को पूर्ण करने हेतु स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेती है, और अपने प्राणों का बलिदान करती है। इसी उपन्यास की दूसरी नारी पात्र आरती भी आदर्श प्रेमिका है। वह महमूद से प्रेम करती है, और विवाह करना चाहती है। माता-पिता क्रुद्ध होकर उसे घर से बाहर नहीं निकलने देते, तो वह सारे वैभव एवं विलास को ठुकरा कर निकल पड़ती है। असीम बाल विधवा होने पर भी पुनर्विवाह की बात नहीं सोचती। वह सारा जीवन सेवा कार्यों के लिए समर्पित कर देती है।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए : अध्याय ७।

२. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ १५७।

३. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ १५८।

मनोविश्लेपणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

मनोविश्लेपणवादी विचारधारा, जैसा कि उसके अनुयायियों का कहना है, मानव जन्म के पूर्व ही प्रारम्भ होती है, मृत्यु पर्यन्त चलती रहती है, यहाँ तक कि मानव का अवचेतन मन भी सदैव ही क्रियाशील रहता है। यह दृष्टिकोण हमारे सोने की अवस्था एवं स्वप्नों से भी सम्बन्ध रखता है[1] और जो एक दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रत्यक्ष रूप से करता है, वही एक गुण सम्पन्न अपने स्वप्नों में या सोने समय करता या सोचता है।[2] ऐसी स्थिति में फ्रायड ने स्वप्नों का मानव जीवन में अत्यधिक महत्व स्वीकार किया है। मनोविज्ञान की इन मनोविश्लेषणवादी धारणाओं पर अपने दृष्टिकोण को आधारित कर उत्तर प्रेमचन्द काल में अनेक उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं एवं नारी पात्रों की परिकल्पना की है, एवं उनके चरित्र का मनोविश्लेषणवादी विकास चित्रित किया है।

जैनेन्द्रकुमार सामाजिक नहीं मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। मनोविज्ञान एवं अपने पात्रों के अन्तरजगत के सूक्ष्म विश्लेषण के प्रति उनका जितना ध्यान रहता है, सामाजिक समस्याओं के प्रति उतना नहीं। उनके पात्र समाज में रहते हुए भी वैयक्तिक रहते हैं। उनकी अधिकांश नायिकाएं प्रेमी और पति, प्रेम और कर्तव्य के मध्य संघर्ष करती हैं। वे पर पुरुष से प्रेम करने के बावजूद भी अपने पति में किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न करने में असफल रहती हैं। यह संघर्ष चाहे आन्तरिक हो, या बाह्य। प्रायः पति अपने को वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं। उनकी सभी नायिकाओं में बाह्य संघर्ष कुछ भी नहीं है। उनके सम्मुख लगता है यह जीवन, समाज और लोक कुछ भी नहीं है। जो कुछ है मात्र उनकी चेतना और अन्तर का संघर्ष है। और वह अन्तर का संघर्ष भी क्या है? एक ओर प्रेमी हैं, दूसरी ओर पति हैं। दोनों के बीच वे संघर्षरत रहती हैं। उनकी चेतना उन्हें पति के प्रति विश्वासघात नहीं करने देती, वे प्रायः धर्म से च्युत नहीं होना चाहती। निरन्तर सतीत्व धर्म का पालन करते हुए उचित अर्थों में भारतीय नारी बनना चाहती हैं। पर मन उन्हें अपने प्रेमियों से विमुख नहीं होने देता। बस इसी संघर्ष के बीच ही उनकी अधिकांश नायिकाएं कल्पित हुई हैं। जैनेन्द्रकुमार की अधिकांश नायिकाओं में विवेक यौन भावना एवं "सेक्स" की प्रवृत्यात्मक उत्तेजना के समग्र

---

१ देखिए अध्याय ४।

२ "For Freud, citing Plato's "Republic" to the effect that the virtuous man "contents himself with dreaming that which the wicked man does in actual life presents the dream as evidence not alone of the existence of the unconscious mind, but of the major importance of that mind to the whole life of man"

—आस्कर कार्गिल, इंटलेक्चुअल अमेरिका, आइडियाज आन द मार्च, (१९४९), न्यूयार्क, पृष्ठ ६०४।

पराजित होता है। उन्हे किसी दूसरे को समर्पण करने मे उनका अह चूर-चूर होता है, और यही जैनेन्द्रकुमार को अभिप्ट भी रहता है। वे नारियो मे उनके व्यक्तिगत अह को कोई महत्व नही देते, क्योंकि कोई भी एकाकी नही है, और किसी का कोई अलग स्वत्व नही है। एक मे दो होने की अपेक्षा, आवश्यकता मनुष्य के भीतर व्याप्त है। उनकी अधिकाश नायिकाए पढ़ी लिखी है, यहाँ तक कि गाँव की अपढ़ कट्टो भी सत्यधन से पढ़ना प्रारम्भ कर देती है। वे नारी शिक्षा के जबर्दस्त हिमायती हैं। उनकी सभी नारियाँ आधुनिक सभ्यता की नारियाँ है। उनके जीवन में प्रगतिशीलता है। पर वह प्रगतिशीलता आज की तथाकथित "प्रगतिशीलता" (जिस शब्द से हमे आज के प्रगतिवादी(!) आलोचक परिचित कराते है) से पूर्णतया भिन्न है। वे सभी नारिया अपनी प्राचीन परम्पराओ एव गौरवशाली मर्यादाओ का परित्याग नही करती और न रूढ़िवादिता को ही आत्मसात करती हैं। वे उपयोगी परम्पराओ एव मर्यादाओ का नवीनताओ के साथ समन्वय कर आर्य-धर्म निबाहने का प्रयत्न करती है। सुनीता[1], कट्टो[2], कल्याणी[3] और मृणाल[4] इसी प्रकार की नायिकाएं है, जिनके अन्तर्द्वन्द्वो के प्रकाशन से नारियो की मन स्थिति समझने एव उनकी चित्तवृत्तियो के प्रकाशन मे बड़ी सहायता प्राप्त होती है।

इलाचन्द्र जोशी ने भी मनोविश्लेषणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण के आधार पर अपनी नायिकाओ एव नारी पात्रो की परिकल्पना की है। उनके उपन्यासो मे चित्रित नारी पात्र दो प्रकार के है। एक वर्ग उन नारी पात्रो का है जो सहनशीला हैं, सहिष्णु है। आत्मपीड़न मे विश्वास करती है। वे पुरुषो के प्रत्येक अत्याचार को सहती चलती है। उनमे विद्रोह नही है। "सन्यासी" मे जयन्ती और "पर्दे की रानी" मे शीला इसी वर्ग की हैं। दूसरा वर्ग ऐसा होता है, जो यह अत्याचार किसी भी रूप मे सहन करने को तत्पर नही है। उनमे विद्रोह है, शक्ति है, और सघर्ष की प्रवृति है। वे पुरुष के शोषण, अराजकता, स्वेच्छाचारिता, अत्याचार एव अह तथा काम पिपासा का विरोध करती हैं, और अपने अस्तित्व को बनाए रखने का बराबर प्रयत्न करती है। "सन्यासी" की शान्ति, "प्रेत और छाया" की मजरी इसी वर्ग की है। जोशी जी का मनोविश्लेषणवादी परिकल्पना पर आधारित नारी सम्बन्धी यह दृष्टिकोण स्वेच्छाचारी पुरुष वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग दोनों के शोषण के विरुद्ध तीव्र विरोध की भावना पर आधारित है। उनके अधिकांश नारी पात्र सुशिक्षित हैं, और आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति मे पालित-पोषित हैं।

"पर्दे की रानी" की शीला मे उन्होने परम्परागत नारी का रूप चित्रित किया है। वह सारे अत्याचार सहन कर भी अपने पति का साथ नही छोड़ती। वह यह जानते हुए भी कि उसका पति उसे विष दे रहा है, उसकी जान ले रहा है, निरंजना के लिए। फिर भी वह अपने पति से विमुख नही होती, और न निरंजना

१. २, ३, ४—देखिए, अध्याय ५, ६, ७।

के प्रति उसके मन में ईर्ष्या अथवा द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं। यह सहनशीलता की पराकाष्ठा थी। पर जोशी जी उसे पूर्ण भारतीय नारी के रूप में चित्रित करना चाहते थे, इसलिए उसमें विद्रोह नहीं पनपता। उसकी चेतना उसे दबा देती है। "संन्यासी" में जयन्ती भी इसी प्रकार की प्रधान नारी पात्र है जिसके विचार का मनोविश्लेषणात्मक विकास चित्रित किया गया है। वह नायक नन्दकिशोर की पत्नी है। वह मृदुभाषिणी उच्च संस्कारों में पालित एवं कर्त्तव्य परायण नारी है। उसमें दृढ़ता का अभाव और भावुकता का प्राधान्य है, एवं आत्माभिमान की प्रवृत्ति प्रबल है। वह कुशल गृहिणी भी है। उसकी अपनी मां नहीं सौतेली मां है फिर भी उसका व्यवहार इस प्रकार का है कि उसके और मां के बीच कोई अन्तर नहीं रह जाता। ममत्व की अनुभव भावना उसके मन में १६ वर्ष की ही अवस्था में उमड़ आती है। वह अपने छोटे छोटे सौतेले भाई-बहनों का इतना ध्यान रखती है इतना स्नेह रखती है, कि बच्चे उसको ही अपना सब कुछ मान लेते हैं। उसके प्रत्येक व्यवहार में सलीका है, जैसे उसमें कठोर अनुशासन हो, और अपने जीवन का एक अनुशासनात्मक ढंग से ही वह आगे बढ़ाना चाहती हो। उसमें पर्याप्त सौम्यता (Soberness) है, तथा कर्त्तव्यों को पहचान कर ऊपर उठने की शक्ति है। यही गुण उसके व्यक्तित्व को प्रखर भावनाएं और गरिमा प्रदान करते हैं। पर जयन्ती में आत्मविश्वास की दृढ़ता नहीं है। वह भावुकता के आवरण में छिपी अपने को बराबर दुर्बल बनाती जाती है। अभी कैलाश को भी नहीं भुला पाती, और पति से विमुख भी नहीं होना चाहती। विवाहित जीवन में पति की अतिशय संशय वृत्ति, शासन प्रवृत्ति एवं अहं की भावना की जयन्ती के जीवन में गम्भीर प्रतिक्रिया होती है। उसका चेतन मन तो कर्त्तव्य पथ की प्रेरणा मान विवाहित जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करता है पर उसका अवचेतन मन इसके विपरीत क्रियाशील रहता है। यह बात तो स्पष्ट ही है कि मानव का अवचेतन मन चेतन मन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। अवचेतन मन कुण्ठाओं, वर्जनाओं, अतृप्त आकांक्षाओं एवं दमित शमित वासनात्मक भावों का संग्रह होता है, जिन्हें हम उच्च संस्कार, सभ्यता एवं सौम्यता के नाते अस्वीकृत कर देते हैं, और उन्हें निर्वासित करने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः उनका अस्तित्व पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो जाता। वे अवचेतन मन में एकत्रित होती रहती हैं और जीवन संचालन का वास्तविक सूत्र उन्हीं के हाथों में रहता है।[1] जयन्ती के चरित्र की विविध प्रक्रियाएं इसी कारण हैं। अपने पति से शान्ति के सम्बन्ध में सुनकर भी वह कहती है 'मैं किसी से डाह नहीं कर सकती, हाँ घृणा कर सकती हूँ। डाह समान क्षेत्र में होता है, अपने से नीचे या ऊंचे स्तर वाले लोगों से डाह नहीं किया जाता। पर शान्तिश्री मुझसे इतने ऊंचे स्तर पर हैं कि उनके पास तक मेरा सारा अभिमान चूर होकर

---

१ सिगमंड फ्रायड इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साईको-एनालिसिस, पृष्ठ १५६।

बिखर पड़ेगा, इसका मुझे दृढ विश्वास है।[1]" अन्त में वह आत्महत्या कर लेती है। यह आत्महत्या उसके अवचेतन मन की विजय, और चेतन मन की पराजय ही थी। पर "प्रेत और छाया" की मंजरी ऐसी नही है। उसमे विद्रोह है, और दृढ-इच्छा शक्ति है। वह स्वावलम्बिनी बनने का प्रयत्न करती है।[2] जोशीजी ने "लज्जा" मे लज्जा,[3] और "पर्दे की रानी" मे निरजना[4] का भी चारित्रिक विकास मनोविश्लेषणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण पर किया है।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि इलाचन्द्र जोशी का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण यद्यपि मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति से सम्बन्धित है, फिर भी वह पूर्णतया आधुनिक एव प्रगतिशील है, यथार्थवादी भी है। स्वय जोशी जी के अनुसार मैंने ऐसे नारी पात्रो को लिया है, जिन्हे जीवन की घनघोर सघर्षमयी परिस्थितियो से होकर गुजरना पड़ा है और जिनकी अवचेतना मे निहित विद्रोह के बीज रूपी अणुओ मे उन संकटाकुल परिस्थितियो के पारस्परिक सघर्ष के कारण रासायनिक प्रतिक्रिया स्वरूप भयकर विस्फोट मे परिणत होने की सम्भावना रही है। मेरे नारी पात्रो में त्याग और तपस्या की तनिक भी कमी न होने पर भी उन्होंने कभी आत्मकामी, अहवादी और अत्याचार परायण पुरुष पात्रो के साथ समझौता नही किया है। मैंने जानबूझकर यथार्थ जीवन से ऐसी नारियो को चुना है, जिनमें इस प्रकार के विद्रोहात्मक विस्फोट के बीच तत्व निहित हो और जिनमे इस विस्फोट के परिणाम को अकेले अपने ही बूते पर पूर्णतया स्वीकार कर सकने की सम्भावना हो। अब समय आ गया है कि आप युगो के अन्धकार मे बद्ध सदियो के क्रूर निर्यातन से पीड़ित नारी आत्मा के अन्तस्तल में निहित विद्रोह की आवाज को किसी भी छल-छद्म से दबाने मे समर्थ नही हो पायेंगे। उनकी अतरात्मा की वह फुफकारती हुई पुकार समाज की प्रत्येक कंदरा मे गूँजती हुई प्रचण्ड विस्फोटो के साथ बाहर के जगत मे फूटने के सुस्पष्ट लक्षण प्रकट कर रही है। साथ ही अपने चारो ओर की काली-काली दीवारो को तोड़ने और फोड़ने मे भी उसका अन्तर्विद्रोह निकट भविष्य मे सफल होकर ही रहेगा। पिछले कलाकारो की तरह दलित नारी के प्रति केवल सहानुभूति दिखाने से ही अब काम नही चलेगा। वह समय आ रहा है जब कलाकारो की श्रेष्ठता की परख एकमात्र इस बात मे होगी कि नारी आत्मा के अन्तर मे बीज रूप मे छिपी हुई विद्रोह की चिनगारी को कौन कितनी अधिक तीव्रता से प्रचण्ड अग्नि के रूप मे प्रज्ज्वलित करने में समर्थ होता है। केवल उनकी सामाजिक पीड़ा के प्रति काव्यात्मक करुणा जगाने वाले बुद्धिविलासी लेखकों की थोथी समवेदना की कोई आवश्यकता इस युग मे नही है। नये युग की सच्चे अर्थो में प्रगतिशील नारी इस प्रकार की समवेदना और सहानुभूति को अपने लिए अपमानकर समझेगी। इस युग

१. इलाचन्द्र जोशी: सन्यासी, (१९४१), इलाहाबाद, पृष्ठ ३८७।
२. देखिए. अध्याय ५।
३. ३-४—देखिए : अध्याय ६, ७।

में तो नारी को कठोरतम परिस्थितियों के बीच में केवल अंतर्विद्रोह के बल पर खड़ा होने के लिये उकसाने वाले यथार्थवादी आदर्शवादियों की प्रेरणा आवश्यक है। इलाचन्द्र जोशी के इस मत में पर्याप्त सत्यता है। आज की नवीन युग की बुद्धिवादिनी नारी की यही स्थिति है। अगर लेखक-कलाकार इससे विमुख होंगे तो उनकी कला सार्थकता एवं यथार्थता दोनों ही संदिग्ध बनी रहेगी।

सियारामशरण गुप्त ने भी अपने उपन्यासों में नारी पात्रों की परिकल्पना मनोविश्लेषणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण पर किया है, पर जोशी की भाँति व उनका पूर्ण विद्रोह या विध्वंसात्मक प्रवृत्ति नहीं चित्रित कर पाए हैं, ऐसा कदाचित् उनकी आदर्शवादिता या उनके गांधीवादी होने के कारण ही हुआ है। उनके अनुसार नारी की दुव्यवस्था का प्रमुख कारण उसकी आर्थिक परतन्त्रता नहीं है। उसे अपना पेट भरने के लिए पुरुषों पर आश्रित रहना पड़ता है। फलस्वरूप पुरुष उस पर अनेक प्रकार के अत्याचार करता है। उसकी उपेक्षा करता है। "नारी" (१९३६) में उन्होंने जमना के रूप में नारी की इसी विवशता एवं दारुण दुःख का चित्रण किया है।[1] गुप्त जी नारी की सबसे बड़ी विशेषता अपने पति के प्रति पूर्ण विश्वास एवं पवित्र प्रेम स्वीकार करते हैं। पति कुछ भी करे, चाहे उचित या अनुचित, पत्नी का काम उसे अपना समर्थन देना ही है। "गोद" (१९३२) में पार्वती का पति किशोरी और शालाराम के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने में अपनी आपत्ति प्रकट करता है, तो सारा गाँव उस पर दोषारोपण करता है। पार्वती भी ऐसा समझती है कि उसके पति को ऐसा नहीं करना चाहिए, पर वह स्पष्ट ही सबसे कहती है, "तुम्हारे लिए उनका काम कसाईपन का हो या चाहे जो कुछ, मेरे लिए तो जो वे कहते हैं, वही ठीक है। बस अब इस सम्बन्ध में, मैं और कुछ नहीं कहना चाहती।"[2] इस प्रकार गुप्त जी ने उसके अवचेतन मन के विस्फोट से कोई विध्वंस होते नहीं दिखाया है, उसे निर्माणोन्मुख करने का प्रयत्न किया है। उसके चेतन और अवचेतन मन में बराबर संघर्ष होता है, पर वह कोई विद्रोह नहीं चाहती, अपनी परम्पराओं में विश्वास रखती है।

-

१ देखिए अध्याय ६।
२ सियारामशरण गुप्त गोद, (१९३२), झाँसी, पृष्ठ ११।

अध्याय ६

नायिकाओं के स्वरूप का विकास क्रम

अब तक के लम्बे विवेचन से नायिका की परिकल्पना के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक पक्ष और स्वरूप के सम्बन्ध में यथेष्ट तथ्य स्पष्ट हो गए होंगे, और अब यहां उनके विकास का क्रम निश्चित किया जा सकता है । इस अध्याय में नायिकाओं के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो परिवर्तन होते रहे हैं, उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाएगा। इस विकास क्रम के साथ उन प्रवृत्तियों का अध्ययन भी आवश्यक है। जिन्होंने उपन्यासकारों के दृष्टिकोण को तो प्रभावित किया ही, साथ ही उन्होंने नायिका के व्यक्तित्व पर भी अपना महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है। नायिकाओं के व्यक्तित्व के विकास क्रम के तीन चरण हैं :

१. पूर्व-प्रेमचन्द काल

२. प्रेमचन्द काल

३. उत्तर-प्रेमचन्द काल

पूर्व-प्रेमचंद काल

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, हिन्दी उपन्यास साहित्य का आविर्भाव सुधारवादी एवं आदर्शवादी भावनाओं के क्रोड़ में हुआ था । इस काल में समाज पूर्णतया विशृंखलित हो गया था, नैतिक मान्यताएं टूट-फूट गई थीं और प्राचीन परम्पराएं जर्जरित हो रही थीं । उनका स्थान ले रही थी पश्चिम की वह शक्तिशाली भावना, जो मृगतृष्णा की भाँति भारतवासियों की चेतना पर छाती जा रही थी । लोग अपना धर्म भूलते जा रहे थे । धार्मिक रूढ़ियाँ अब उन्हें अपमानजनक प्रतीत होती थीं । वे अब पश्चिमी संस्कारों को ग्रहण करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे । । पश्चिम की वह चमक-दमक अब उन्हें अत्यधिक आकर्षक प्रतीत होने लगी थी, और वे अपनी परम्पराओं को ठोकर मार कर उधर तीव्रगति से अग्रसर हो रहे थे । पारिवारिक व्यवस्था विच्छिन्न हो चुकी थी और संयुक्त परिवार की प्रथा समाप्त होती जा रही थी । ऐसे समय में उपन्यासकारों ने भारतेन्दु के नेतृत्व में एक आदर्शवादी दृष्टि को अपनाया था, जिसमें उनकी उपदेशात्मक नीति भी सम्मिलित थी । वे वस्तुतः एक ऐसे सामाजिक आदर्शवाद से प्रभावित थे, जिसमें समाज के

सुधारने की भावना प्रतिध्वनित होती थी। यहाँ आदर्शवाद के स्वरूप को समझ लेना उचित होगा।

आदर्शवाद की व्याख्या करते समय प्राय यह कहा जाता है कि सृष्टि पूर्णरूप से मस्तिष्क की प्रक्रिया है, अथवा उसकी सत्य प्रतिकृति है। मस्तिष्क और मूल्यों के मध्य अविच्छिन्न सम्बन्ध रहते है, प्लेटो की धारणानुसार अच्छाइयों का विचार भी कहा जा सकता है। वस्तुत आदर्शवाद एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, जिसके अनुसार इस सृष्टि में उन विशेषताओं को, जो अत्युत्तम, उपयोगी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुकूल स्वीकृत हैं। अत्यन्त व्यापक एवं चरम रूप प्रदान कर निरन्तर उत्थस्थान विस्तृत पृष्ठभूमि पर प्रदान किया जाना चाहिए। उन विशेषताओं को व्यष्टि से समष्टि की ओर गतिशील कर जन मानस में सर्वव्यापी ढंग से उसका विकास कर कल्याणमयी भावनाओं का विकास करना ही आदर्शवाद का मूल उद्देश्य होता है। प्लेटो के अनुसार भावनाओं का जगत यथार्थ संसार नहीं है, जिसे हम विचारों की संज्ञा से विभूषित अच्छाइयों के विचार से अभिहित करते हैं, वही यथार्थ है और गहन एवं अधिकारिक ज्ञान मानवीय चेतना की एकता को पूर्ण ज्ञान वस्तुओं से सम्बन्धित करते हैं। प्रभावशाली सृष्टि निश्चय ही आदर्शवादी सृष्टि के समानार्थक होनी चाहिए। इस प्रकार प्लेटो का आदर्शवादी समाज ही सत्य जाते हैं, और 'ज्ञान' का मुख्य उद्देश्य ('राय के विरुद्ध) सदैव ही आदर्शवादी होता है। आदर्श से ज्ञान के उद्देश्यों का आविर्भाव नहीं होता वरन् इनके माध्यम से सत्य एवं अनिवार्य अस्तित्व से भी सम्बन्धित होते हैं। यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आदर्शवाद वस्तुत दर्शन का ही एक रूप है।[1] आदर्शवाद उस सत्य से अनुप्राणित है, जो समस्त भौतिक जगत में व्युत्पत्ति वृत्तियों के नाश और सात्विक प्रवृत्तियों की विजय उद्घोषित करता है। आदर्शवाद का मूल स्वरूप इन्हीं सात्विक प्रवृत्तियों की व्यापकता पर ही निर्मित होता है जो मानव के चारित्रिक विकास उसकी चित्तवृत्तियों को एक सामान्य स्तर पर सामूहिक कल्याण की भावना के विस्तार तथा पाप, घृणा एवं असत्य के पूर्णतया नष्ट होने की भावना पर आधारित है।

अत आदर्शवाद का मूल स्वर मस्तिष्क एवं यथार्थ के चेतना से समन्वय से

१ "Idealism ■ the phoenix of philosophy and any philosophy reckons ill that leaves it out The imperishable element in idealism is the curious fact that, in so far as its essence is concerned, whenever we deny it we some how affirm it It was for this reasons that Royce (एक पाश्चात्य विद्वान्) liked to hear condemnations and refutations of idealism for they served only to bring out more clearly the irrefutable element in idealism"

—लुडविग स्टीन लेकचर्स ऑन मॉडर्न आयडियलिज्म, पृष्ठ २०० ।

नहीं सम्बन्धित है।[1] विश्व की जितनी भी सभ्यताएं हैं। उनकी पृष्ठभूमि में आदर्शवाद ही क्रियाशील रहा है। वह केवल निर्माण तक ही नहीं सम्बन्धित है, बल्कि एक कदम आगे बढ़कर वह व्यापक सुधार की आवश्यकता सिद्ध करता है। अपनी इसी प्रमुख सृजनात्मकता के कारण वह मात्र जीवन को ही निर्माण एवं विकास की ओर दिशोन्मुख नहीं करता, वरन् प्रत्येक ज्ञान एवं दर्शन के मूल स्वर एवं आत्मा का भी स्पष्टीकरण सशक्त स्वरों में करता है। स्वाभाविक आदर्शवाद जीवन का वह महत्वपूर्ण स्वरूप है, जिसमें मानवीय आत्मा अपने अमरत्व की मांग करती है और मूल्य मर्यादा-युक्त परिवेश में निरन्तर गौरव एवं आत्मसम्मान की रक्षा की दिशा में अग्रसर होती है।

आदर्शवादी उपन्यासकार अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की गौरवशाली परम्पराओं एवं मर्यादापूर्ण मान्यताओं के प्रति गहन् रूप में आस्थावान् होते हैं और किसी भी रूप में उनका खण्डन-मण्डन अथवा तिरस्कार एवं अस्वीकृति उन्हें सह्य नहीं होती। वे उनकी महत्ता सिद्ध करने एवं उनकी उपयोगिता स्पष्ट करने के लिए ही कथानक का ताना-बाना रचते हैं और अपने मंतव्य को तर्कों सहित उपस्थित करते हैं। वे इस सम्बन्ध में यथार्थ की पूर्ण अवहेलना करते हैं और उसकी तरफ से आँखें बन्द किये रहते हैं। आदर्शवाद लेखक को यथार्थ की कठोर पर स्वाभाविक भूमि पर आने से रोकता है। वह समाज में कुत्सित वृत्तियों का पूर्ण नाश और सात्विक प्रवृत्तियों की पूर्ण विजय चाहता है। वह समाज में नैतिकता का पूर्ण उत्थान एवं मंगलकारी भावनाओं का पूर्ण प्रसार चाहता है, जिससे समाज निरन्तर सत्पथ पर अग्रसर होता रहे, सभी का जीवन सुखी एवं समृद्ध रहे, सभी को पूर्ण मानसिक शान्ति प्राप्त हो और सभी आपसी सहयोग एवं सहानुभूतिपूर्ण वातावरण में जीवन जी सके। आदर्शवाद कभी नहीं स्वीकारता कि आज का मानव जीवन पूर्णतया खण्डित है। मूल्य एवं मर्यादाएं बिखर रही हैं। विचित्र सी कटुता, अनव्यापी व्यथा विषाद की तीखी प्रतिक्रियाएं, मानव जीवन पर गहन् रूप में आच्छादित हो रही हैं। सर्वत्र घृणा, असत्य एवं पाप का प्रसार हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ एवं प्राप्ति आशा के पीछे स्वयं अपने आपको भूलता जा रहा है। वह खुदगर्जी में पीछे यह भूल गया है कि वह किसी को कुछ दे सकता है। दूसरे के ग्रस्त एवं अपूर्ण जीवन को अपनी सहानुभूति से पूर्ण बनाने का 'छोटा' सा प्रयत्न भी कर सकता है। इन सब सामाजिक विकृतियों ने आज के मानवीय जीवन को विचित्र सी दिशा प्रदान

१. "The driving force of idealism, as I understand is not furnished by the question how mind and reality can meet consciousness, but by the theory of logical stability (Italics mine) which makes it plain that nothing can fulfill the questions of self-existence except by possessing the unity that belongs only to mind.
—बोसांके : लॉजिक, (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ ३२२।

कर उसे कटुता से इतना विपाक्त कर दिया है कि सहज सम्भाव रूप म उसका जीवन भी दुलभ हो गया है। आदशवादी जीवन की इस पीडादायक स्थिति का पूर्ण तिरस्कार कर भावुकता की काल्पनिक पष्ठभूमि पर एक एसे स्वप्निल ससार की सृष्टि करने का प्रयत्न करत हैं। जिससे सवत्र आनदतत्व ही सचारित होता रहे। सभी को सुख एव सन्तोष की उपलब्धि हाती रहे पीडा एव असहनीय व्यथा का कहीं नामोनिशान भी न हो। आदर्शवादी अपनी इसी प्रवत्ति का परिचय देत हुए यह तक उपस्थित करते हैं कि उनका इस सम्बन्ध म यथार्थवाद की उपेक्षा करना बुद्धिहीनता का परिचायक नहीं है। आदशवाद न्यायपूण मान्यताओं एव विचार धाराओं के प्रति गहनतम आस्था रखता है और अन्याय का दमन कर न्याय की सावभौमिक सत्ता इच्छित करता है। वह इस न्यायपक्ष की विजय के सम्बन्ध मे इतना अस्वस्थ रहता है कि उस अपनी आत्मा का हनन कर आत्म प्रवचना का शिकार बनने मे भी कोई सकोच नहीं होता। आदश एसे औपन्यासिक पात्रो की परिकल्पना पर बल देता है, जिनम चारित्रिक निष्ठा हो और उनका चरित्र किसी भी दृष्टिकोण से दुबल न हो। आदशवाद यह नहीं चाहता कि उसके द्वारा सिरजे गए पात्र परिस्थितियो से विवश होकर अनतिकता की राह अपनाए, हत्या कर। स्वय भी गुमराह हो, दूसरो को गुमराह बनाए। असत्य पथ को अपनाए और जीवन के उन दुबल पक्षो को आत्मसात करे, जो मानवतावादी दृष्टिकोण से नितान्त रूप से भी मेल न रखते हो। आदशवादी पात्र कुछ इस प्रकार का होगा कि ससार की सभी आदशवादी मान्यताए उसमे सिमट आएगी और वह प्रकाश के किसी देदीप्यमान पुज की भाँति चमत्कृत होता रहेगा। उसके जीवन का सात्विक पक्ष इतना प्रबल होगा कि किसी भी प्रकार की आसुरी प्रवृत्तियाँ उसके निकट नहीं आती प्रतीत होंगी और वह सद्वृत्तियो का एक पुतला मात्र बन कर रह जाएगा। स्पष्ट है एसा व्यक्ति यान्त्रिक होगा, वह स्वाभाविकता की सीमा लाँघ जाएगा और हमारे सम्मुख एक स्वप्निल ससार की सृष्टि करेगा। पर न तो कोई व्यक्ति मात्र सात्विक प्रवृत्तियो से ही ओत प्रोत रहता है, और न कोई व्यक्ति मात्र आसुरी प्रवृत्तियो का ही दास होता है। यदि ऐसा हो, तो मनुष्य या देवता ही बन कर रह जाएगा, या फिर राक्षस से अधिक अस्तित्व नहीं रखेगा।

इस काल मे आदशवाद की इन भावनाओ से उपन्यासकार पूणतया अभिभूत थे। इस आदशवादी दृष्टिकोण के साथ उनकी सुधारवादी भावना भी मिश्रित थी। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वे वस्तुत "समाज को पतन के गत से बचाना चाहते थे, विस्मृत होने वाली धार्मिक परम्पराओ मे लोगो का विश्वास पुन जागरित करना चाहते थे, जीवनगत मर्यादाओ को प्रकाशित कर जीवन स्तर उच्च करना चाहत थे और लोगो को नैतिक उत्थान की ओर अग्रसर करना चाहत थे। इस काल मे नारियो की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। उन्हे सामाजिक और राजनीतिक सम्मान न प्राप्त थे। शिक्षा से वे वचित थी, उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता भी न प्राप्त

थी और न उनकी स्थिति में सुधार हेतु प्रयत्न की दिशा में कोई उत्साह ही था। स्वामी दयानन्द से पूर्व यद्यपि राजाराम मोहन राय नारी उत्थान के प्रति अपनी आवाज उठा चुके थे और उन्ही के प्रेरणा स्वरूप लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, तथापि वह केवल एक महान् अनुष्ठान का प्रारम्भ मात्र था। इस अन्यतम लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में अभी यथेष्ट कार्य करना शेष था। स्वामी दयानन्द ने पुनः पूर्ण शक्ति से नारियों की स्थिति में सुधार लाने और नारी शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। आर्य समाज आन्दोलन ने नारियों के कल्याण के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। विधवा विवाह का प्रचलन तो इनने किया ही, विधवाश्रमों की स्थापना का भी प्रयत्न किया। इस समय नारी शिक्षा की ओर किंचितमात्र भी ध्यान नहीं दिया जाता था और लड़कियों की उच्च शिक्षा तो हिन्दू समाज में एक अप्रत्याशित बात समझी जाती थी। आर्यसमाज आन्दोलन ने ही हिन्दू समाज की इस भ्रान्ति का निराकरण कर नारी शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार किया और उसी का परिणाम था कि धीरे-धीरे नारी शिक्षा में अभिवृद्धि होने लगी। थियोसॉफिकल सोसाइटी के माध्यम से श्रीमती ऐनी बेसेंट सदृश महिलाओं ने हिन्दू नारियों के समक्ष ऊँचे आदर्श प्रस्तुत कर नारियों की रूढ़ियों और आडम्बरों को समाप्त कर उनमें नवीन चेतना का सञ्चार किया तथा उन्हें उनके वास्तविक उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य के प्रति सचेत किया। पुनरुत्थान आन्दोलन में सर्वाधिक परिवर्तन की दिशाएं नारियों में ही लक्षित हुई। अभी तक वे अत्यन्त उपेक्षित थी एवं शिक्षा तथा नवीन विचारधारा से वंचित केवल भोग की सामग्री समझी जाती थी। शिक्षा का प्रचार उनमें न होने के कारण उन्हें अपने अधिकारों का ज्ञान न था, न उन्हें अपनी वास्तविक परिस्थिति का ही परिचय था। उन्हें समाज में कोई विशेष प्रतिष्ठा न प्राप्त थी और न राजनीति के क्षेत्र में ही उनका कोई स्थान था। जहाँ तक नारी प्रेम का प्रश्न था, समाज का उस पर कठोर अनुशासन था। वासनात्मक (Sexual Morality) का पतन उनमें पूर्णरूप से नहीं हो गया था और विवाह संस्था के टूटने के कोई आसार नहीं लक्षित हो रहे थे। माता-पिता द्वारा निश्चित विवाह लड़कियों को मान्य थे, और उनमें किसी प्रकार की असंतोष की भावना विशाल रूप से भी व्याप्त न थी।

पूंजीवादी व्यवस्था ने नारियों के ऊपर इस काल में अनेक अत्याचार किए। उनमें इतनी भी प्रगतिशीलता न थी कि वे अपने पांवों पर खड़ी होकर अपनी आर्थिक परतन्त्रता, अपने शोषण एवं पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध कर सकें। पूंजीवादी प्रभाव समाज पर गहनतम रूप से छाया हुआ था और उसने जनमानस को पूर्णतया कुण्ठित कर दिया था। पूंजीवादी व्यवस्था के प्रतिनिधि साम्राज्यवादी पिट्ठू थे, जो प्रगति और चेतना जैसे शब्दों से घबराते थे, इसीलिए इस काल में नारियाँ दासता का जीवन व्यतीत कर रही थी। यह आश्चर्य का विषय है कि ऐसे समय में हिन्दी उपन्यासों का जन्म होने के बावजूद भी वह समकालीन नारियों की परिस्थितियों से

पूर्ण सामंजस्य नहीं स्थापित कर सका। प्रारम्भिक उपन्यासकार तत्कालीन स्थिति से पूर्णतया परिचित तो थे, पर वे यथार्थ के ऊपर आदर्श का गहरा लेप लगाकर एक ऐसी सृष्टि का निर्माण करना चाहते थे जो प्रगति से कोसों दूर हो। वे केवल नैतिकता का उत्थान चाहते थे और ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहते थे, जो नारियों और पुरुषों को कठोरता से नियंत्रित कर सके, और उन्हें उच्छृंखलता से बचा सके। अर्थ व्यवस्था के वैषम्य, पूँजीवादी व्यवस्था में नारियों के शोषण आदि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। वे जटिलता में न फँसना चाहते थे। सीधे सादे ढंग से रम णीयता में वास करना ही उनका लक्ष्य था, जिस पर उन्होंने सुधारवादिता का आवरण डाल लिया था। पर यह सुधारवादी दृष्टिकोण था भी कैसा ? शताब्दियों पुराना ! वे चाहते थे कि सृष्टि फिर से पीछे चलकर पौराणिक काल या वैदिक काल में पहुँच जाए। उन्होंने उपन्यासों के माध्यम से एक मृगतृष्णा का निर्माण करना चाहा था पर वे अपने दुराग्रहों के कारण उस मृगतृष्णा का भी निर्माण सफलतापूर्वक न कर सके। उनके सुधारवादी दृष्टिकोण को थोड़ी और स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करना उचित होगा। वे चाहते थे—

१ नारियों में उच्च शिक्षा का प्रसार न हो। वे स्कूल कालेज न जाएँ और घर पर ही मामूली रूप से पढ़ लिख लें।

२ नारियों का क्षेत्र केवल परिवार तक ही सीमित हो। घर की चारदीवारी के बाहर आकर खुली वायु में श्वास लेना श्रेयस्कर नहीं। इससे नैतिकता का घोर पतन होगा और समाज में अनाचार फैलेगा। दूसरे शब्दों में उन्हें नारियों के ऊपर किंचितमात्र भी विश्वास न था।

३ नारियों को विवाह से पूर्व प्रेम करने का कोई अधिकार नहीं। विवाह और प्रेम सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग करना गौरवहीन है।

४ विवाह के दो एक वर्ष में ही यदि पति की मृत्यु हो जाए, तो भी नारियों को पुनः विवाह न कर पति की स्मृति में सादा जीवन व्यतीत करना चाहिए। दूसरे शब्दों में विधवा विवाह न होने चाहिए।

५ वेश्या नारियाँ समाज का कलंक हैं। वे अस्पृश्य हैं। उनकी तरफ आँख उठाकर भी न देखना चाहिए। वेश्याओं का समाज में बना रहना आवश्यक है। वेश्या विचार की तो कल्पना भी न करते थे।

६ नारियों के लिए अधिकार और प्रगतिशीलता की बातें करना निरर्थक है, तर्कहीन है।

पूर्व प्रेमचन्द काल की नायिकाओं की परिकल्पना इसी निष्कर्ष पर की गई है। यही है पूर्व प्रेमचन्द काल के उपन्यासकारों का तथाकथित आदर्शवादी एवं सुधारवादी दृष्टिकोण जिसे वह समाज में प्रसारित करना चाहते थे। अतः पूर्व-प्रेमचन्द काल की नायिकाओं की परिकल्पना अधिकांश रूप से इसी पृष्ठभूमि पर

की गई, जो परंपरागत, रूढ एवं प्रगतिशीलता का प्रबल विद्रोही था। ऐसे उपन्यासकारों में गोस्वामी जी अग्रगण्य थे। यद्यपि उन्होंने काफी उपन्यास लिखे और उनमें विषय सम्बन्धी विविधता भी प्राप्त होती है, यह नायिका की परिकल्पना अधिकांश रूप में कुछ इने-गिने उपन्यासों में ही की गई है। वे कट्टर सनातनधर्मी थे और नारी शिक्षा के विरोधी थे। उन्हें भय था कि शिक्षा से नारियों में स्वतन्त्रता और उश्रृंखलता जैसी बातें आएगी और उनका चारित्रिक पतन होगा। उनके विचार से नारी सबसे बड़ी शिक्षा उसके स्वभाव एवं चरित्र को आदर्शरूप प्रदान करना मात्र है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि गोस्वामी जी जैसे उपन्यासकार भी नारी के ऊपर विश्वास न रखते थे। उनकी नायिकाओं का विकास रूढ भावनाओं आडम्बर से परिपूर्ण, परंपराओं एवं मर्यादाओं को आत्मसात् करने की अस्वाभाविक सी प्रतीत होने वाली लालसा तथा प्रगतिहीन दृष्टिकोण पर आधारित है। 'त्रिवेणी' (१८८८) की नायिका त्रिवेणी को कोई शिक्षा नहीं प्रदान की जाती, जिसके परिणामस्वरूप वह गहन् कूपमण्डूकता के आवरण में लिपटी रहती है। 'माधवी-माधव वा मदन मोहिनी' (१६१६) में भी माधवी को कोई शिक्षा नहीं प्रदान की जाती और ग्यारह वर्ष की होते ही उसका नाम स्कूल से कटवा दिया जाता है। गोस्वामी जी की नायिकाओं में जीवन के प्रति गौरव की कोई भावना नहीं है। उनमें अपनी आत्मा को महत्व देने एवं अपनी ही भावनाओं को समझने और उनका सम्यक मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति नहीं है। गोस्वामी जी की अनेक नायिकाएं एवं प्रधान नारी पात्र ऐसी नहीं है, जिन्होंने स्वयं अपने पति का दूसरा विवाह कराया है, या उसकी सहमति प्रदान की है। आश्चर्य तो तब होता है कि इस अपमानजनक साथ ही घृणास्पद स्थिति की आलोचना करने के बजाय उपन्यासकार उसका समर्थन किया है। 'पुनर्जन्म वा सौतियाडाह' (१६०७) तथा 'कनक कुसुम वा मस्तानी' में ऐसा ही हुआ है। मेहता लज्जाराम शर्मा की नायिकाओं का विकास भी इसी पूर्णतया परंपरागत सुधारवादी दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि पर हुआ था। इस युग की सुधारवादी प्रवृत्तियों में, जिनमें अभी भी पर्याप्त रूप से ही कट्टरता व्याप्त थी। शर्मा जी का पूर्ण विश्वास था उनकी नायिकाएं पर्दा में रहती है और पर्दे का मूलोच्छेदन अपनी जीवनशक्ति 'मर्यादा' के विरुद्ध समझती हैं। नायिकाएं 'उच्छंखलता' से डरने वाली है और इनसे प्रगतिशीलता को स्थान-स्थान पर ठोकर मारती है। उनकी नायिकाएं भी गौरव एवं मर्यादा को व्यर्थ समझती है, और पति की दास मात्र है। पति के चरणों में उनका भगवान है। पति चाहे शराबी हो, जुआरी हो, विकलांग हो, उनकी रुचि का हो या न हो, और उन दोनों के विचार एक दूसरे से सामंजस्य रखते हो या न रखते हो, उनकी नायिकाएं अपने पति को देवता मानकर उन्ही के चरणों में आँख बन्द कर समर्पित है। वह उन्हें ठोकर मारता है, वे उसे पतिभक्त का प्रसाद समझती है। और इस प्रकार वे अस्वाभिकता की चरम सीमा उपस्थित करती हैं। शर्माजी की नायिकाएं भी अशिक्षित है। शिक्षा के प्रति उनकी कोई रुचि नहीं है। शर्मा जी ने अपने 'प्रवचनों'

और अपनी नायिकाओं के माध्यम से समाज को यह बहाने का प्रयत्न किया है कि नारी दासी है। उस पर कठोर अनुशासन एवं नियन्त्रण रखना चाहिए और जरा भी स्वतन्त्रता न प्रदान करनी चाहिए। वह विश्वास की पात्री नहीं अविश्वसनीयता के स्तर पर रखी जानी चाहिए। प्रगतिशीलता का तिरस्कार शर्मा जी की भी नायिकाएं करती है। 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' तथा 'बिगड़े का सुधार' (१६००) मे उन्होने अपनी तथाकथित 'सुधारवादी' भावना एवं समकालीन समाज मे व्याप्त नारियों की यथार्थ स्थिति (हालांकि उसे भी उन्होने जानबूझ कर विद्रूप बनाने का प्रयत्न किया है) के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा रूढियों, विद्रूपताओं एवं अस्वाभाविक परिस्थितियों का समर्थन करने का प्रयत्न किया है। और तो और उन्होंने वश्यावृत्ति का बड़े जोरदार शब्दों में समर्थन किया है। और समाज में कन्याओं की स्थिति अनिवार्य मानी है।

नारी सम्बन्धी यही धारणा थी जिससे इस युग को उपन्यासकारों को एक सीमित परिवेश मे सोचने को बाध्य किया और उन्होंने अपनी नायिकाओं की कल्पना इस प्रकार की, जिनमें स्वाभाविकता तो नाममात्र को न थी हा आदर्श परपराए उनमें ठूस ठूस कर भरी हुई थी। ठाकुर जगमोहन सिंह के 'श्यामस्वप्न' (१८८८) की नायिका श्यामा, टीकाराम सदाशिव तिवारी कृत 'पुष्पकुमारी' (१६१७) की नायिका पुष्पकुमारी देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय कृत 'सुन्दर सरोजनी' (१८६३) की नायिका सरोजिनी, गगाप्रसाद गुप्त कृत 'लक्ष्मीदेवी' की नायिका लक्ष्मी, रामप्रसाद सत्याल कृत 'किरणशशि' (१६०६) की नायिका किरणशशि, कृष्णलाल वर्मा कृत 'चम्पा' (१६१६) की नायिका चम्पा तथा जनार्दनकिशोर कृत 'कमलनी, (१८६१) की नायिका कमलिनी आदि सभी नायकाओं की परिकल्पना किशोरीलाल गोस्वामी तथा महता लज्जाराम शर्मा द्वारा स्थापित मान्यताओं के आधार पर हुई है। ये दोनों ही इस युग के उपन्यासकारों के नेता थे और उनकी विचार धारा का अनुसरण मात्र मूंद कर किया जा रहा था। पर जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, इस काल की नायिकाओं मे इतने आदर्श हैं कि तत्कालीन परिस्थितियों में उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उनके व्यक्तित्व का इस युग के साथ कोई मेल नहीं बैठता। यह युग नारी उत्थान की दृष्टि से संक्रान्तिकाल का था। वे एक ऐसे दोराहे पर खड़ी थी, जिसके एक ओर परंपराए थी रूढ़ियां थी, आडम्बर थे, दूसरी ओर नवीनता थी, स्वतन्त्रता और प्रगतिशीलता थी, जागरुकता एवं नवोन्मेष की भावना से ओतप्रोत युग उन्हे बुला रहा था। समकालीन नारी मन स्थिति दूसरे मार्ग पर तीव्रता से चलने का आत्मसात् करने का प्रयत्न किया, जो उनका दुराग्रह मात्र ही था। उनकी नायिकाएं कृत्रिमता एवं अस्वाभाविकता की कहानी स्वयं कहती हैं। उनमें किंचितमात्र भी स्वाभाविकता नहीं है। वे एक प्रकार से प्राणहीन हैं। जीवन-स्पन्दन से वंचित हैं। उनका जीवन उनका अपना नहीं है। वह यान्त्रिक है। उनका अस्तित्व एक प्रकार मे कठपुतलियों की भांति है। जिनके डोरें उपन्यासकार

अपनी इच्छानुसार जैसा था(वैसा खींच सकता है, और जिधर चाहे, उस दिशा में मोड़ सकता है। ये सभी नायिकाएं उस युग की नारी स्थिति का प्रतिनिधित्व करती, वरन् उपन्यासकारों के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि इन उपन्यासकारों का दृष्टिकोण रूढ़ियों से जकड़ा हुआ था। अन्धविश्वासों एवं परंपराओं के बंधन में बंधा हुआ था। वे प्रगतिशीलता के विरोधी थे। और नारियों के ऊपर विश्वास करने को तत्पर नहीं थे। पिछले अध्याय में यह विस्तार के साथ दिखाया जा चुका है कि इन उपन्यासकारों ने अपने इस हास्यास्पद दृष्टिकोण के पोषण के लिए जो तर्क उपस्थित किए हैं, वे कुछ और नहीं उनके दुराग्रह मात्र हैं। अतः समग्र रूप में इस युग की नायिकाएं समकालीन नारी परिस्थितियों में अपना सामजस्य नहीं स्थापित कर पाती। तत्कालीन नारियां प्रगति की ओर उन्मुख हो रही थी, और उनमें नवीनता की प्रवृत्ति थी इसके विपरीत इस युग की नायिकाएं पिछड़ेपन की ओर उन्मुख हो रही थी और उनमें प्रगतिहीनता की प्रवृत्ति थी। इस युग की नारियों में शिक्षा का प्रसार हो रहा था, नायिकाओं में शिक्षा का पतन हो रहा था। नारियों में अपने राजनीतिक सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति की दिशा में प्रगतिशीलता लक्षित हो रही थी, पर नायिकाओं में कहीं इसका नामोनिशान भी नहीं था। वास्तव में इसका प्रधान कारण यह था कि इस काल के उपन्यासकारों ने या तो समय की गति और युगीन परिस्थिति की यथार्थता को नहीं पहचाना, और यदि पहचाना भी तो उसकी जान-बूझ कर उपेक्षा की। और अपने आदर्शवादी परम्परा की धुन में उन्होंने यही सोच लिया था कि वर्तमान गति को रोक कर वे परम्पराओं और रूढ़ियों को पुनर्जीवित कर सकते हैं। स्पष्ट है कि अपने इस उद्देश्य में उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हो सकती थी, क्योंकि समय की परिवर्तनशीलता को रोक पाना सहज सम्भव नहीं है। इस काल में औपन्यासिक नायिकाओं के स्वरूप में इस प्रकार कोई विकास नहीं हुआ। नायिकाओं का जो स्वरूप प्राप्त भी होता है, उसे आगे आने वाले युग की भूमिका ही समझनी चाहिए, कुछ और नहीं। पर जैसा कि पीछे कई स्थलों पर यह बात स्पष्ट की जा चुकी है, हिन्दी उपन्यासों का यह प्रारम्भिक काल था, और नायिकाओं के स्वरूप विकास की दृष्टि से यह भूमिका विशेष प्रभावशाली न होते हुए भी यथेष्ट था। प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने लम्बे गौरवशाली विकास पथ का निर्माण कार्य प्रारम्भ कर दिया था, जिसका पूर्ण विकास आगे के युगों में हुआ, यही क्या कम महत्वपूर्ण है ? इसलिए अपनी तमाम अस्वाभाविकताओं, रूढ़ियों, जर्जरित परम्पराओं में जकड़े होने एवं युग दिशा की मात्रा में पिछड़े होने के बावजूद भी इस काल की औपन्यासिक नायिकाएं महत्वशून्य नहीं है। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि पूर्व-प्रेमचन्द काल की औपन्यासिक नायिकाएं ही वह नींव की पत्थर हैं, जिस पर प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकारों ने दीवालें खड़ी की और उत्तर-प्रेमचन्द काल

के उपन्यासकारो ने छत डाल कर उस भवन का निर्माण कार्य पूर्ण किया। इस प्रकार नायिकाओं का स्वरूप विकास क्रमश ही हुआ जाना समझना चाहिए।

प्रेमचन्द काल

प्रेमचन्द के हिन्दी उपन्यासो म आगमन के साथ ही उपन्यास क्षेत्र म परिवर्तन की नई दिशाए लक्षित हुइ और आशापूर्ण सभावनाओं का सूत्रपात हुआ। इस काल म शैली एव शिल्प तथा विषय वस्तु आदि की दृष्टि से ही परिवर्तन नही हुआ, वरन पात्रो एव उनके चरित्र चित्रण के ढग म भी परिवर्तन हुए। पिछले काल म यथार्थवाद का कही नाम नही था, पात्र या तो पूर्णतया कल्पित होते थे और या जीवन क किसी क्षेत्र से लिए भी जाते थे, तो उन पर सुधारवादिता की झोक मे आदर्शवाद का इतना गहरा मुलम्मा चढ़ा दिया जाता था कि वे पूर्णतया अस्वाभाविक से प्रतीत होने लगते थे उनकी आत्मा मर जाती थी और उनमे से जीवन तत्व समाप्त हो जाते थे। उनकी प्रभावशीलता समाप्त होकर व पूर्णतया निर्जीव प्रतीत होते थे। यही कारण था कि जीवन और जगत से दूर होने के कारण वे पात्र समाज पर उतना प्रभाव डालने मे पूर्णतया असमर्थ रहते थे, जितना कि तत्कालीन उपन्यासकार समझते थे। उन पात्रो के स्वरूप को देखकर पाठको को हँसी आती थी और वे केवल मनोरजन की दृष्टि से परखे जाते थे, न कि कोई प्रभाव विशेष ग्रहण करने की दृष्टि से। पर इस काल में वैसी बात न रह सकी। ऐसी बात नही है कि इस काल के उपन्यासकारो ने सुधारवादी दृष्टिकोण का तिरस्कार कर दिया हो या उसे अस्वीकृत कर दिया हो तथा इसके साथ ही आदर्शवादी मान्यताओं को उन्होने निस्सार सिद्ध कर दिया हो। इस काल के उपन्यासकारो का भी दृष्टिकोण आदर्शवादी ही था और उन्होने भी अपना उद्देश्य सुधारवादी ही बना रखा था। पर उन्होने एक काल्पनिक ससार की सृष्टि न कर उपन्यासो का सम्बन्ध प्रत्यक्षत मानव जीवन से सम्बद्ध कर दिया और यथार्थवाद के प्रति भी अपना आग्रह प्रकट करने लगे।

यथार्थवाद ने उपन्यास लेखन शिल्प के ऊपर अपना स्थायी प्रभाव डाला, और साहित्य के जितने भी रूप उस समय प्रचलित थे, उसमे उपन्यास साहित्य पर ही इसका विशेष प्रभाव पड़ा और यथार्थवाद की आधारशिला पर ही उपन्यासो का ताना बाना निर्मित होना प्रारम्भ हुआ। तभी वह जन जीवन के अधिक निकट भी आया और इसके साथ ही उपन्यासो की लोकप्रियता में भी आशातीत वृद्धि हुई, क्योकि इस स्थिति मे उपन्यासों म सत्यता एव स्वाभाविकता का आभास अधिक मात्रा मे प्रतिध्वनित होने लगा। अभी तक कल्पनाशीलता और अस्वाभाविकता के जिस वातावरण ने उपन्यासो को अपने आवरण में जकड रखा था, यथार्थवाद ने समय से उनका मूलोच्छेदन करके उपन्यासो को उचित रूप से दिशोन्मुख किया। यथार्थवाद वास्तव मे वस्तुओ के यथातथ्य चित्रण पर बल नहीं देता, अपितु सत्यानुभूति से प्रेरित चित्रण पर बल देता है। यदि कोई उपन्यास मात्र इसलिए यथार्थ

वादी है, कि उसमे जीवन का चित्रण तटस्थ दृष्टि से किया गया है, तो यह केवल अन्वेषित रोमास ही होगा। यथार्थवाद वास्तव मे बहुविधिय मानव अनुभवो के पूर्ण एवं चित्रण का प्रयत्न करता है, न कि किसी विशेष साहित्यिक दृष्टिकोण का। यथार्थवाद उस जीवन प्रकार मे नही अवस्थित रहता, जो उपन्यासो मे प्रस्तुत किया जाता है वरन् उस जीवन प्रकार के प्रस्तुतीकरण की शैली मे विद्यमान रहता है और विकसित होता है। यथार्थवाद इस सत्य का समर्थन करता है कि साहित्य सृजन न तो प्राणहीन स्तर पर जीवित रह सकता है, जैसा कि प्रकृतवादियों ने दावा किया था और न किसी व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर, जो स्वय अपने स्वत्व का शून्य मे विलय कर देता है।[१] वास्तविक महान् यथार्थवाद इस प्रकार मानव और समाज का उनके पूर्ण रूप मे चित्रण करता है और उनके एक या दो विशेषताओ मात्र के चित्रण के प्रति अपनी अनास्था का भाव प्रकट करता है।

यथार्थवाद त्रुटिपूर्ण विषयो एवं उद्देश्यों के बीच कोई समझौता करता है, यह सोचना या समझना पूर्णतया भ्रामक है। यथार्थवाद एक ऐसे मार्ग के अनुगमन पर बल देता है जो विकसनशील सृजन प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस विकसनशील सृजन प्रक्रिया के मार्ग मे जो भी शक्तियाँ अवरोध उपस्थित करती है, यथार्थवाद उन्हें तिरस्कृत कर उनके प्रति अनास्था का भाव प्रकट करता है। इस प्रकार यथार्थवाद ऐसे सत्य को उद्घोषित एवं समर्थित करता है कि मानव और समाज को खण्डित रूप में नही, वरन् उनके पूर्ण रूप मे चित्रित करना ही श्रेयस्कर है। उनके खण्डित एवं असत्य रूप उन्हे सह्य नही है और वह उन्हे अस्वीकार करता है। वह केवल एक पक्ष या दो पक्षों का चित्रण मात्र कर ही सतोष नही कर लेता। यथार्थवादी यद्यपि कल्पना का पूर्ण तिरस्कार तो नही करता, पर कल्पना मे उसका सम्बन्ध वही तक रहता है, जहाँ तक उसकी अनिवार्यता रहती है। कला सम्बन्धी कोई सृजनात्मक प्रक्रिया तभी सम्भव होती है, जब कल्पना और यथार्थ समन्वित रूप से नवीन निर्माण कार्य में संलग्न होते हैं। चेखव ने एक स्थल पर लिखा है कि यथार्थवाद बाह्य जगत का ही अनुगमन नहीं करता, वरन् वह महती उद्देश्यों से प्रेरित होता है। अत. कहा जा सकता है कि यथार्थ तत्वों का ज्यो का त्यो चित्रण

१. "Realism, however is not some sort of middle way between false objectivity and false subjectivity, but on the contrary the true, solution, bringing third way, opposed to all the pseudo-dilemmas engendered by the wrongly posed question of those who wonder without a chart in the labyrinth of our time.... Realism is the recognition of the fact that a work of literature can rest neither on a lifeless average, as the naturalists suppose, nor on an individual principle which dissolves its own self into nothingness"

—जॉर्ज ल्यूकाच : स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म, (१९५०),लन्दन,पृष्ठ ६।

करना न तो वांछनीय है न सम्भव ही है। इसीलिए थोड़ी बहुत कल्पना का आश्रय साहित्य सृजन में ग्रहण किया जाता है, जिससे वे चीज़ें, जो यथार्थ हैं और प्रस्तुत करने के लिए वांछनीय हैं, एक विशिष्ट दृष्टिकोण से एक विशेष परिवेश में उपस्थित हो सकें। यथार्थवाद इसीलिए सामयिक परिस्थितियों पर अधिक बल देता है और कल्पना की अनिवार्य आवश्यकता के माध्यम से उन्हें सत्य ढंग से प्रस्तुत करता है। इस प्रकार यथार्थवाद से अभिप्राय उस बहुमुखी दृष्टिकोण से है जो स्वतन्त्र जीवन, चरित्र एवं मानवीय सम्बन्धों से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। यह किसी भी रूप में भावुक एवं बौद्धिक शक्तियों का तिरस्कार नहीं करता, जो अनिवार्यतः आधुनिक युग में विकासशील अवस्था में प्राप्त होती हैं। यथार्थवाद का विरोध मात्र उन अवरोधक शक्तियों से है जो मनुष्य की पूर्णता एवं व्यक्ति तथा परिस्थितियों की वस्तुगत विविधता को क्षणिक मुद्रा के माध्यम से खण्डित एवं नष्ट करती हैं।

वैसे यथार्थवाद के कई अर्थ हो सकते हैं, पर यथार्थ वास्तव में यथार्थ ही होता है, जिसे या तो भावनाओं के माध्यम से या फिर मानस के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है, या फिर दोनों के ही माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।[1]

१ "Whatever our philosophical belief, whether we be idealist, materialist, realist or phenomenalist, reality is always reality expressed by senses or by mind, or more truely by both. As such it is ever changing and never has that mechanical cause-and effect relationship which we find in the material world or in the field of science. There seem to be sound reason for believing that there is a phenomenal world to which mankind belongs, but what is certain is that this phenomenal world can only be known and given meaning as part of human consciousness, therefore, whatever it is it is certainly not something fixed and unchanging which any human being could appropriate and claim to own as the reality. There is no true reality except that of the essences and as far as historical time is concerned, that of forms, (Forms is always used with its philosophical meaning of essence or substantial being of a thing) embodied in the permanent symbols of art. Reality is something whose meaning varies, and that also applies to works of art, for although they retain the identity of the material of which they are made, and although, once created, they are, they only exist as works of art while they are apprehended by a human consciousness."

—जोसेफ चिएरी : रियलिज्म एण्ड इमजिनेशन, (१९६०), लन्दन, पृष्ठ २२-२३।

यथार्थवाद वेदना से निवृत्ति नहीं स्वीकारता। मानव जीवन की कुंठाएं, वर्जनाएं एवं असंतोषप्रद स्थितियों की भयंकरता से यथार्थवाद मुख नहीं मोड़ता, उनका साहस के साथ चित्रण करता है। वह मानव की अखण्डता पर तो विश्वास करता है, पर आदर्शवादियों की भांति उसे देवता नहीं बना देता। मनुष्य कुरूपताओं एवं विशेषताओं के परस्पर समन्वय का ही रूप होता है। यथार्थवाद इसी समन्वय को दोनों पक्षों पर समान रूप से बल देता है और सत्य स्थिति के चित्रण में हिचकता नहीं। यथार्थवाद समाज की प्रमुख एवं ज्वलन्त समस्याओं को ही अपने चित्रण के लिए चुनता है और समकालीन मानवीय घुटन, पीड़ाओं आदि के यथार्थ चित्रण में ही उसकी लेखकीय स्थिति सुदृढ़ रहती है। यथार्थवाद की दृष्टि तथ्यात्मक है। तथ्य विज्ञान पर आधारित होते हैं और इन्हीं तथ्यों का अन्वेषण करना यथार्थवाद की प्रमुख प्रवृत्ति होती है। यथार्थवाद की सबसे बड़ी शर्त एवं माँग है कि लेखक बिना किसी भय, संकोच एवं पक्षपात पूर्ण दृष्टि के अपने सृष्टि के सादृश्य से प्राप्त अनुभवों एवं अपने चारों ओर के परिवेश का ईमानदारी के साथ विवरण प्रस्तुत करे। यथार्थवाद ने कला का सम्बन्ध विज्ञान से स्थापित किया है और उसे विश्लेषण शक्ति से विभूषित किया है। यथार्थवाद कट्टर सामाजिक व्यवस्थाओं, रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के प्रति अनास्था का भाव प्रकट करता है। यथार्थवाद की सीमाएं केवल उच्चवर्गीय व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, वह मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय व्यक्तियों को समान रूप से अपने चित्रण का आधार बनाता है। वह पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं को स्वीकार करता है और आदर्शवादियों की भांति जानबूझ कर उसे एक अस्वाभाविक विशिष्ट मोड़ दे देना उसे स्वीकार्य नहीं है। यथार्थवाद लघुता के प्रति कभी अपनी विरक्ति नहीं प्रकट करता और न ही दैवीय शक्तियों के प्रति उसकी आस्था रहती है। यथार्थवाद जीवन के सत्य को चित्रित करता है और उन जीवन सत्यों में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं रखता। यथार्थवाद स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख होता है और परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा वैचारिक दृष्टिकोणों से प्रेरणा ग्रहण कर कला को नवीन वातावरण में गतिशील करता है। यथार्थवाद व्यक्ति को समाज का अभिन्न अंग स्वीकार कर उसकी अखण्डता के प्रति आस्थावान् है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता एवं समाज निरपेक्ष अस्तित्व को अस्वीकार करता है। प्रतिभा के अभाव में यथार्थवादी चित्रण एक विद्रूप बन जाता है और कलात्मकता का अभाव उसकी विशेषताओं को न्यून कर देता है।

पर प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकारों ने शुद्ध रूप से यथार्थवाद का अनुगमन नहीं किया। उन्होंने यथार्थवाद की 'भयंकरता' से समझौता कर लिया और आदर्श एवं यथार्थ का परस्पर समन्वय कर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का पालन करना प्रारम्भ किया। वस्तुतः यह तो निर्विवाद है कि न तो कोई औपन्यासिक कृति शुद्ध यथार्थवादी धरातल पर लिखी जा सकती है और न घोर आदर्शवादी धरातल पर। सत्य तो यह है कि दोनों का समन्वय ही युग सापेक्ष्य है और महान् कलाकारों ने यही

किया है। उन्होंने आदर्श और यथार्थ का समन्वय करके ही अपनी औपन्यासिक कृतियों की सृजना की है। इस समन्वय को ही आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहते हैं। आदर्शवाद में प्राणों का वेग संचारित करने के लिए ही यथार्थवाद आलम्बन रूप में ग्रहण किया जाता है। प्रेमचन्द के अनुसार वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। अतः स्पष्ट है कि आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का समर्थक उपन्यास का अपना विवरण यथार्थवादी ढंग से उपस्थित तो करेगा। किन्तु उस पर आदर्शवाद का मुलम्मा या पालिश चढ़ाता जायगा, जिससे कि उपन्यास पढ़कर सभय पाठक अपने व्यक्तिगत जीवन की क्षुधा, तृष्णा, विवशता, लाचारियाँ एवं अन्य अनेक अवसादों से ग्रस्त मानवीय उत्पीड़ना का मूल आशा और विश्वास, अपनी गौरवशाली संस्कृति की परम्परा के प्रति आस्थामय अनुभूति का अनुभव करे। यथार्थ और आदर्श दोनों ही जीवन के लिए आवश्यक होते हैं।[1] वैसे विचारों के क्षेत्र में आदर्श और यथार्थ के सम्बन्ध में बराबर विचार किया जाता रहा है[2] और दोनों के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

---

१ 'Idealism is the driving force of all vital culture—that which creates but also that which revives and reforms Realism and idealism are both necessary life forms of the human reason In a sense they are intellectual transmatations of the will to life itself The cry we must know is a form of the cry we must live '

—विल्बर मार्शल अर्बन बियोंड रियलिज्म एण्ड आइडियलिज्म (१९४९), लन्दन पृष्ठ ७८।

२ "The realist thinks genuine knowledge is possible unless the thing known is independent of the knower and the ideals thinks that genuine knowledge is impossible if it is wholly independent—unless there be mutual implication of knower and known It is this debate that in one form or another, they are constantly carrying on, and this belongs, as we shall see more specifically presently, wholly to the world of discourse and dialectic Idealism is protean in its forms and is able to raise its head again after every blow—to find a form for every cultural and scientific climate Realism is the antaeus of philosophy and like that hero renews its strength every time it touches the ground of natural instinct or prejudice Each of these tendencies has crystallized into a 'logic' of its own—has in fact made its own logic based upon its own assumptions"

—विल्बर मार्शल अर्बन बियोंड रियलिज्म एण्ड आइडियलिज्म, (१९४९), लन्दन, पृष्ठ २७ ३१।

प्रेमचन्द काल के सभी उपन्यासकारों ने आदर्श के परस्पर समन्वय करके ही अपनी नायिकाओं का स्वरूप प्रस्तुत किया है। इस काल में नायिकाओं के ऊपर से उस भोंडे, कृत्रिम और अविश्वास पूर्वक आवरण को उतारकर, जिसे पूर्व-प्रेमचन्द काल के उपन्यासकारों ने अपनी तथाकथित आदर्शवादिता एवं सुधारवादिता की झोंक में आकर पहना दिया था और जिसके फलस्वरूप इन नायिकाओं का स्वरूप बोझिल ही नहीं हो गया था, आडम्बरपूर्ण और अविवेकपूर्ण सा प्रतीत होने लगा था, नारी की आत्मा को उसकी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। इस काल में नारी समाज के सम्मुख एक भीषण प्रश्न चिन्ह के रूप में उपस्थित थी। दहेज प्रथा अपने भयकर रूप में सामाजिक अभिशाप बनकर नारियों के सुखमय जीवन में विष घोल रही थी। वैधव्य और वेश्यावृत्ति की भयानक छायाएं अलग नृत्य कर रही थीं, जिसकी आवाज़ में नारी की कल्पनाएं, उनके स्वर्णिम भविष्य और सुख-संतोष की भावना डूब कर निष्प्राण हो गई थी। समाज अट्टहास कर रहा था और नारियाँ अनमेल विवाह का शिकार बन अभिशप्त जीवन व्यतीत करने को बाध्य हो रही थी। यद्यपि शिक्षा का प्रसार नारियों में हो रहा था, पर उसे वह गति नहीं प्राप्त हो रही थी, जो वास्तव में प्राप्त होनी चाहिए थी। नारी की आर्थिक परतन्त्रता ज्यों की त्यों विद्यमान थी और वे पुरुषों के ऊपर आश्रित थी। परिवार टूटते जा रहे थे और उस विशृंखलता में व्यक्तिवादी दृष्टि-कोण उभर रहा था। इन समस्याओं को प्रेमचन्द के नेतृत्व में युगीन उपन्यासकारों ने चित्रित करने का प्रयत्न किया पर इस सन्दर्भ में उन्होंने जिन नायिकाओं की परिकल्पना की है, उनमें आदर्श और यथार्थ का सतुलन प्रायः बिगड़ गया है, और यथार्थ की अपेक्षा आदर्श का पुट कुछ अधिक आ गया है, पर उतना नहीं, जितना कि पिछले युग में था और जिसके कारण वे अस्वाभाविक प्रतीत हों। हाँ इतना तो अवश्य ही है कि उनकी स्वाभाविक गति में अब भी उतनी वृद्धि नहीं हुई, वस्तुतः जितनी होनी चाहिए थी।

इस काल की नायिकाएं केवल घर की चार दिवारी तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि उनका प्रवेश राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में भी अधिकांश रूप से हो गया था। वे सामाजिक और राजनीतिक जीवन से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो गई थी। वैसे इसका यह अर्थ नहीं है कि परिवार में उनकी स्थिति नगण्य हो गई थी, या स्वयं इन नायिकाओं ने ही परिवार की उपेक्षा की थी। परिवार का वे इसी प्रकार सम्मान करती थी, जैसे पहले, पर पारिवारिक व्यवस्था के साथ सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के साथ वे सम्बद्ध हो गई थी। 'प्रेमचन्द के 'कर्म भूमि' की प्रधान नारी पात्र सुखदा इसी भावना का प्रतिनिधित्व करती है। इस काल की नायिकाएं आत्मपीड़ा सहन करने एवं अपनी दयनीय स्थिति में चुपचाप जीवन जीने की भावना से ओतःप्रोत हैं। यद्यपि किसी भी उपन्यासकार ने इन नायिकाओं का विद्रोह नहीं चित्रित किया है, फिर भी उनका असन्तोष कई स्थलों पर चित्रित किया

गया था। इस असतोष चित्रण से इस काल की नायिकाओं में काफी स्वाभाविकता की वृद्धि हो गई है। पिछले युग की नायिकाओं में यह बात नहीं थी। यह लेखकों का एक प्रकार का आदर्शवाद ही था। पर पिछले युग की तुलना में यह आदर्शवादी लेप अत्यन्त न्यून मात्रा में था और केवल समस्याओं के समाधान तक ही सीमित था, समस्याओं को प्रस्तुत तो यथार्थवादी ढंग से ही किया गया था। पर इस मात्रा में प्रयुक्त आदर्शवाद ने भी नायिकाओं के स्वरूप को यथेष्ट मात्रा में प्रभावित किया और यदि विकास क्रम की दृष्टि से परिलक्षित किया जाय, तो इस काल की नायिकाए पिछले काल की नायिकाओं से, जहाँ तक आदर्शवाद का प्रश्न है कुछ विशेष भिन्न नही हैं। हाँ, यदि कोई अन्तर है तो मात्र इतना ही कि उनका स्वरूप काफी जाना पहचाना सा प्रतीत होता है और यदि उन्हे यांत्रिक न बनाया गया होता तो कदाचित वे साहित्य की अमर नायिकाए होतीं। इस काल की सभी नायिकाओं में सौजन्यता है, सहिष्णुता है, थोड़ी बहुत त्यागवृत्ति है, परिवर्तनशीलता के प्रति आग्रह है और वे सभी नवोन्मेष की भावना से ओतप्रोत हैं। यद्यपि उन्हें इन सब बातों के साथ ही अपने जीवन के गौरव, मर्यादा, आत्मसम्मान एवं परम्पराओं के प्रति भी मोह हैं, पर इस रूप में नही कि वे अपने को रूढ़ियों से मुक्त न कर सकें।

इस काल की नायिकाओं में सबसे प्रमुख विशेषता तो यह लक्षित होती है कि उन्होंने किसी दबाव में आकर अपनी आत्मा का हनन कर आत्म प्रवंचना को आत्मसात् नहीं किया। उनके अन्दर अपने प्राण हैं, किसी दूसरे के नहीं। वे अपनी साँसों के बल पर जीती हैं, किसी दूसरे की साँसों के आश्रय पर नहीं। वे इस प्रकार जीवन शक्तियों की प्रतीक हैं, प्राणहीन कायाए मात्र नही हैं। जहाँ तक प्रेम का प्रश्न है, इन नायिकाओं का प्रेम सम्बन्धी वह नियन्त्रण नही सहना पड़ता, जो पिछले युग में था। उन्हें थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी पर इस बात का अवश्य ही ध्यान रखा गया कि वे उच्छृंखल न हो जाए। उन्हें रूढ़ियों से मुक्त कर जीवन की वास्तविक मर्यादा की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया गया। इस काल के किसी भी उपन्यासकार ने यह घोषित नही किया कि वेश्यावृत्ति का प्रचलन समाज में आवश्यक है। सभी ने एक स्वर से वेश्यावृत्ति का विरोध किया और वेश्या विवाह एवं उत्थान का समर्थन किया। इस काल में विधवा विवाह का भी स्पष्ट शब्दों में समर्थन किया गया और वेश्या प्रेम तथा विधवा प्रेम को भी मान्यताए स्वीकृत की गई। इस प्रकार प्रेमचन्द काल में हम नायिकाओं का ऐसा स्वरूप प्राप्त होता है, जो पिछले युग की नायिकाओं की अपेक्षा अधिक विकसित है, साथ ही सत्य भी। उनमें काल्पनिकता का समावेश पिछले युग की भाँति नही है और वे युग जीवन के अधिक निकट हैं। पर इस निकटता पर आशंका, संकोच एवं दुराग्रह की छाया भी अपरोक्ष रूप से अंकित है, यह स्वीकार करना होगा। सुमन के जीवन की समस्याओं का समाधान आश्रम में नहीं, विद्रोह में था। ऐसा विद्रोह जो समाज की व्यवस्था को

उलट-पुलट सकता था, जो नारियों के भीतर सुप्त रही थी, पर प्रस्फुटित नहीं हो पा रही थी और जिसके लिए उन्हें नेतृत्व की आवश्यकता थी। निर्मला के मन का विद्रोह भी जबर्दस्ती नियन्त्रित किया गया है। यही स्थिति तितली आदि की भी है। यह परम्परागत मोह के कारण ही हुआ है। प्रेमचन्द अपने विचारों में प्रगतिशील तो थे, पर प्रारम्भ में काफी समय तक वे अपना परम्पराओं का मोह नहीं त्याग पाए थे। सुमन का विवाह सदन सिंह से वे इसीलिए नहीं करा पाये हैं, क्योंकि वेश्या विवाह को अच्छा समझते हुए भी वे समाज में विद्रोह नहीं उपस्थित करना चाहते। इस कार्य को "माँ" में विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" ने किया, जब बन्दीजान वेश्या की दोनों बेटियों का विवाह हो जाता है। इस प्रकार नायिकाएं विकास पथ की ओर निरन्तर अग्रसर होती रहीं और उनमें प्रगतिशीलता का संचार होता रहा।

उत्तर-प्रेमचन्द काल

इन नायिकाओं का व्यक्तित्व उत्तर-प्रेमचन्द काल में और भी निखरा एवं सघन तथा सबल एवं सशक्त हुआ। इस काल में मनोविज्ञान के साथ ही अन्य अनेक नवीन औपन्यासिक प्रवृत्तियों के क्षेत्र में प्रवेश किया और उपन्यासकारों को प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप सर्वथा नवीन प्रकार की नायिकाओं की परिकल्पना की जाने लगी। अभी तक नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत परम्परागत रूपों में अथवा समाज की समस्याओं में निहित था, पर अब उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर कम जाकर इन नवीन प्रवृत्तियों की ओर गया और एक नई नारी का जन्म हुआ, जो सापेक्ष्य तो थी, पर उसमें युग से जूझने और जीवित रहने की क्षमता भी थी। इन नवीन प्रवृत्तियों में फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद, अस्तित्व-वाद आदि प्रमुख हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद की पीछे विस्तार से चर्चा की जा चुकी है।[1] यहाँ उसका उल्लेख करना पिष्टपेषण मात्र ही होगा।

व्यक्तिवाद की परिधि में एक पूरा समाज आ जाता है, जो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र विचारधारा, जो उसे दूसरे व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न स्थान प्रदान करती है तथा विचार एवं कार्यों की प्राचीन परम्परा से अलग रहने की प्रवृत्ति से संचालित होता है। 'परम्परा'—एक ऐसी शक्ति है, जिसमें सदैव सामाजिक तत्वों का समावेश होता है न कि व्यक्तिवादी तत्वों का। इस प्रकार के समाज का अस्तित्व स्पष्ट है, एक विशिष्ट ढंग के वैचारिक दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। विशेष रूप से एक आर्थिक और राजनीतिक संगठन पर, जो अपने सदस्यों को अपने द्वारा संपादित किए जाने वाले कार्यों में विभिन्न वैचारिक दृष्टिकोण अपनाने की व्यापकता, तथा इन व्यक्तिगत आयडियोलॉजी अपनाने की स्वतन्त्रता, जो प्राचीन परम्पराओं पर नहीं, वरन् व्यक्तिगत लोगों की व्यक्तिगत इच्छाओं पर आधारित

१. देखिए : अध्याय ३, (नवीन नारी मनोविज्ञान)।

है, चाहे उनकी सामाजिक स्थिति कुछ भी हो, और चाहे उनकी अपनी व्यक्तिगत सीमाएं कुछ भी हों। यह साधारणतया निश्चित है कि आधुनिक समाज असाधारण रूप से इस सन्दर्भ में व्यक्तिवादी है और इसके आविर्भाव के अनेक कारणों में से दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। एक तो आधुनिक व्यावसायिक पूंजीवाद का उदय एवं विकास तथा दूसरे विरोधवाद का व्यापक विस्तार, विशेषतया उसके शुद्धतावादी रूप का विस्तार।

व्यक्तिवादी आर्थिक सिद्धान्तों के कारण व्यक्तिगत एवं सामूहिक सम्बन्धों का, विशेषतया काम (Sex) पर आधारित सम्बन्धों का महत्व पूर्णतया समाप्त हो गया और जैसा कि वेवर का कथन है, मानव जीवन के बुद्धिहीन तत्वों में काम (Sex) के सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने के कारण यह व्यक्ति के आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किए गए कार्यों में सबसे बड़ा सिर दर्द बन गया है। फलस्वरूप उसे व्यावसायिक पूंजीवाद की आइडियालॉजी के कठोर नियन्त्रण में डाल दिया गया है। एक अन्य विचारक के अनुसार श्रम के प्रगतिशील वर्गीकरण में जब कि हम अत्यधिक उपयोगी नागरिक बन जाते हैं। हम मनुष्य के रूप में अपनी पूर्णता समाप्त कर देते हैं। आधुनिक समाज का पूर्ण संगठन नवीन अन्वेषण की प्रवृत्ति और स्वतन्त्र प्रयत्नशीलता को लगभग समाप्त कर देती है और तब बहुत न्यून मात्रा में मानवीय रुचि शेष रह जाती है। इस स्थिति का समाधान या तो समाचारपत्रों में या फिर उपन्यासों में प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में व्यक्तिवाद की स्थायी उपलब्धि धार्मिक आन्दोलन एवं सुधार के कारण प्राप्त हुई न कि धर्म निरपेक्षिता एवं पुनर्जागरण के कारण। यद्यपि इस प्रकार के विवाद बहुत अधिक तर्कसंगत नहीं कहे जा सकते और व्यक्तिवाद के उदय एवं विकास की उपलब्धियों में कौन तत्व अधिक महत्वपूर्ण थे, कौन तत्व कम महत्वपूर्ण थे, मात्र इसी पर विवाद कर अपने मतों की प्रतिष्ठापना से कोई विशेष लाभप्रद स्थिति नहीं प्राप्त होगी। किन्तु इतना निश्चित एवं सत्य है कि एक तत्व प्रोटेस्टेन्ट के सभी रूपों में सर्वमान्य है कि मनुष्य एवं ईश्वर के बीच मध्यस्थ के रूप में चर्च की सत्ता पूर्णतया समाप्त हो गई और उसके स्थान पर धर्म का एक सर्वथा भिन्न स्वरूप प्रतिपादित हुआ, जिसमें व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता स्वीकृत की गई और अपनी स्वयं की धार्मिक अभिव्यक्तियां एवं तत्सम्बन्धित रूप में दिशा सुख हानि का पूर्ण उत्तरदायित्व व्यक्ति के कन्धों पर ही डाल दिया गया। इस नवीन प्रोटेस्टेन्ट भावाभिव्यक्ति की दो मुख्य विशेषताएं थीं प्रथम यह कि व्यक्ति द्वारा स्वयं एक आत्मिक सत्ता के रूप में अपनी चेतनता की वृद्धि करने की प्रवृत्ति, और दूसरे नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण को प्रजातान्त्रिक आधारभूमि पर स्थापित करने की प्रवृत्ति।

व्यक्तिवाद के आधुनिक स्वरूप के विकास एवं उपन्यासों के विकास की पृष्ठभूमि में इन शुद्धतावादियों की महत्वपूर्ण देन है, जिसका उचित मूल्यांकन होना चाहिए। यह वस्तुतः शुद्धतावाद ही था, जिसके माध्यम से डेनियल डेफो ने उपन्यासों में

व्यक्ति की सत्ता स्वीकार करने और उसके मनोवैज्ञानिक संभावनाओ मे अपने को पूर्णतया अलग कर दिया था, जिससे कि वह व्यक्ति की एकान्तिकता का चित्रण कर सके और यही कारण था कि उनकी कृतियां उन पाठको में अत्यधिक लोकप्रिय हुई, जो अपने को सबसे अलग मानते थे। ऐसे पाठकों ने डेफो को महान् लेखक की संज्ञा से विभूषित किया, क्योंकि उसने प्रथम बार व्यक्ति की सत्ता स्वीकार कर उसकी एकान्तिकता का चित्रण करने का प्रयत्न किया था। व्यक्तिवाद की इस विचारधारा का भी विरोध भी किया गया और कहा गया कि व्यक्ति की एकान्तिकता अत्यन्त हानिप्रद है और पीड़ादायक है और इस पथ पर चलकर मानव जीवन पशु जीवन के समान हो जाता है और उसका मानसिक ह्रास होता है। इन आलोचकों का डेफो ने बड़े विश्वासपूर्ण ढग से उत्तर दिया उसने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति के सामर्थ्य को पूर्ण रूप से समझ लेने के पश्चात् ही इस एकान्तिकता की स्थिति उत्पन्न की जा सकती है और पिछली दो शताब्दियो मे व्यक्तिवाद के एकान्तिक पाठक इसकी आलोचना नही वरन् इस पर अपना हर्ष प्रकट करेंगे कि व्यक्तिवादी अनुभव की विश्वव्यापी प्रतिमूर्ति एकान्तिक बन गई है। यह विश्वव्यापी है—यह शब्द यद्यपि व्यक्तिवाद के सिक्के के दूसरी तरफ बराबर अकित मिलेगा, पर यह शब्द वस्तुतः असन्दिग्ध है। यद्यपि डेफो स्वयं इस नवीन सामाजिक एवं आर्थिक सगठन का एक आशावादी प्रवक्ता था, किन्तु तब भी उसने आर्थिक व्यक्तिवाद से सम्बन्धित न्यून मात्रा में प्रेरणादायक व्यक्तियों का चित्रण अपने उपन्यासों मे किया, जिसने परिणामस्वरूप व्यक्ति को उसके परिवार एवं राष्ट्र से अलग कर दिया। डेफो के अनुसार दूसरे व्यक्तियों के सुख-दुःख हमारे लिए क्या महत्व रखते हैं? सम्भव हो सकता है कि हम सहानुभूति की शक्ति से प्रेरित होकर उसके कुछ भावो से द्रवित हो जाएं और छिपे तौर पर उन्हें अपनी सहानुभूति भी दे डाले, किन्तु अन्ततोगत्वा सभी ठोस प्रतिध्वनियां हमारे स्वयं में ही समाहित हो जाती हैं। हमे अलग-अलग पूर्ण ढग से रहना है। हमारी भावनाएं हमी तक सीमित है। हम प्रेम करते है, हम घृणा करते है, हम व्यथित होते हैं, हम सुखी होते है—किन्तु यह सब अपनी व्यक्तिगत सत्ता के परिवेश में एकान्त ढग से ही होता है। इन बातों के सम्बन्ध मे यदि हम किसी से कुछ कहते हैं तो इतना ही कि अपनी इन एकान्तिकता की इच्छाओ की पूर्ति मे हम उनकी सहायता चाहते हैं और कई एक राष्ट्र एवं दूसरो मे अलग रहना चाहते हैं। यह स्वयं हमारे तक ही सीमित रहता है कि हम सुखी होते हैं या पीड़ित होते है।

व्यक्तिवाद ने समाज के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण की स्थापना की है। व्यक्तिवाद के अनुसार समाज का अपना स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नही है, उसे व्यक्तियों ने मिलकर रचा है। इस समाज को इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि वह व्यक्तियों के ऊपर कोई अनुशासन या नियंत्रण रखने का प्रयत्न करें। व्यक्ति स्वयं ही इतना चेतना सम्पन्न है कि वह अपनी जीवन दिशाओं के सम्बन्ध मे निर्णय कर सकता है। उसे इस बात का स्वयं ही पता रहता है कि वह जिस मार्ग का अवलम्बन

कर रहा है, उस पर अग्रसर होकर वह कल्याणमयी सृष्टि कर सकेगा, या स्वयं अपने ही संहार का कारण बन जाएगा। समाज को इस सम्बन्ध में दिशा निर्देशन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब कभी भी निरंकुशता की प्रवृत्तियों ने व्यक्तिगत अधिकारों एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करने का प्रयत्न किया है, व्यक्तिवाद द्वारा उसकी सफल सामाजिक प्रतिक्रिया हुई है। उसने समाज का स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न किया है। वह ध्वंसोन्मुख समाज की पलायनवादी मनोवृत्ति का प्रतीक बन कर आगे अग्रसर होता है और मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया का स्वरूप बन जाता है। इससे अन्तर्मुखी व्यक्ति का अहं ही समाज एवं उसकी परिस्थितियों का वास्तविक सत्य बन जाता है और वह अन्तर्मुखी ही हो जाता है, और व्यक्ति की यह निःसंगता उसे आत्म बलिदान की प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करती है। व्यक्तिवाद ने एक प्रकार से व्यक्ति को समाज से दूर किया है और उसे अपनी पीड़ाओं और सुख की स्थितियों में स्वयं अपने तक को सीमित रहने के लिए बाध्य किया है। वह व्यक्ति को पलायनवादी बनाकर समाज की सत्ता का पूर्णतया अस्वीकृत करता है।

इस युग की तीसरी प्रमुख प्रवृत्ति जिसने औपन्यासिक नायिकाओं के व्यक्तित्व पर प्रभाव डाला है, वह है समाजवाद, जिसकी मान्यताएं मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित हैं। मार्क्स की विचारधारा के अनुसार किसी देश के इतिहास में ऐसा भी काल आ सकता है जिसमें कला अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। कला प्रक्रिया की यह दिशा सामाजिक प्रगति की दिशा से भिन्न होती है। मार्क्स कला के यथार्थवादी अस्तित्व को स्वीकार करता है। हमारे द्वारा रचा गया साहित्य निश्चित रूप से मानव के ऊपर प्रभाव डालेगा। मानव समाज से भिन्न कला और साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं। उसका सृजन स्वप्न लोक में नहीं, युग जीवन के यथार्थवादी धरातल पर होता है। मार्क्स का विश्वास था कि मानव समाज की प्रगति में पार्थिव शक्तियाँ, जो मूलरूप से अर्थशास्त्र से सम्बद्ध हैं। अधिक मात्रा में क्रियाशील रहती हैं। मार्क्स का कहना है कि यह समाज परिवर्तनशील है जिसका प्रभाव कला एवं साहित्य सृजन पर भी पड़ता है। इस परिवर्तनशीलता के कला और साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि कला और साहित्य रूढ़ियों की स्थिति से मुक्त रहते हैं। साहित्य में रूढ़ियों की अनिवार्य स्थिति स्वीकार की जाती है। उन रूढ़ियों को प्रगति के आवरण में आबद्ध किया जाता है या प्रगति के यह समाज के उन्नायकों की नीतियों पर निर्भर करता है। मार्क्सवाद के अनुसार इन साहित्यिक रूढ़ियों की उपेक्षा करना अनुचित है। इन रूढ़ियों को उस सीमा तक अपनाना आवश्यक होता है, जहाँ तक वे साहित्य की प्रगतिशीलता में सहायक होती हैं। मार्क्स के समाजवादी दर्शन के दो पक्ष हैं। एक विश्लेषणात्मक, दूसरा क्रियात्मक। जब तक संघर्ष नहीं होता। प्रश्न उठता है, इस संघर्ष से वास्तविक अभिप्राय क्या है और यह संघर्ष किसके मध्य होता है? यह संघर्ष समाज के वर्गों के मध्य होता है। ये वर्ग आर्थिक विभाजन पर आधारित

होते हैं। एक वर्ग तो पूंजीवादी समाज का है, जिसके हाथ में उत्पादन प्रणाली के सारे सूत्र है। दूसरा वर्ग सर्वहारा वर्ग का है। जिसके हाथ में कोई अधिकार नहीं है। पूंजीवादी वर्ग इस सर्वहारा वर्ग का शोषण करता है, क्योंकि वह असहाय है। यह शोषण प्रकृति के स्वाभाविक मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है, क्योंकि वह अस्वाभाविक है, प्रकृति ऐसा नहीं चाहती।

सर्वहारा वर्ग परिश्रम करता है। अपने खून-पसीने के असहनीय श्रम से उत्पादन करता है, पर उसे उसका पुरस्कार नहीं मिलता। उसका शोषण होता है। वितरण प्रणाली बड़ी दोषपूर्ण है। पूंजीवादी वर्ग कोई श्रम नहीं करता, किन्तु उत्पादन का अधिकांश भाग वही हस्तगत कर लेता है। देश की अर्थव्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, जिसमें सबका समान भाग हो। असमान वितरण एवं वैषम्य ही वर्ग को जन्म देता है, जिससे समाज में शोषण प्रवृति का प्रसार होता है। प्रगतिशील साहित्य का काम समाज के मार्ग में आने वाली अन्धविश्वास, रूढ़िवाद की अड़चनों को दूर करना है। समाज को शोषण के बन्धनों से मुक्त करना है। कार्यक्रम में प्रगतिशील, क्रान्तिकारी सर्वहारा श्रेणी का सबल साधन बनना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है। काल्पनिक सुखों की अनुभूति के भ्रमजाल को दूर करके मानवता की भौतिक और मानसिक समृद्धि के रचनात्मक कार्य के लिए प्रेरणा देना प्रगतिशील साहित्य का मार्ग है।'[1] मार्क्सवादी धारणानुसार नारी की भी एक विशिष्ट स्थिति होती है। उसके अनुसार इस पूंजीवादी समाज में नारी केवल भोग-विलास की सामग्री है, जिस पर पुरुष का पूर्ण अधिकार है। उसका अपना स्वयं का कोई अस्तित्व मात्र इतना ही है कि वह किसी की पुत्री, श्रीमती या माँ बने।[2] उसके जीवन का एक मात्र उद्देश्य यही होता है कि वह अपने पति को नाना प्रकार से रिझाए और उसके द्वारा प्रदान किए संतानों का पालन करे। विवाह में एक प्रकार से उसका दान किया जाता है। इस समाज तथा परिवार पर पुरुष का शासन है। नारी आर्थिक रूप से पराधीन है, उन पर पुरुष का नियंत्रण है, वह पुरुषों पर आश्रित है। समाज में उसकी स्थिति इतनी हेय और उपेक्षणीय है कि उसे उसके व्यक्तिगत नाम से पुकारना उसका अपमान है। वह पुरुषों के समान स्तर पर कभी नहीं आ सकती। वह पुरुषों के समस्त स्तर पर तभी आ सकती है, जब वह आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो।[3] वह दुर्भाग्य से परतन्त्र है, इसीलिए समाज में उसकी स्थिति इतनी हेय है। नारियों के मानसिक बन्धन तथा नैतिक मान्यताएं एवं पूंजीवादी तथा सामन्तवादी संस्कृतियों के माध्यम से जन्मे हैं। पुरुषों ने उसे बहका-कर उसकी दासता को सतीत्व तथा पतिपरायणता की संज्ञा से विभूषित कर दिया

---

१. यशपालः बात-बात में बात, (१९५४), लखनऊ, पृष्ठ २७।

२. वही, पृष्ठ, ५५।

३. वही, पृष्ठ, ५०-५१।

है ताकि वह असंतुष्ट न हो और अपनी निरापद स्थिति में भी गौरव का अनुभव करे। मार्क्सवाद में प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण भी भौतिकवादी है क्योंकि 'संतान की उत्पत्ति के उद्देश्य से प्रकट होने वाला प्रेम सभी जीवों और मनुष्यों में होता है। अपने श्रम को जारी रखने के लिए ही सृष्टि स्त्री पुरुष में आकर्षण पैदा करती है। प्रेम और आकर्षण का प्राकृतिक, शाश्वत और मूलरूप यही है। बुद्धि और शिक्षा बढ़ने से प्रेम का रंग बदलने लगता है। इन्द्रियां थक जाती हैं। उनसे एक सीमा तक ही तृप्ति हो सकती है। इसलिए मनुष्य कल्पना और बुद्धि द्वारा सुख भोगता है। परन्तु मानसिक सुख का आधार इन्द्रिय सुख की कल्पना ही है। इसलिए जब इन्द्रिय प्रेम का सुख अहिंसात्मक रूप से केवल कल्पना में भोगा जाता है तब उसे आत्मिक बल कहते हैं।'[1] नारी के आत्मसम्मान का महत्त्व नहीं दिया जाता, जिसके दुष्परिणाम होते हैं। इस देश में बिना जाने बूझे पुरुष को पति रूप में स्वीकार कर लेना क्या स्त्री का आत्मसम्मान है? कोई स्त्री विवश ही वेश्या बनती है कोई विवश हो पतिव्रता।' नारियों की इस दयनीयता में ही उसकी मौत है। वह घृणास्पद जीवन व्यतीत करती है। आधुनिक पूंजीवादी समाज में प्रेम एक सौदा मात्र है। नारी आश्रय चाहती है, जिसे प्रेम की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। और सब चीजों की तरह जीवन में प्रेम की गति भी द्वन्द्वात्मक है। प्रेम जीवन की सफलता और सहायता के लिए है।[2] यदि प्रेम बिल्कुल छिछला और पिछला रहे तो वह श्रमयन वासना मात्र बन जाता है,। जीवन में अड़चन के रूप में प्रेम चल नहीं सकता।,[3] क्योंकि 'नारी के लिए प्रेम का परिणाम केवल रक्त है—हृदय का रक्त अथवा शरीर का रक्त। पुरुष केवल ठोकर मारकर चला जाता है। यही उसका भाग्य है और यही उसका गौरव है।[4] इस प्रकार मार्क्सवादी विचारधारा के अन्दर नारी के सम्बन्ध में एक विशिष्ट दृष्टिकोण का परिचय दिया गया, जिसने औपन्यासिक नायिकाओं के व्यक्तित्व को यथेष्ट मात्रा में प्रभावित किया है।

इस काल की चौथी औपन्यासिक प्रवृत्ति अस्तित्ववाद है। अस्तित्ववाद एक दर्शन है, जो जीने से सम्बन्धित है। अस्तित्ववाद के प्रणेता मुख्यतया जीन पाल सार्त्र (1905) समझे जाते हैं, जिन्होंने अपने उपन्यासों एवं नाटकों के माध्यम से इस दर्शन का प्रतिपादन किया। वैसे अस्तित्ववाद के प्रमुखताओं में किर्कगार्ड हाईडेगर का नाम लिया जाता है जिन पर दार्शनिक नीत्शे के विचारों का अत्यधिक प्रभाव था। पर मूल रूप से सार्त्र को ही अस्तित्ववाद का मूल व्याख्याकार समझा जाना चाहिए। अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य का भय है स्वतन्त्रता। इस स्वतन्त्रता

---

1 यशपाल चक्कर क्लब, (1951), लखनऊ, पृष्ठ 18।
2 यशपाल पार्टी कामरेड, (1946), लखनऊ, पृष्ठ 33।
3 यशपाल मनुष्य के रूप, (1949), लखनऊ, पृष्ठ 96।
4 यशपाल मनुष्य के रूप, (1949), लखनऊ, पृष्ठ 117।

का अनुभव मानव मन में तभी होता है, जब अपनी जीवन प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में वह तल्लीनतापूर्वक चिंतन-मनन करता है। इस प्रकार वह जो निष्कर्ष निकालता है, वह स्वयं उसी के लिए अत्यन्त भयानक सा प्रतीत होने लगता है। उसे प्रतीत होता है कि सृष्टि की सीमाएं अत्यन्त व्यापक हैं, और उसमें उसकी लघुसत्ता कोई विशेष महत्व नहीं रखती। उसके चारों ओर नितान्त शून्य की स्थिति व्याप्त है, जिसमें एक प्रकार से उसका उन्मीलन होजाता है। इस शून्यता में अपने अस्तित्व के उन्मीलन के भाव से मानव पूर्णतया संत्रस्त हो उठता है और उस शून्य के वातावरण से ऊपर उठकर अपने अस्तित्व की रक्षा करना चाहता है, जिससे उसकी पूर्णता बनी रहे और उसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहे। इस सृष्टि के व्यापक परिवेश में आच्छादित शून्य की बाहें उसे डस न लें—इसके निराकरण का वह उपाय करता है। अस्तित्ववाद का प्रारम्भ मनुष्य की इसी इच्छा और प्रयत्नशीलता से प्रारम्भ होता है।

अभी तक दार्शनिकों ने उन दोनों भावनाओं में अलगाव की स्थिति उत्पन्न की थी, जिसमें एक व्यक्ति के अस्तित्व के नियम का कारण था, और दूसरी यह प्राकृतिक सृष्टि थी, जिसे निश्चय ही शासन करना चाहिए, जिसकी सर्वोच्च सत्ता सर्वोपरि है, जिसका उन्मीलन नहीं हो सकता। अस्तित्ववादियों के लिए यह अलगाव की स्थिति ही अभी तक प्राप्त सभी उपलब्धियों की नींव है, और दोनों के मध्य समझौते की स्थिति उत्पन्न करना तथा इस अलगाव की स्थिति का दमन करना स्वयं व्यक्तिगत अस्तित्व को ही समाप्त करना है। अस्तित्ववाद हीगल द्वारा प्रतिपादित ठोस पूर्णता का सिद्धान्त दो कारणों से अस्वीकृत कर देता है—१—इतिहास दूसरों द्वारा किए गए व्यक्तिगत निर्णयों का परिणामसूचक सत्यता से परिपूर्ण निष्कर्ष है, और अस्तित्व रखने वाले व्यक्ति के प्रति उसका कोई अधिकार नहीं है, जब तक कि वह व्यक्ति स्वयं उसे ऐसा अधिकार देना पसन्द नहीं करता। २—ज्ञान प्रतीतकाल का मात्र आंशिक ज्ञान ही हो सकता है; भविष्य की सीमाएं सदैव खुली रहती हैं। मनुष्य स्वयं ही मनुष्य का भविष्य है (Man is the future of man)। वे कान्ट के अमूर्त पूर्णता को एक समाधान के रूप में भी नहीं स्वीकृत करते, क्योंकि मनुष्य में ऐसे तत्व नहीं विद्यमान हैं, जिनका दूसरों पर शासन करने एवं उन्हें नियंत्रित करने का अधिकार हो। मनुष्य मात्र वही है, जो वह करता है, तब भी वह इससे भी अधिक कुछ और है। वह अपने आप में कोई तत्व या निष्कर्ष बने, अपने स्वत्व और ऐतिहासिक अस्तित्व का वास्तविक बाह्य जगत में उन्मीलन कर देता है और मानव बन जाता है। इस मानव का स्वरूप वही होता है, जैसा वह अपने को बनाता है। व्यक्तित्व की अन्यतम गहराइयों का कोई अविकृत स्वत्व नहीं है जो अच्छाइयों की आत्मा का रूप होती है और जिसके साथ व्यक्ति प्रायः या कदाचित् कभी भी पूर्ण न्याय नहीं करता। वह इसीलिए, क्योंकि वह सदैव ही दृष्टि में और अपने स्वयं से भी कुछ और रहता है। उसे बराबर चिन्ता बनी रहती

है कि वह जो कुछ भी है, अगर इसमें कम हो जाएगा तो फिर उसका क्या होगा? इसीलिए अच्छाइयों और बुराइयों में वह अपने स्वयं से भी कुछ और सदैव ही रहता है, और यही अलगाव व्यक्तिगत अस्तित्व का सिद्धान्त है।

व्यक्ति सदैव चिंताग्रस्त रहता है। वह चिल्ला चिल्ला कर कहता है मेरी अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी कुछ अर्थ रखती है, उसका अपहरण नहीं होना चाहिए। समाज में मैं भले ही भिखारी हूँ अपाहिज लूला या लंगड़ा हूँ या रिरियाया हुआ कुत्ता हूँ, पर मेरा अस्तित्व अर्थहीन नहीं है। उसे नष्ट नहीं किया जाना चाहिए। चाहे कुछ भी हो जाए, वह किन्हीं भी परिस्थितियों में नहीं चाहता कि उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण हो और उसका अस्तित्व शून्य में लीन हो जाए। दूसरे शब्दों में वह बराबर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता चलता है, यही वास्तव में अस्तित्ववाद है।

अस्तित्ववाद की इस प्रकार अनेक विचित्रताएं स्पष्ट होती हैं। वह व्यक्ति को स्वयं उसी से नहीं अलग कर देता, अपितु इस सारी सृष्टि से भी अलग कर देता है। इससे दर्शन की अनेक समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। वे इस बात की संगति सिद्ध करने का प्रयत्न कदापि नहीं करतीं कि मनुष्य का स्वयं अपने से ही और इस सारी सृष्टि से अलग हो जाना उचित है, और तर्क संगत है बल्कि वे अलगाव की सीमाएं बराबर व्यापक बनाने का प्रयत्न करती हैं और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करती हैं कि मनुष्य के लिए यह अलगाव नितान्त रूप से अनिवार्य है क्योंकि मात्र इसी के माध्यम से वह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व की रक्षा कर सकता है और अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण होने से बचा सकता है। इस प्रकार अस्तित्ववाद अपने सम्बन्ध में उठाई गई शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न नहीं करता और न इस प्रकार की प्रयत्नशीलता की आवश्यकता ही अनुभव करता है। इन शंकाओं की ओर अपना ध्यान वह तभी आकृष्ट करता है, और इनके समाधान का प्रयत्न करता है, जब वे पूर्ण मानव से सम्बन्धित होकर अनिवार्य एवं अनुपेक्षणीय बन जाती हैं। ये शंकाएं मात्र परम्परागत शंकाएं नहीं हो सकतीं और न ही ये जिज्ञासा की अरुचिपूर्ण शंकाएं हो सकती हैं, जो ज्ञान की शर्तों या नैतिक एवं सौन्दर्यवादी निर्णयों से सम्बन्धित होती हैं। क्योंकि मनुष्य का स्वयं अपने से और इस बाह्य जगत से अलगाव की प्रवृत्ति से सम्बन्धित जो प्रश्न उठाए जाते हैं, वे सभी प्रश्न स्वयं उनके और इस वस्तुगत विश्व के अस्तित्व से सम्बन्धित हैं। इस अर्थ में अस्तित्ववाद का इतिहास बहुत प्राचीन है और उसका सम्बन्ध दर्शनशास्त्र के प्रारम्भ से जोड़ा जा सकता है। जबकि वह इस बात की अपील सभी मानवों से करता है कि उन्हें सुप्तावस्था से जगना चाहिए और यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि उनके मनुष्य होने का अन्ततः वास्तविक अर्थ क्या है? दूसरे शब्दों में वह पुनः यह चेतावनी देने का प्रयत्न करता है कि उनकी स्वतन्त्रता खतरे में है, जिसका अपहरण किसी भी क्षण हो सकता है। उनका अस्तित्व कोई अर्थ नहीं रखता, जो किसी भी क्षण

मिटाया जा सकता है। आश्चर्य है कि ऐसे संकट के समय जबकि उनकी स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत सत्ता और अस्तित्व को इस सृष्टि के व्यापक परिवेश ने जबर्दस्त चुनौती दी है। वे सो रहे है, और अपनी स्वतन्त्रता एव अस्तित्व के सम्बन्ध मे किंचितमात्र भी चिन्तित नही है। अस्तित्ववाद व्यक्ति को इस सुप्तावस्था से जगाने और अपने को समझने की प्रेरणा देने की एक दार्शनिक प्रक्रिया है।

यहाँ सार्त्र के सिद्धान्तो को थोड़े विस्तार से समझ लेना अधिक तर्कसंगत होगा। सार्त्र के अनुसार चेतनशील होने का अर्थ है कि हम किसी वस्तु के प्रति चेतनशील है। चेतनशीलता किसी वस्तु से सम्बन्धित होती है, और उससे अलग होती है। वह स्वय अपने से न तो सम्बन्ध जोडती है, न अलग होती है। चेतना का सम्बन्ध इस सृष्टि से अलग नही किया जा सकता जो स्वतन्त्र है, और आत्म-निर्भर है। सृष्टि का सम्बन्ध—अवश्य ही चेतना से विच्छिन्न किया जा सकता है, इसलिए नही कि चेतना महत्वपूर्ण स्थान रखती है, या स्वतन्त्र है, वरन् इसलिए कि वह इस सृष्टि में शून्य के रूप मे आती है। इस प्रकार चेतना इस वस्तुगत सृष्टि से सम्बन्धित है, और उस पर निर्भर है। व्यक्ति वह तत्व नही है, जो विचार करता है, वरिक सभी तत्वो का अलगाव है। यह अलगाव कभी पूर्ण नही होता। ज्ञान का मूलभूत आदर्श यह है कि किसी भी वस्तु को उसके मूलरूप मे देखा और समझा जाए। किन्तु यह तभी सम्भव है, जब चेतना वस्तु के साथ स्वय अपने आपको पहचाने। तभी कोई चेतनशीलता नही हो सकती और न ज्ञान की ही सम्भावना हो सकती है। अत. ज्ञान का वह अर्थ नही है, जैसा कि कान्ट के सिद्धान्तो मे प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञान के माध्यम से हम वस्तुओ को स्वयं उनके मौलिक रूप मे जानने और समझने मे असमर्थ रहते है। बल्कि सीधे-सादे तौर पर अर्थ यह है कि यह पूर्णतया मानवीय है और यह कि चेतनशीलता का अलगाव, जिससे एक ऐसी सृष्टि का अस्तित्व प्रकाश मे आता है, जिसे जाना जा सकता है। इस अस्तित्ववादी सिद्धान्त ने भी नायिकाओं के स्वरूप पर इस काल मे प्रभाव डाला है। यद्यपि यह तो नही कहा जा सकता कि इस अस्तित्ववादी प्रभाव के कारण ही कोई नायिका परिकल्पित की गई हो, पर उसका आंशिक प्रभाव निश्चय ही पड़ा है।

इन सभी नवीन विचारधाराओ ने उत्तर-प्रेमचन्द काल के उपन्यासकारों की नायिका सम्बन्धी परिकल्पना को विशेष रूप से प्रभावित किया। नारी के स्वरूप के सम्बन्ध मे अभी तक जो परम्परागत प्रतिमान थे, उनमे इन नवीन विचारधाराओ ने आमूल-चूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया। अब नारी के आदर्श पत्नी रूप, माँ, भगिनी या विधवा एव वेश्या के रूप के प्रति उपन्यासकारो की विशेष रुचि न रही। उसने नारी के चरित्र की आन्तरिक वृत्तियों का उद्घाटन करके उसके मनोविज्ञान की व्याख्या करने का प्रयत्न किया और उसमे यथार्थ का रंग भरने का भी प्रयत्न किया। नारी का आदर्शवादी परम्परागत रूप अब नायिकाओ के स्वरूप मे नही

प्रतिफलित हुआ, वरन् उनके स्थान पर नारी का जो यथार्थ रूप था, नवीन चेतना के अधीन उसका जो मनोवैज्ञानिक स्वरूप था, तथा उसकी ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, प्रेम तथा वासना का स्पष्ट चित्रण होने लगा और एक प्रकार से नैतिकता एवं अनैतिकता का संकोच उपन्यासकारों में समाप्त होने लगा। इसके कारण स्पष्ट थे। फ्रायड ने व्यक्तियों में कामना की जिस प्रबलता को प्रबल तर्कों द्वारा सिद्ध किया था, उसके प्रति आधुनिक उपन्यासकार विशेष रूप से आस्थावान् हो गया था और परम्पराओं के प्रति उसका मोह समाप्त हो गया था। इसी प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है कि नायिकाओं की परिकल्पना के स्वरूप परिवर्तन की दिशा में इन नवीन विचार-धाराओं ने ही अपना प्रभाव नहीं डाला अपितु स्वयं भारतीय समाज में नारियों की परिवर्तित परिस्थितियों का भी बड़ा हाथ था। समाज में नैतिक तथा सांस्कृतिक मर्यादाएं खण्डित हो रही थीं तथा पश्चिम के प्रभाव में एक विचित्र सी उच्छृंखलता, नग्नता प्रदर्शन, कामोत्तेजक वेशभूषा, अतिशय फैशन-परस्ती और विलासिता, कामुकता से परिपूर्ण चित्रपटों का प्रभाव एवं लोकप्रियता तथा दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली के कारण नारियों का गलत दिशा में प्रयाण आदि में नायिका की परिकल्पना सम्बन्धी स्वरूप विभिन्न दिशाओं में गतिशील हुआ।

यहाँ इस बात की ओर भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस काल में नारियों की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति भी परिवर्तित हो चुकी थी। उन्हें प्रेम एवं विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता भी प्राप्त हो चुकी थी और आधुनिकता के पूर्ण प्रवेश से नवोन्मेष की भावना एवं प्रगतिशीलता से उनकी चेतना पूर्णतया सुसम्पन्न हो चुकी थी। उच्च शिक्षा का उनमें काफी प्रसार हो चुका था और हो रहा था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि अहं भी शक्ति प्राप्त कर रहा था, इसके साथ ही उनमें एक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उभर रहा था। इस प्रवृत्ति का एक परिणाम सामाजिक पलायनवाद के रूप में भी अभिव्यक्त हुआ, जिससे नारियों में आत्म बलिदान एवं आत्मपीडन का भाव भी सशक्त रूप में प्रस्फुटित हुआ। इन सभी प्रवृत्तियों के प्रभावानुसार नायिकाओं के जिन स्वरूपों का विकास इस काल में हुआ उसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है

(क) परम्पराओं एवं आदर्शों के प्रति गहन आस्था का भाव
(ख) आत्मपीडन एवं आत्म बलिदान का भाव
(ग) विद्रोह का भाव
(घ) व्यक्तिगत अहं की प्रधानता एवं तीव्र व्यक्तिवादी दृष्टिकोण
(ङ) फैशन परस्ती एवं विलासप्रियता
(छ) परम्पराओं की अस्वीकृति एवं रूढ़ि मुक्त रूप
(ज) अतीव वासनात्मक

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत शुद्ध रूप से परिकल्पित नायिकाओं की संख्या इस काल में कुछ विशेष अधिक नहीं रही। पिछले काल के आदर्शवादी और परम्परागत उपन्यासकार भी इस युग में अपने दृष्टिकोण में यथेष्ट मात्रा में परिवर्तन ला चुके

थे। यद्यपि पिछले प्रभाव को वे पूर्ण रूपेण समाप्त कर सकने में असमर्थ थे। कुछ नये उपन्यासकारों ने भी इस प्रभाव को आंशिक रूप से ग्रहण किया। इन सभी नायिकाओं में नवीनता के होते हुए भी परम्पराओं का मोह पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुआ था। परम्पराओं एवं नवीनता का यह सामजस्य जैनेन्द्रकुमार, भगवती प्रसाद वाजपेयी, वृन्दावनलाल वर्मा, उषादेवी मित्रा, सियारामशरण गुप्त आदि की नायिकाओं में प्राप्त होता है। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना की गई। जिनमें एक के पश्चात् एक ठोकर सहते रहने से एक विचित्र-सी तटस्थता का भाव आ जाता है। ये नायिकाएं आत्मपीडन और आत्म बलिदान में ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझती हैं। उनके जीवन में असन्तोष रहता है, अपनी स्वयं की कुंठाएं एवं वर्जनाएं रहती हैं। जिसे दूसरे शब्दों में अमुक्त वासना का भी रूप दिया गया है, पर इसके बावजूद भी ये विद्रोह नहीं करती है और परिस्थितियों की विषमताओं से समझौता कर अपने मन के उठे विद्रोह भाव को नियंत्रित करने का प्रयत्न करती हैं। इस नियन्त्रण का कारण परम्पराओं का प्रभाव ही है, क्योंकि ये सभी नायिकाएं परम्पराओं को अपने जीवन में अक्षुण्य बनाये रखना चाहती थी। इस प्रकार की नायिकाएं जैनेन्द्रकुमार, सियारामशरण गुप्त ने विशेष रूप से कल्पित की हैं। विद्रोह का भाव, व्यक्तिगत अहं की प्रधानता एवं तीव्र व्यक्तिवादी दृष्टिकोण रखने वाली नायिकाएं इस समाज की सत्ता को अस्वीकृत करती हैं, और अपने जीवन की दिशाएं निर्मित करने एवं निश्चित करने में स्वयं अपनी चेतना के प्रति ही आस्थावान् रहती है। उस दिशा में उन्हें समाज का हस्तक्षेप बिल्कुल ही सह्य नहीं है। एक प्रकार से उनमें समाज से पलायन की प्रवृत्ति रहती है। ऐसी नायिकाओं में अचल की नायिकाएं प्रमुख हैं। अज्ञेय के "शेखर : एक जीवनी" की शशि यद्यपि नायिका नहीं प्रधान नारी पात्र है, किन्तु उसमें भी इसी प्रवृत्ति का प्रतिफलन हुआ है। समाज में बढ़ने वाली फैशन परस्ती एवं विलासप्रियता के फलस्वरूप जिन नायिकाओं की परिकल्पना की गई है, उनमें इलाचन्द्र जोशी की कुछ नायिकाएं हैं। इनके जीवन का चरम लक्ष्य भोग है, वासना की तृप्ति है, पर कुछ अंशों तक वह असीमित नहीं होने पाया है। परम्पराओं की अस्वीकृति एवं रूढ़ि मुक्त रूप नायिकाएं पूर्णतया आधुनिक हैं। उनमें परम्पराओं के प्रति स्पष्ट विद्रोह की भावना प्राप्त होती है। उनमें वासना के बन्धन भी कुछ मात्रा तक शिथिल हैं तथा उनमें अनैतिकता तथा नैतिकता के प्रति संकोच की भावना न्यून है। प्रत्येक व्यक्ति में अपना अहं अपना आत्मसम्मान होता है। कुछ उसे महत्व देते हैं, कुछ नहीं। जहां तक नारियों का सम्बन्ध है, जब तक उनमें नवीन चेतना और जागृति नहीं हुई थी। उनकी शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार हुआ था, तब तक स्वयं उन्हें कदाचित् यह नहीं ज्ञात था कि व्यक्ति का अहं और उसका आत्मसम्मान भी कोई चीज होती है, जिसे व्यक्ति अधिकांशतः अत्याधिक महत्वपूर्ण मानता है। पर ब्रिटिश शासन के पश्चात् धीरे-धीरे स्थिति में जब परिवर्तन हुआ, तो नारियों में भी अपने अहं एवं आत्मसम्मान की

भावना उदित होने लगी और वे पुरुषों की अपेक्षा अपने को अधिक प्रगतिशील, प्रतिभासम्पन्न एवं तीव्र चेतना शक्ति सम्पन्न सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगीं। यह भावना यहाँ तक शक्ति प्राप्त करने लगी कि नारियों में विद्रोह की भावना भी व्याप्त होने लगी और वे किसी भी मूल्य पर अपने को पुरुषों के समक्ष पराजित होने नहीं देखना चाहती थीं। चाहे व उनके पति ही क्यों न हों। वे पति के सम्मुख भी अपने स्वाभिमान एवं आत्मसम्मान की रक्षा तथा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखने की चेष्टा करने लगीं। इस काल में नारियों का स्वतन्त्र अस्तित्व यथेष्ट मात्रा में विकसित हो चला था और वे अपने अधिकारों के प्रति पूर्ण रूप से सजग हो चली थीं। उनमें एक प्रकार का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पनपने लगा था और विवाह संस्था में वे आमूल चूल परिवर्तन की माँग करने लगी थीं। वे केवल पति की दासी नहीं, वरन् दो स्वतन्त्र व्यक्तियों की भाँति अपना जीवन यापन करना चाहती थीं। अपने व्यक्तिगत जीवन में एक दूसरे का हस्तक्षेप उन्हें पसन्द न था। अंचल के 'चढ़ती धूप' (१९४५) की नायिका ममता इन्हीं भावनाओं की चरम अभिव्यक्ति करती है। अतीव वासनात्मक रूप का चित्रण अधिकांश रूप से यशपाल ने किया है। उनकी नायिकाओं के जीवन में वासना की प्रधानता है, और जीवनगत मर्यादा का अभाव है। वास्तव में यह विश्वास कर लिया गया कि नारियों में पुरुषों की अपेक्षा वासना की प्रबल इच्छा होती है। उनके सारे कार्य व्यापार केवल एक ही उद्देश्य वासना की पूर्ति के लिए होते हैं। इस सम्बन्ध में यशपाल ने एक स्थान पर लिखा है "कला के प्रेमियों को एक शिकायत मेरे प्रति है कि मैं कला को गौण और प्रचार को प्रमुख स्थान देता हूँ। ... कला को कला के निश्चित क्षेत्र में ही सीमित न रख मैं उसे भावों या विचारों का वाहक बनाने की चेष्टा क्यों करता हूँ? क्योंकि जीवन में मेरी साध केवल जीवन-यापन ही नहीं बल्कि जीवन की पूर्णता है। इसी प्रकार कला से सम्बन्ध जोड़कर भी मैं कला को केवल कला के लिए ही नहीं समझ सकता। कला का उद्देश्य है—जीवन में पूर्णता का यत्न।"[1] पर जीवन की पूर्णता निश्चित रूप से मात्र वासना नहीं है, यह निर्विवाद है। यशपाल क्या इतना समझ सकेंगे कि मात्र अश्लीलता ही यथार्थ नहीं है। अश्लीलता का चित्रण चाहे जितना किया जाये। उससे तभी तक किसी को आपत्ति नहीं हो सकती यदि वह मात्र यथार्थ चित्रण के लिए किया जाता है। पर यदि वह चित्रण रस लेकर किया जाता है तो वह आपत्तिजनक है, अशोभन है। अतीव वासनात्मक रूप का चित्रण करने वाले उपन्यासकार उच्छृंखलता, असंयम, भोगवादी तथा पाप पुण्य की सीमाओं के प्रति अत्यन्त असहिष्णु होते हैं और वैयक्तिक जीवन की निराशाओं (Frustration) का प्रतिबिम्बित वासना नायिकाओं में चित्रित होना है। उनका प्रबल यौनोपीड़ित (Sex-obsession) वासना सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग करता है, जिससे जीवन की पूर्णता (?) और सभ्यता का पूर्ण विकास (या पतन ?) हो सके।

---

१ यशपाल दादा कामरेड, (१९४१), लखनऊ, पृष्ठ ४

उपसंहार

अब तक के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी उपन्यासों का जन्म उस समय हुआ, जब देश पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के फलस्वरूप एक नया मोड़ ले रहा था। देश में नवीन चेतना, सामाजिक क्रान्ति, प्राचीनता का विरोध और नवीनता का आह्वान उसी के परिणाम थे। प्रारम्भ में उपन्यासकारों के सम्मुख कोई पहले से चली आ रही परम्परा न थी। उनके सम्मुख कोई आदर्श न था। उन्हें तो अपना आदर्श, और मार्ग स्वयं ही निश्चित करना था। इस बात की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है कि पश्चिम के साथ सम्पर्क के फलस्वरूप पुनरुत्थान की भावना उत्पन्न हुई थी। नारी-जागरण इस पुनरुत्थान का प्रधान एवं प्रमुख अंग था। उस समय नारियों की स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए। अभी तक उनमें शिक्षा तथा नवीन चेतना की कमी थी, वे अपने सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित थीं, धार्मिक रूढ़ियों से ग्रस्त थीं। एक प्रकार से वे बिल्कुल ही पिछड़ी हुई थीं, युग के नए दौर के साथ चलने में अपने को असमर्थ पा रही थीं। पुनरुत्थान काल ने उनकी काया पलट कर दी, और उनमें शिक्षा का प्रसार होने लगा, नवीन चेतना का उदय हुआ, वे अपने सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों के प्रति सजग और साथ ही प्रयत्नशील हुईं। इसके परिणामस्वरूप एक नई नारी का जन्म हुआ, जो परम्पराओं में विश्वास रखने के बावजूद भी रूढ़ियों से ग्रस्त नहीं थी। उचित मात्रा में शिक्षा प्राप्त करने पर भी उसमें उच्छृंखलता नहीं आई थी, उसमें सहिष्णुता थी, अपने कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व का पालन करने की लालसा थी, तथा सद्गृहिणी बन कर परिवार का पालन करने की आकांक्षा थी। नवीन शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा होते हुए भी भारतीय नारी भारतीय आदर्श की उपेक्षा करना नहीं चाहती थी—सम्भवतः चाहते हुए भी नहीं कर सकी, क्योंकि संस्कार मनुष्य के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वह बिल्कुल स्वतन्त्र होना नहीं चाहती थी, हालांकि पति की दासता का भी वह दबे-दबे स्वरों में विरोध कर रही थी। आगे चलकर स्थिति में थोड़ा और परिवर्तन हुआ। पश्चिम की नई लहर भारतीय चेतना पर छाती गई। वहाँ की संस्कृति, वहाँ की नारियों की स्वतन्त्रता, स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने की लालसा आदि ने भारतीय नारी को अत्यधिक प्रभावित किया, और वह उन आदर्शों को अपने जीवन में ढालने को व्यग्र हो उठी। इसका दुष्परिणाम

हुआ। देश की परम्पराओं के प्रति नारियों का मोह कुछ कम हो चला। अब उन्हें अपनी गौरवशाली मर्यादाओं का अधिक ध्यान न रहा। उनमें भोग और विलास की वृत्ति का प्राधान्य होने लगा। कुछ वर्गों से सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग भी उठाई जाने लगी। इस प्रकार आलोच्य काल में हम नारी के तीन रूप प्राप्त होते हैं —(१) सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित नारियों का परम्परागत एवं रूढ़ियों में ग्रस्त रूप। (२) नवीन परिस्थितियों में निर्मित नारियों का रूप, जिसमें अपने अधिकारों के प्रति सजगता और उन्हें प्राप्त करने के प्रति प्रयत्नशीलता का भाव उदय हो रहा था। (३) नारी का आधुनिकतम रूप जिसमें नारी को अपनी परम्पराओं एवं आदर्शों के प्रति कोई मोह नहीं रहा था, और उसे अपने समस्त अधिकार प्राप्त हो गए थे। आर्थिक दृष्टि में भी स्वावलम्बी होने के उसे प्रत्येक अवसर सुलभ थे। उसकी स्वतन्त्रता की भावना का एक रूप यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध तोड़ने में भी व्यक्त हुआ।

उपन्यासों में चूँकि मानव जीवन का ही प्रमुख रूप से चित्रण होता है, इसलिए उपन्यासकार अपने समय की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों से अत्यधिक प्रभावित होता है। समाज नारी और पुरुष दोनों से मिलकर बनता है, उपन्यासकार उसी सामाजिक वातावरण को उपन्यास के पृष्ठों में सजीव करने का प्रयत्न करता है। उसे उपन्यासों में पुरुष पात्रों के साथ नारी पात्रों की रचना आवश्यक होता है जिससे कि वह मानव जीवन की भाँति उपन्यास को भी पूर्णता सिद्ध कर सके। इसीलिए उपन्यासकारों के उपन्यासों में हम नारियों के विविध रूप प्राप्त होते हैं। अपनी नायिका सम्बन्धी परिकल्पना में उपन्यासकार नारी के परम्परागत और नवीन रूपों से प्रेरणा प्राप्त करता है साथ ही वह नारी की सामाजिक स्थिति से भी प्रभावित होता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में उनके सहयोगियों ने नारी की स्थिति की ओर ध्यान दिया। स्वयं भारतेन्दु ने अपना नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण "नीलदेवी" (१८८१) नामक नाटक में व्यक्त किया है। यद्यपि उन्होंने स्वयं कोई भी मौलिक उपन्यास नहीं रचा, पर उन्होंने अपने सहयोगियों को बराबर सामाजिक जागरूकता में विश्वास रखने के लिए प्रेरित किया। पर तब भी प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने नारी की परिवर्तित परिस्थितियों को उस रूप में चित्रित करने में अपने को असमर्थ पाया जिस रूप में उन्हें करना चाहिए था। वे उपन्यासों में मनोरंजक तत्त्वों का समावेश अधिक मात्रा में करना चाहते थे, तथा ऐयारी, रोचकता, आश्चर्य में डाल देने वाली घटनाओं का संचयन एवं कौतूहलता आदि उन्हें अधिक प्रिय थी। अतः वे उचित रूप में नायिकाओं की कम ही कल्पना कर सके, और जो नायिकाएँ कल्पित भी की गई हैं, वे परम्पराओं में विश्वास रखने वाली पातिव्रत धर्म का पालन करने वाली तथा अपने जीवन में प्रेम को अधिक महत्त्व देने वाली थीं। नारी का प्रेमिका

रूप ही अधिक स्पष्ट हो सका। यहाँ तक कि किशोरीलाल गोस्वामी भी जिन्होंने अनेक उपन्यासों की रचना की, कोई ऐसा उपन्यास लिखने में असमर्थ रहे, जिसकी नायिका नारी की तत्कालीन परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों एवं उसके जीवन में समाविष्ट होने वाली नवीनताओं को अपने मे समेटे हुए हो। भारतेन्दु युग के बाद द्विवेदी युगीन उपन्यासकारों ने नारी समस्याओं को प्रस्तुत अवश्य किया, पर अधिक सशक्त रूप मे नही। इस प्रकार की समस्याओं को प्रस्तुत करने में जिस नवीन दृष्टि-कोण की आवश्यकता थी, उन उपन्यासकारो में इसका अभाव था। पर एक बात अवश्य ही भारतेन्दु युगीन और द्विवेदी युगीन उपन्यासकारो में सामान्य रूप से पाई पाई जाती है, कि वे नारी को उच्च स्थान प्रदान करते थे, और उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उसमें उच्छृंखलता, उसका पतित होना, तथा अपने कर्तव्य एव दायित्व से च्युत होना उन्हे सह्य नही था। इसीलिए जितनी भी नायिकाए हमे इन युगो में प्राप्त होती है, सभी का एक सतुलित रूप है, उनमे अपनी जीवनगत मर्यादाओं का त्याग करने की प्रवृत्ति नही है।

इसी आदर्श को प्रेमचन्द और उनके सहयोगियो ने भी अपनाने का प्रयत्न किया। उनकी दृष्टि मे भी नारी अत्यधिक श्रद्धा की पात्री थी, इसीलिए उन्होने जिन नायिकाओं की परिकल्पना की, उनमें जहाँ तक परम्परागत आदर्शों जीवनगत मर्यादाओं एवं कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व के प्रति सजगता का प्रश्न है, वे भारतेन्दु-युगीन और द्विवेदीयुगीन नायिकाओं से भिन्न नही है, पर यह अवश्य है कि उन्होंने नारी समस्याओं को अधिक गम्भीरता से तथा यथार्थवादी ढग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने नारी की समस्याओं का केवल ब्यौरा ही नही प्रस्तुत किया है, अपितु नारी की समस्याओं के साथ अपनी नायिकाओं एवं नारी पात्रो को इस प्रकार परस्पर सगुफित किया है, कि इन समस्याओं का प्रभाव उपन्यास पढते समय निरन्तर तीव्र ही होता जाता है, और अंत तक पहुँचते-पहुँचते पारा जैसे अपने अधिकतम सीमा पर पहुँच भनभना कर टूट जाता है, उसी प्रकार उन समस्याओं का भी प्रभाव अत्यन्त तीव्र रूप से पाठकों पर पड़ता है। पिछले दोनो युगों मे यह बात नही थी। वहाँ समस्याए पहले से थी, नायिकाओं एवं नारी पात्रो को उसमे फिट भर कर दिया जाता था, पर उनके ऊपर से थोपे जाने को वे नही छिपा पाते थे, इसीलिए उन समस्याओं का उतना तीव्र प्रभाव भी नही पड पाता था, उनका ब्यौरा केवल इतिहास ही बन कर रह जाता था।

प्रेमचन्दोत्तर काल में नारी का तीसरा रूप अत्यन्त विकास प्राप्त कर लेता है, और उसके साथ ही औपन्यासिक शिल्प का भी यथेष्ट विकास हो जाता है। इस नए दौर मे नायिकाओ के अतरमन की भावनाओं के अध्ययन एव उनके मनोविश्लेषण पर अधिक बल दिया जाने लगा, जिससे कि अधिकांश उन नायिकाओ के सम्बन्ध मे, जिन्हे ऊपरी सतह से ही जानने के कारण हम उच्च प्रवृत्तियो की एव आदर्शपूर्ण समझते थे, इन लेखको ने उनकी बाकायदा चीरफाड़ की, और उनका

कोई रहस्य हमसे अपरिचित नहीं रह गया। अब परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी थीं, और उपन्यासकारों ने जिन नायिकाओं की परिकल्पना की, उनमें परम्पराओं के प्रति, परिवार के प्रति, कर्तव्य एवं दायित्व के प्रति उतना मोह नहीं रह गया था, जितना पिछले दौर में, और उनका सर्वथा नवीन रूप हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ। इस काल में सर्वाधिक विचार नारी की आर्थिक समस्या पर किया गया। क्योंकि *अपनी तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद भी नारियाँ पूर्ण रूप से स्वावलम्बी नहीं हो पाई थीं* और उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता अब भी उनके सम्मुख उपस्थित थी। जैनेन्द्र, सियारामशरण गुप्त आदि ने इसी समस्या को प्रभावशाली ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न किया। किन्तु एक बात अवश्य ही उल्लेखनीय है और वह यह कि प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यासों में नारी समस्या पर उतना बल नहीं दिया गया जितना नारी चरित्रों पर इसीलिए अनेक नायिका प्रधान उपन्यासों के चित्रण में जो समस्याएं आ जाती थीं, उनका समावेश तो हो जाता था, पर केवल समस्याओं के चित्रण के लिए वह भी विशेष रूप से नारी समस्याओं के चित्रण के लिए, कम ही उपन्यास रचे गए।

नायिका सम्बन्धी परिकल्पना में जहाँ तक नारी के आदर्शों, उसकी मर्यादा, उसके त्याग एवं पवित्रता का प्रश्न है ठाकुर जगमोहन सिंह, किशोरीलाल गोस्वामी, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, विश्वम्भर नाथ शर्मा "कौशिक" सियारामशरण गुप्त तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" आदि में अत्यधिक साम्य हैं, यद्यपि सभी के दृष्टिकोण एवं समस्याओं के प्रस्तुत करने के ढंग में स्वाभाविक रूप से अन्तर है। इन सभी लेखकों ने नारी के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा प्रकट की है, और उसके पतित रूप में भी गरिमा खोजने का प्रयत्न किया है। नारी समस्याओं के बहाने नायिकाओं की इन्द्रिय लोलुप मनोवृत्ति की उत्तेजना तथा शारीरिक भूख की तुष्टि की कामना आदि *का रसमय चित्रण करने के सम्बन्ध में* "यशपाल", "उग्र", "ऋषभचरण जैन" तथा 'चतुरसेन शास्त्री अधिक निकट हैं, जिनके उपन्यासों में मनोविश्लेषण एवं यथार्थवाद के नाम पर सतीत्व की सर्वथा अवहेलना और वासना का नग्न चित्रण दिखाई पड़ता है। समग्र रूप में प्रेमचन्दोत्तर काल और बाद भी नारी श्रद्धा की उतनी पात्री नहीं रह गई, जितनी वह भारतेन्दु और द्विवेदी युग तथा प्रेमचन्द के युगों तक रही।

प्रेमचन्दोत्तर काल में यथार्थवाद के नाम पर नारी की काफी दुर्गति हुई है। प्रायः लेखकों ने अपनी नायिका का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया, जिससे उसमें *यथार्थ का* अधिकाधिक पुट प्रतिपादित हो सके, और साथ ही लेखक की उस ईमानदारी का परिचय प्राप्त हो सके कि वह एक ऐसी नायिका का चित्रण कर रहा है जो सबके बीच की है, सभी उससे परिचित हैं, वह भिन्न नहीं है। उसमें भी कुछ ऐसा नहीं, जो अस्वाभाविक एवं अप्राकृतिक है। पर लेखक के इस उद्देश्य में जाने-अनजाने यह भाव भी सम्मिलित रहता था, या किया जाता था कि नायिका का रूप इस प्रकार कल्पित किया जाय, जिससे पाठकों की छिपी हुई प्राकृतिक वासना

पर एक हल्की चोट देकर उसे उभाड़ा जा सके, और वह नायिका उनके मन और मस्तिष्क पर दिन रात छाई रहे। यहाँ एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है, वह है लेखक की ईमानदारी, जिसे वह साहित्य, समाज एवं राष्ट्र के प्रति अपने महती उत्तरदायित्व को समझ कर उनका पालन करना अपना प्रमुख कर्तव्य समझता है। शताब्दियों में कोई एक भारतेन्दु या प्रेमचन्द जन्म लेता है, जो साहित्य का एकमात्र यह उद्देश्य ही मानता है, कि वह हमारे मन के छिपे हुए देवत्व को उभार कर रख दे, और हमे सत्पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सके पर प्रेमचन्दोत्तर काल में अधिकांश उपन्यासकारों ने इसे पूर्णतया अस्वीकृत किया, और परिणामस्वरूप नारी की छीछालेदर हुई, उनके वासनात्मक रूप, गोरी मांसल बाहों, और सौन्दर्य पर ही अत्यधिक बल दिया गया। यह तो नहीं अस्वीकृत किया जा सकता कि हमारी नारियों में आदर्श ही आदर्श हैं, विकृतियां उनमें कुछ भी नहीं हैं। यह सत्य है कि उनका पतन काफी सीमा तक हुआ है, और उनमें विकृतियां भी काफी आई हैं, पर साहित्य हमारी सात्विक वृत्तियों को उभाड़ने के लिए होता है, न कि हममें वासना एवं उत्तेजना उत्पन्न करने के लिए। यदि साहित्य के उद्देश्य को इतनी लघुतम सीमा में आबद्ध कर दिया जायगा। तो उसकी स्थिति अत्यन्त सन्देहप्रद बन जायगी। अधिकांश प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं को ऐसी ही अस्वस्थ परिस्थितियों में रखकर चित्रित किया है, जिस पर उन्होंने यथार्थवाद का मुलम्मा देने का प्रयत्न किया है, पर साहित्य के विकास की दिशा में वह एक अत्यन्त भयानक खाई उत्पन्न कर देता है। उन्होंने नारी को उसके ममत्व से वंचित करके उसे केवल प्रेमिका रूप में देखना अधिक उचित समझा। जो उनका एक अविवेकपूर्ण दुराग्रह था। १९४७ के बाद तो इस स्थिति में और परिवर्तन हुआ, और मोटी के उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं के बहाने कामशास्त्र की व्याख्याएं करनी प्रारम्भ कर दी। उनकी नायिकाएं ऐसी तितलियों के रूप में उपस्थित की गईं जिनको जीवन का प्रमुख उद्देश्य ऐश्वर्य एवं विलास की प्रवृत्ति को ही पूर्ण करना था। इसी से ही उन्होंने अपने कर्तव्य एवं दायित्व की पूर्णता समझी।

प्रश्न उठता है, कि क्या प्रेमचन्दोत्तर काल में परिस्थिति इतनी परिवर्तित हो गई थी कि उपन्यासकार इस प्रकार की तितलियों का चित्रण करने पर बाध्य हो गया था? यह आवश्यक है कि इस युग में पश्चिम की देखा-देखी नारियों ने भोग और विलास के प्रति अधिक आग्रह प्रकट किया, पर उनकी संख्या अधिक नहीं हो पाई। उस तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद भी अधिकांश नारियों ने अपनी गौरव-पूर्ण मर्यादाओं का पूर्णतया त्याग नहीं किया, बल्कि वे उन्हें नवीन परिस्थितियों के अनुरूप ढाल कर अपनाने में संलग्न हुईं। अतः उन थोड़ी सी संख्या में अपनी मर्यादाओं को छोड़ देने वाली नारियों को भारतीय नारी समाज का प्रतीक स्वरूप मान कर नायिका की परिकल्पना करना वास्तव में एक विडम्बना मात्र ही है, पर हिन्दी उपन्यासों में हुआ यही, और परिणामस्वरूप प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यासों

में अधिकांश रूप से नायिकाओं के अस्वस्थ रूप ही उपस्थित किए गए। आज हमारा देश निर्माण की अवस्था में है, हमें स्वतन्त्रता प्राप्त किए पन्द्रह वर्ष ही हुए हैं। अभी हमें प्रगति के चरमोत्कर्ष तक पहुँचना है, जिसमें नारियों का उतना ही उत्तरदायित्व है, जितना पुरुष का। ऐसी अवस्था में उपन्यासकार का यह प्रमुख कर्त्तव्य हो जाता है कि वह नारियों में नैतिक उत्थान की दृष्टि से अपनी नायिकाओं की परिकल्पना करे और नारियों में जिस सीमा तक नैतिकता का पतन हो गया है, उसके प्रति उन्हें सचेत कर, उनमें जीवन की गरिमा स्थापित करने की प्रेरणा दे सके। उन्हें अपनी नायिका सम्बन्धी परिकल्पना में देश और समाज के व्यापक सन्दर्भ में परिवर्तन करना होगा, तभी साहित्य का वास्तविक उद्देश्य पूरा हो सकेगा।

परिशिष्ट

सहायक पुस्तकों की सूची

विशेष : इस शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त उपन्यासों की रचना तिथियाँ यथासंभव देने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ ऐसा नहीं संभव हो सका है, वहाँ प्रयुक्त संस्करण की तिथियाँ दी गई हैं।

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' : अधखिला फूल, (१९०७), बनारस।
२ अल्फ्रेड एडलर : प्रोब्लम ऑव न्यूरोसिस, लन्दन।
३. अर्नेस्ट ए० बेकर : द हिस्ट्री ऑव इंगलिश नॉवेल, प्रथम पोथी लन्दन।
४. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, (१९४०), द्वितीय भाग, (१९४४), बनारस।
५. अचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद।
६. अचल : नई इमारत, (१९४७), इलाहाबाद।
७. आर्नोल्ड कैटिल : एन इन्ट्रोडक्शन टू द इंगलिश नॉवेल, लन्दन।
८ अगस्त फोरेल : द सेक्सुअल क्वेश्चन, (१९३१), लन्दन।
९ आर्थर कॉम्पटन रिकेट : ए हिस्ट्री ऑव इंगलिश लिट्रेचर, (१९४०), लन्दन।
१०. आस्कर फिस्तर : लव इन चिल्ड्रेन एण्ड इट्स एब्रेशन्स, लन्दन।
११. आर० सी० मजूमदार : एन एडवान्स्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया, (१९५२), लन्दन।
१२. आर० विफाल्ट : द मदर्स, तीसरी पोथी, (१९२८), न्यूयॉर्क।
१३. आयरीन क्लीफेन : टूवर्ड्स सेक्स फ्रीडम, (१९३५), लन्दन।
१४. इलाचन्द्र जोशी : लज्जा, (१९२९), इलाहाबाद।
१५. इलाचन्द्र जोशी : सन्यासी, (१९४१), इलाहाबाद।
१६. इलाचन्द्र जोशी : पर्दे की रानी, (१९४१), इलाहाबाद।
१७. इलाचन्द्र जोशी : प्रेत और छाया, (१९४६), इलाहाबाद।
१८. इलाचन्द्र जोशी : निर्वासित, (१९४६) इलाहाबाद।
१९. इलाचन्द्र जोशी : विवेचना, (१९४६), इलाहाबाद।
२०. ईरा वॉल्फर्ट : ह्वाट इज ए नॉवेल एण्ड ह्वाट इज इट गुड फॉर, (१९५०), न्यूयॉर्क।
२१. ई० एम० फार्स्टर : एस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (१९४९), लन्दन।
२२. उपेन्द्रनाथ अश्क : सितारों का खेल, (१९३९), इलाहाबाद।

२३ उपेन्द्रनाथ अश्क गिरती दीवार, (१६३६), इलाहाबाद।
२४ उषा देवी मिश्रा जीवन की मुस्कान, (१६३६)।
२५ उषा देवी मिश्रा वचन का मोल।
२६ उषा देवी मिश्रा पिया।
२७ एडलर अ अण्डर्स्टैंडिंग ह्यूमन नेचर, (१६२७) न्यूयार्क।
२८ एलेन बाल्टर राइट्स आन रार्टीम, (१६४८), लन्दन।
२६ एलिजाबेथ चेसेर वोमन, मरेज एण्ड मदरहुड, (१६१३), लन्दन।
३० एलेन क्यी द वामन मुवमेन्ट, (१६१२), लन्दन।
३१ ए० एम० बी० मौमिन वोमन इन ला आन, (१६०७), लन्दन।
३२ ए० एच० मॉरीसन वामन एण्ड देयर करीयस, (१६३४), न्यूयार्क।
३३ एमिली फौफर वोमन एण्ड वक, (१८८८), लन्दन।
३४ एम० प्रुएट वीमेन एण्ड लेजर ए स्टडी ऑव वेस्ट, (१६२४), न्यूयार्क।
३५ एनी एलॉस्टासी डिफ्रन्शल साइकोलॉजी, (१६३७), न्यूयार्क।
३६ एस्थर हार्डिंग द व आव आल वीमेन, (१६३३) लन्दन।
३७ एडिथ ह्वाटन पर्मानेन्ट वल्यूज इन फिक्शन, (१६६६), टोरोंटो।
३८ ए० युसुफ अली द मेकिंग आव इंडिया, (१८७५) लन्दन।
३६ ए० युसुफ अली ए कल्चरल हिस्ट्री ऑव इंडिया (१६४०), लन्दन।
४० ए० एस० अल्टेकर द पोजीशन ऑव वीमन इन हिन्दू सिविलिजेशन, (१६५६), बनारस।
४१ एडविन म्योर द स्ट्रक्चर ऑव नॉवल, (१६४६), लन्दन।
४२ एच० जी० वेल्स आउटलाइन्स आव हिस्ट्री, (१६२०), लन्दन।
४३ एल० एफ० रशब्रुक व्हाट एबाउट इंडिया ? (१६३६), लन्दन।
४४ ए० जे० आर्कबोल्ड आउट लाइन्स ऑव इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री, (१६२६), लन्दन।
४५ ए० डी० स्पेन्सर वूमन शेयर इन सोशल कल्चर, (१६१३), फिलाडेल्फिया।
४६ ए० तुडोविची वूमन ए विंडिकेशन, (१६२३), लन्दन।
४७ ओटो वनिन्डार सेक्स एण्ड करेक्टर, (१६०३), वियना।
४८ कनारा रीव प्रोग्रेस आव रोमास, (१७८५)।
४६ कर्लगुई कॅजामियाँ ए हिस्ट्री ऑव इगलिश लिट्रेचर, लन्दन।
५० किशोरीलाल गोस्वामी त्रिवेणी, (१८८८) बनारस।
५१ किशोरीलाल गोस्वामी स्वर्गीय कुसुम, (१८८६) बनारस।
५२ किशोरीलाल गोस्वामी हृदयहारिणी, (१८६०), बनारस।

५३. किशोरीलाल गोस्वामी : लवंगलता, (१८९०), बनारस।
५४. किशोरीलाल गोस्वामी : पुनर्जन्म वा सौतिया डाह, (१९०७), काशी।
५५. किशोरीलाल गोस्वामी : लीलावती वा आदर्श सती, (१९०३), काशी।
५६. किशोरीलाल गोस्वामी : कनक कुसुम वा मस्तानी, (वृन्दावन)।
५७. किशोरीलाल गोस्वामी : माधवी माधव वा मदनमोहिनी, (१९१६), वृन्दावन।
५८. किशोरीलाल गोस्वामी : लखनऊ की कब्र या शाही महलसरा, (१९१७), वृन्दावन।
५९. क्रिस्टॉफ मीनेस्स : हिस्ट्री ऑव द फीमेल सेक्स, (१९०८) लन्दन।
६० गुरुदत्त : स्वाधीनता के पथ पर, (१९४२), दिल्ली।
६१. चतुरसेन शास्त्री : नीलमणि, (१९४०), बनारस।
६२. जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, (१९४७) इलाहाबाद।
६३. जयशंकर प्रसाद : कंकाल, (१९१६), इलाहाबाद।
६४. जयशंकर प्रसाद : तितली, (सवत् १९९१), इलाहाबाद।
६५. ज्योफेरी मे : सोशल कंट्रोल ऑव सेक्स एक्सप्रेशन्स, (१९३०), लन्दन।
६६. जोसेफ किर्क फोल्सम : द फॉमिली, इट्स सोशियोलॉजी एण्ड सोशल सिकिएट्री, (१९३८), लन्दन।
६७. जोसेफ चिएरी : रियलिज्म एण्ड इमैजिनेशन, (१९६०), लन्दन।
६८. जे० एन० सरकार : लेटर मुगल्स, (१९५५), कलकत्ता।
६९. जे० रेम्जे म्योर : मेकिंग ऑव ब्रिटिश इंडिया, (१७५६ से १८५८ तक) १९०४, मैनचेस्टर।
७०. जैनेन्द्रकुमार : कमलिनी, (१८९१)।
७१. जैनेन्द्रकुमार : परख, (१९२९), बम्बई।
७२. जैनेन्द्रकुमार : कल्याणी, (१९३२), बम्बई।
७३. जैनेन्द्रकुमार : सुनीता, (१९३६), बम्बई।
७४. जैनेन्द्रकुमार : त्याग पत्र, (१९३७), बम्बई।
७५. टॉल्स्टॉय : ह्वाट इज आर्ट, (ऑ० यू० पी०)।
७६. टीकाराम सदाशिव तिवारी : पुष्पकुमारी, (१९१७), कलकत्ता।
७७ ठाकुर जगमोहनसिंह : श्यामा स्वप्न, (१८८८)।
७८. डब्ल्यू एच० हडसन : एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, (१९४९), लन्दन।
७९. डेविड डैचेज : द नॉवेल एण्ड द मॉडर्न वर्ल्ड, शिकागो।
८० ड्यू : द साइकोलॉजी ऑव वीमेन।

८१ थॉम्पसन एण्ड गैरेट राइज़ एण्ड फुलफिलमेंट आव ब्रिटिश रूल इन इंडिया, (१९३४), लन्दन।
८२ देवकीनन्दन खत्री चन्द्रकान्ता, (१८६१), बनारस।
८३ देवीप्रसाद शर्मा सुन्दर सरोजिनी, (१९०७), काशी।
८४ नामन वर्जिस राइटिंग फार लव ग्रार मनी, (१९४९), कनाडा।
८५ पर्सी लब्बाक द टैंक्नीक ऑव फिक्शन, (१९५४), लन्दन।
८६ पट्टाभि सीतारम्मया कांग्रेस का इतिहास, (१९४६), दिल्ली।
८७ पांडेय बेचन शर्मा उग्र जीजी जी, (१९४३), बनारस।
८८ पांडेय बेचन शर्मा उग्र दिल्ली का दलाल, (१९२७)।
८९ पांडेय बेचन शर्मा उग्र चन्द हसीनों के खतूत, (१९२७)।
९० पांडेय बेचन शर्मा उग्र बधुआ की बेटी, (१९२८)।
९१ पांडेय बेचन शर्मा उग्र शराबी, (१९३०)।
९२ पांडेय बेचन शर्मा उग्र सरकार तुम्हारी आंखों में, (१९३७)।
९३ पोप नौ जामन एप्लाइड ईयोलोनिक्स, लन्दन।
९४ प्रेमचन्द वरदान, (१९०२) बनारस।
९५ प्रेमचन्द प्रतिज्ञा बनारस।
९६ प्रेमचन्द प्रेमाश्रम (१९१८) बनारस।
९७ प्रेमचन्द सेवासदन, (१९१४), बनारस।
९८ प्रेमचन्द निर्मला, (१९२२-२३) बनारस।
९९ प्रेमचन्द कायाकल्प (१९२६), बनारस।
१०० प्रेमचन्द रंगभूमि, (१९२४), बनारस।
१०१ प्रेमचन्द कर्मभूमि, (१९३२) बनारस।
१०२ प्रेमचन्द गबन, (१९३०), बनारस।
१०३ प्रेमचन्द गोदान, (१९३६), बनारस।
१०४ बट्रेंड रसेल मैरेज एण्ड मॉरल्स, (१९२९), लन्दन।
१०५ बर्नार्ड डी० वोटो द वर्ल्ड ग्रॉव फिक्शन लन्दन।
१०६ बिनयकुमार सरकार क्रिएटिव इंडिया, (१९३७), लाहौर।
१०७ बोसांके लौजिक, (द्वितीय संस्करण)।
१०८ भगवती प्रसाद वाजपेयी पतिता की साधना, (१९३६), इलाहाबाद।
१०९ भगवती प्रसाद वाजपेयी त्यागमयी, (१९४२), इलाहाबाद।
११० भगवती प्रसाद वाजपेयी निमन्त्रण, इलाहाबाद।
१११ भगवती प्रसाद वाजपेयी दो बहनें, इलाहाबाद।
११२ मार्ग्रेट ई० कज़िन्स इंडियन वुमनहुड, (१९४१) इलाहाबाद।

११३. मार्ग्रेट सैन्जर : वुमन एण्ड द न्यू रेस, (१६२०), लन्दन।
११४. मोहनदास कर्मचन्द गाँधी : आत्मकथा, (१६५२), दिल्ली।
११५ मेह्यू : ऐजूकेशन ऑव इण्डिया, (१६२६), लन्दन।
११६. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू, (१६१४), इलाहाबाद।
११७. मेहता लज्जाराम शर्मा : सुशीला विधवा, (१६०७), इलाहाबाद।
११८. मेहता लज्जाराम शर्मा : धूर्त रसिकलाल, (१८६६)।
११९. मेहता लज्जाराम शर्मा : स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी, (१८६६)।
१२०. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श दम्पत्ति, (१६०४)।
१२१. मेहता लज्जाराम शर्मा : बिगड़े का सुधार, (१६०७)।
१२२. यशपाल : दादा कामरेड, (१६४१), लखनऊ।
१२३. यशपाल : देशद्रोही, (१६४३), लखनऊ।
१२४. यशपाल : दिव्या, (१६४५), लखनऊ।
१२५. यशपाल : पार्टी कामरेड, (१६४६), लखनऊ।
१२६. यशपाल : मार्क्सवाद, (लखनऊ)।
१२७. यशपाल : चक्कर क्लब, (१६५१), लखनऊ।
१२८. यशपाल : बात-बात में बात, (१६५४), लखनऊ।
१२९ रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, (आठवां संस्करण), बनारस।
१३०. रांगेय राघव : घरौंदे, (१६४१), बनारस।
१३१ रांगेय राघव : मुर्दों का टीला, (१६४६), इलाहाबाद।
१३२. राहुल सांकृत्यायन : जीने के लिए, (१६३६), छपरा।
१३३. राहुल सांकृत्यायन : सिंह सेनापति, (१६४२), इलाहाबाद।
१३४. राहुल सांकृत्यायन : जय यौधेय, (१६४४), इलाहाबाद।
१३५. ऋषभ चरण जैन तथा जैनेन्द्रकुमार : तपोभूमि, (१६३६), दिल्ली।
१३६. रिचार्ड चर्च : द ग्रोथ ऑव द इंगलिश नॉवेल, (१६५१), लन्दन।
१३७. रैल्फ फॉक्स : द नॉवेल एण्ड द पीपुल, लन्दन।
१३८ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (डॉ०) : आधुनिक हिन्दी साहित्य, (१६४८), इलाहाबाद।
१३९. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (डॉ०) : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, इलाहाबाद।
१४०. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (डॉ०) : हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ, बम्बई।
१४१. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (डॉ०) : उन्नीसवीं शताब्दी, (१६६३), इलाहाबाद।
१४२. वृन्दावन लाल वर्मा : गढ़कुण्डार, (१६२७), झाँसी।
१४३. वृन्दावन लाल वर्मा : कुण्डलीचक्र, (१६३२), झाँसी।
१४४. वृन्दावन लाल वर्मा : संगम, (१६३६), झाँसी।

१४५ वृन्दावन लाल वर्मा विराटा की पद्मिनी, (१९३६), झाँसी।
१४६ वृन्दावन लाल वर्मा लगन, (१९२९), झाँसी।
१४७ वृन्दावन लाल वर्मा प्रत्यागत, (१९२९), झाँसी।
१४८ वृन्दावन लाल वर्मा अचल मेरा कोई, (१९४६) झाँसी।
१४९ वृन्दावन लाल वर्मा झाँसी की रानी, (१९४६), झाँसी।
१५० वृन्दावन लाल वर्मा कचनार, (१९४७), झाँसी।
१५१ वायला क्लीन द फेमिनिन करेक्टर (१९४६), लन्दन।
१५२ वाई० एम० रीग व्हीदर वुमन ? (१९३८) बम्बई।
१५३ विलीस्टाइन गुडसेल द एजूकेशन ऑव वीमन, (१९२३) न्यूयार्क।
१५४ विश्वनाथ साहित्य दर्पण, (१९४४) कलकत्ता।
१५५ विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' माँ (१९२९), आगरा।
१५६ विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' भिखारिणी, (१९२९), आगरा।
१५७ शारलेट पी० गिलमन वुमन एण्ड इकोनामिक्स, (१९१५), लन्दन।
१५८ सर पी० ग्रिफिथ द ब्रिटिश इम्पैक्ट ऑन इण्डिया (१९५३), लन्दन।
१५९ सर जॉन कमिंग माडर्न इण्डिया ए कोऑपरेटिव सर्वे (१९३१), लन्दन।
१६० सी० जे० युग साइकोलाजिकल टाइप्स, (१९३३), लन्दन।
१६१ सिगमण्ड फ्रायड सिविलीजेशन एण्ड इट्स डिसकन्टेंट्स, (१९३०) लन्दन।
१६२ सिगमण्ड फ्रायड ड्रीम एण्ड सेक्स न्यूरीज, (१९४१), न्यूयार्क।
१६३ सिगमण्ड फ्रायड द साइकोलॉजी ऑव वीमेन, (१९३३), लन्दन।
१६४ सियारामशरण गुप्त गोद, (१९३२), झाँसी।
१६५ सियारामशरण गुप्त नारी, (१९३७), झाँसी।
१६६ सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' अलका (१९३३), लखनऊ।
१६७ सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' निरुपमा, (१९३६), लखनऊ।
१६८ ह्यूबट जे० मुल्लर मॉडर्न फिक्शन ए स्टडीज ऑव वल्यू लन्दन।
१६९ हेनरी जेम्स द आर्ट ऑव फिक्शन, (१९४८), न्यूयार्क।
१७० हैवलाक एलिस मन एण्ड वुमन, (१९३४), लन्दन।
१७१ हैवलाक एलिस स्टडीज इन द साइकोलॉजी ऑव सेक्स, छठी पोथी, (१९२८), लन्दन।

o